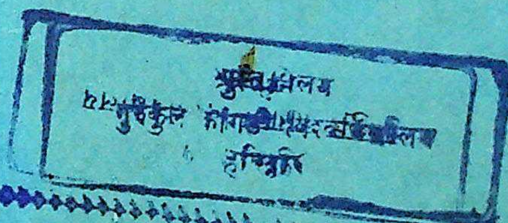
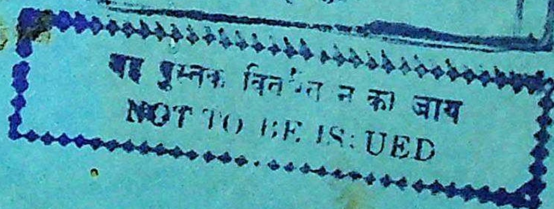
ALOCHNA HINDI

G K V




पुस्तकालय
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय
हरिद्वार


यह पुस्तक वितरित न की जाय
NOT TO BE ISSUED

सम्पादक शिवदानसिंह चौहान

आलोचना





...आन्दोलन की उपलब्धियाँ	शिवदानसिंह चौहान
...-आत्मदान की व्याकुलता	आचार्य हज़ारीप्रसाद द्विवेदी
	डॉ० नगेन्द्र
...न्यास	मधुरेश
...शेर और नागार्जुन	डॉ० बेचन
शेक्सपियर और मानव-प्रकृति	एग्नेस हेलर
भवभूति	जयकुमार 'जलज'
रंगमंच : एक माध्यम	कुँवरजी अग्रवाल
साहित्य-सर्जन और पाठक-वर्ग की रुचि	डॉ० गोपालराय
नये साहित्य में दुरूहता का प्रश्न	डॉ० परमानन्द श्रीवास्तव

...मासिक आलोचना

पूर्णांक ३१ नवांक १ जुलाई, १९६४

वार्षिक मूल्य १२) एक अंक का ३) प्रत्येक अंक रजिस्ट्री से पाने के लिए १४)

सूची

आलोचना

सम्पादकीय

...आज की कहानी : आन्... ...धियाँ

'आज की कहानी' यानी स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद की (हिन्दी) कहानी। 'नई कहानी' उसे मैं इसलिए नहीं पुकार रहा, क्योंकि राजेन्द्र 'यादव' की तरह मुझे भी अहसास है कि "चूँकि हर युग की कहानी 'नई' होती है इसलिए पिछले दशक की कहानी को 'नई कहानी' नाम देना आगे जाकर अध्येताओं के लिए ग़लतफ़हमी पैदा कर सकता है।" और इसी अहसास के कारण मैं उनसे इस बात में सहमत नहीं हूँ कि चूँकि आज की कहानी की "इस धारा को कोई-न-कोई नाम तो देना ही होगा" इसलिए और किसी उपयुक्त नाम के अभाव में उसे 'नई कहानी' कहकर ही पुकारा जाय। ऐसी किसी विवशता का तर्क-संगत आधार नहीं दिखाई देता। बल्कि, इस विवेकपूर्ण अहसास के बावजूद आज की कहानी को 'नई कहानी' का नाम देने का जो बहुप्रचारित दुराग्रह चलाया गया है, उसने आलोचकों और पाठकों से ज़्यादा स्वयं 'नई कहानी' नाम के विज्ञापक रचनाकारों के लिए जटिल उलझनें पैदा कर दी हैं।

साहित्य और कला में अब तक प्रवृत्यात्मक नामकरण की ही प्रथा रही है, जैसे यथार्थवाद और कल्पनावाद (रोमान्टिसिज़्म) जो मनुष्य की सहज, वस्तुनिष्ठ और भावनिष्ठ सौन्दर्य-दृष्टियों पर आधारित हैं, अथवा प्रतीकवाद, प्रयोगवाद आदि, जो कला-निर्माण की किसी विशिष्ट पद्धति को रेखांकित करते हैं या अन्त में प्रगतिवाद और रूपवाद (कलावाद) जो साहित्य सम्बन्धी दो दार्शनिक दृष्टिकोणों के सूचक हैं। इन सौन्दर्य-दृष्टियों और रचना-पद्धतियों में से किसी को अपने-आप में 'नये' या 'पुराने' की कोटि में रखना संभव नहीं है, क्योंकि रचना-प्रक्रिया में उनकी विवृत्ति आदिकाल से होती आई है और किसी देश-काल के विशिष्ट सन्दर्भ में ही नये उभरते सत्य या पुराने रूढ़िवादी जीवन-मूल्यों और मान्यताओं का प्रतीक मानकर उनका समर्थन या विरोध किया जाता रहा है। इस ऐतिहासिक अनुभव का तिरस्कार करके आज की कहानी को 'नई कहानी' नाम देने का परिणाम यह हुआ है कि उसके विश्लेषण और मूल्यांकन का कोई सामान्य आधार नहीं रहा।

'नई कविता' और उससे पहले 'प्रयोगवादी कविता' वालों ने भी यह ग़लतफ़हमी पैदा करने की कोशिश की थी, ताकि 'प्रयोगों' की विशिष्टता, प्रतीकों

और बिम्बों की नवीनता पर ही ध्यान दिया जाय, कथ्य या विचार-वस्तु को जीवन वास्तव के व्यापक सन्दर्भों में रखकर उसका मूल्यांकन न किया जाय। सूक्ष्म संकेतों की परिमार्जित भाषा में यह बात विभिन्न ढंगों से कही और समझायी गई। 'युग-सत्य' को सार्थक और सशक्त अभिव्यक्ति देने योग्य भाषा गढ़ने और संवारने के प्रयोग प्रतिभाशाली लेखक आदिकाल से करते आये हैं, इसलिए 'प्रयोग' से किसी भी संवेदनशील कवि को कोई आपत्ति नहीं थी, और स्वस्थ प्रगतिशील चेतना तथा रुग्ण मानस के आत्मवादी, कुण्ठाग्रस्त दोनों प्रकार के कवियों ने 'प्रयोग' की इस नई धारा में समान रूप से क्रियात्मक योग दिया। लेकिन धीरे-धीरे 'प्रयोगवाद' और बाद में 'नई कविता' ने एक आन्दोलन का रूप ले लिया और एक विशेष प्रकार की समाजद्रोही और अनास्थावादी मानसिकता से इस आन्दोलन को संबद्ध करके स्वस्थमना प्रगतिशील कवियों को इस आन्दोलन के प्रचार-वृत्त से बहिष्कृत कर दिया गया। इस आन्दोलन के प्रवक्ताओं ने ईलियट, पाउण्ड और दूसरे पाश्चात्य कवियों से प्रेरणा लेकर प्रयोगवाद के सूत्र गढ़े और आरम्भ से ही काव्य की हर भारतीय परम्परा का तिरस्कार किया—केवल इसलिए नहीं कि उनकी भाषा, अभिव्यक्ति के प्रकार, बिम्ब, प्रतीक और उपमाएं बहुत घिसी-पिटी और निरर्थक हो गई थीं, बल्कि इसलिए भी कि उनमें अन्तर्धारा के रूप में प्रवाहित जीवन के प्रति आस्था और आशा का स्वर उन्हें अपने विशिष्ट गुट के समाजवाद-विरोधी जीवन-दर्शन और व्यक्तिवादी मनोवृत्ति के प्रतिकूल लगा। खैर, नई कविता का यह आन्दोलन जितने दर्प से नगाड़े बजाता हुआ उठा था, वह एक दशक के अन्दर ही एक दयनीय मौन चीत्कार के साथ विस्मृति के गर्त में विलीन हो गया, अर्चिन-कट के बालों वाले फैशन की तरह जिसने सुन्दर और स्वस्थ स्त्रियों को भी एक विक्षिप्त और अकाम्य रूप दे दिया था। नई कविता के आन्दोलन की उपलब्धि? हिन्दी कविता से सामान्य पाठक की भयंकर विरुचि और उसकी काव्य-संवेदना की विकृति। कहने का यह मतलब नहीं कि इस बीच प्रयोगवादी ढंग की श्रेष्ठ और सफल कविताएँ नहीं लिखी गईं, लेकिन जितने बड़े दावे किये गए उनके मुक़ाबले में श्रेष्ठ प्रयोगवादी या 'नई' कविताओं की फ़सल नगण्य रही और नई सामाजिकता, युग-सत्य आदि को अभिव्यक्ति देने के जो वादे किये गए, वे सामाजिकता और युग-सत्य को झुठलाने के रूप में ही अक्सर पूरे हुए। स्फूर्ति, अन्तर्दृष्टि और चेतना को गहराई देने की जगह उन्होंने अवसाद, कुंठा, व्यर्थता और अनास्था ही पैदा करने की कोशिश की। फिर भी, इस प्रसंग में इस तथ्य को रेखांकित करने की ज़रूरत है कि प्रगतिवादी आन्दोलन की तरह प्रयोगवादी आन्दोलन भी (काव्यगत प्रयोग नहीं) आधुनिक युग के उस विश्व-व्यापी संघर्ष का अंग था जो समाजवादी और पूंजीवादी शक्तियों और जीवन-दर्शनों के बीच छिड़ा हुआ है। दोनों साहित्य-दृष्टियों में विरोध का आधार व्यक्तिगत नहीं था, न ये आन्दोलन कुछ व्यक्ति-लेखकों को साहित्यिक मान्यता प्रदान कराने के

निमित्त उनके कवित्व की 'अपूर्व विशिष्टताओं' के मनगढ़न्त और स्वेच्छाचारी दावों से शुरू हुए थे।

हर नया साहित्यिक आन्दोलन अपनी पूर्ववर्ती परम्परा से विद्रोह करता है, किन्तु साथ ही उस परम्परा की श्रेष्ठ और मूल्यवान उपलब्धियों का अपने अन्दर समाहार करके उसका विस्तार भी करता है। सामन्ती नैतिक भाव-बोध की संकीर्णताओं में क़ैद रीतिवादी कविता के विरुद्ध छायावाद का विद्रोह, अगर ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में देखा जाय तो, वास्तविक अर्थ में मौलिक और युगान्तरकारी था। लेकिन व्यक्ति की महत्ता का उद्घोष करते हुए भी छायावाद ने भावना और विचार के स्तर पर भक्ति-काव्य की जनवादी परम्पराओं का तिरस्कार नहीं किया। प्रगतिवाद ने छायावादी काव्य में बढ़ती हुई असामाजिक व्यक्ति-निष्ठा और पराजयवाद की प्रवृत्तियों के विरुद्ध विद्रोह किया, लेकिन साथ ही प्रसाद, पंत, निराला के काव्य के मूलतः मानववादी और मुक्तिकामी स्वर को पूरा समर्थन दिया और उसे हिन्दी साहित्य की अक्षुण्य विरासत के रूप में स्वीकारा। इसके विपरीत एक आन्दोलन के रूप में प्रयोगवाद और बाद में नई कविता ने पाश्चात्य की मानवद्रोही कला-प्रवृत्तियों के प्रभाव में समूची भारतीय साहित्य-परम्परा का तिरस्कार करके अपने को एकदम अभूतपूर्व और विशिष्ट सिद्ध करने की कोशिश की। इस आन्दोलन के संचालकों ने औद्धत्य से भरा कुछ ऐसा रुख अपनाया मानो उनसे पहले के सभी कवि और साहित्यकार मूर्ख थे, 'आरोपित आदर्शवाद' की दलदल में फंसे दयनीय प्राणी थे, जिससे वे 'यथार्थ' को खुली आँखों से देखने में असमर्थ रहे और चूंकि वे कला की 'रचना-प्रक्रिया' से अनभिज्ञ थे, इसलिए उनकी कविता सही मानों में कविता नहीं है, वह इतिहास, पुराण, दर्शन, नैतिक-उपदेश समाजशास्त्र आदि और चाहे जो कुछ हो। परम्परा का इस तरह सम्पूर्ण तिरस्कार हमारे इतिहास में पहली बार किया गया। फिर भी, जैसा मैं पहले कह चुका हूँ, इस 'विद्रोह' का मुख्य उद्देश्य कुछ व्यक्तियों को साहित्यिक मान्यता दिलवाना नहीं था, बल्कि साहित्य-जगत् में ऐसी उद्धत व्यक्तिवादी कुंठा और मानवद्रोही अनास्था का वातावरण पैदा करना था, जिसमें नई पीढ़ी के लेखकों का सहज मानवीय भाव-बोध इतना विकृत, आत्मपरक और क्षुद्र बन जाय कि युग के व्यापक प्रश्नों और जन-जीवन के यथार्थों के प्रति उनका मन एकदम असंवेदनशील हो जाय और एक संकीर्ण अस्तित्ववादी भावना के वशीभूत होकर वे सभी सामाजिक लक्ष्यों, प्रगतिशील जीवनादर्शों और मानव-मूल्यों को झूठा और व्यक्ति-स्वातन्त्र्य पर बाहर से आरोपित बन्धन के रूप में समझने लगें। संगठित आन्दोलन के रूप में प्रगतिवाद और प्रयोगवाद चाहे विघटित हो गये हों, लेकिन वे आधुनिक युग की जिन दो परस्परविरोधी विचार-धाराओं का प्रतिनिधित्व करते हैं, वे आज भी उतनी ही सक्रिय हैं और उनका संघर्ष भी उतना ही गहरा है। दोनों ने अपने-अपने ढंग की मानसिकता को जन्म दिया है और कोई पुराना या नया लेखक यह दावा नहीं कर सकता कि वह इनमें से किसी भी प्रवृत्ति से प्रभावित नहीं है।

इसमें सन्देह नहीं कि स्वतन्त्रता के बाद व्यक्तिनिष्ठ प्रयोगवादी विचार-दर्शन से हमारा कथा-साहित्य भी एक सीमा तक प्रभावित हुआ और अनेक आत्मकथात्मक और नीरस उपन्यास लिखे गए। लेकिन जीवन-यथार्थ को व्यापक सामाजिक सन्दर्भ में प्रस्तुत करने की अनिवार्यता ने हमारे कथाकारों को अधिक देर तक गुमराह नहीं होने दिया और वे जीवन के बड़े कैनवास को चित्रित करने की ओर प्रवृत्त हुए। अनेक सशक्त और कलात्मक कृतियाँ सामने आईं। हिन्दी उपन्यास ने रवीन्द्र, शरत् और प्रेमचन्द की परम्परा को एक नये बौद्धिक और कलात्मक स्तर पर नया रूप-संस्कार और गहराई दी। कहानीकारों ने भी नई सामाजिक दृष्टि से प्रेरित अनेक श्रेष्ठ कहानियाँ रचीं। इनमें पुरानी और नई दोनों पीढ़ियों के लेखकों का योगदान था।

लेकिन प्रयोगवाद और नई कविता के आन्दोलनों ने परम्परा का तिरस्कार करके अपनी काव्य-शैली की विशिष्टता और प्रगतिशील विचारधारा और सामाजिक दायित्वों के प्रति उदासीन रहने की जिस प्रवृत्ति का इतने ज़ोर-शोर से प्रचार किया था, उसकी तात्कालिक सफलता ने स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद की पीढ़ी के कथाकारों और आलोचकों को एक प्रकार से चकाचौंध कर दिया और उन्हें 'आत्माभिव्यक्ति' का ही नहीं बल्कि साहित्य में जल्द-से-जल्द 'आत्म-प्रतिष्ठा' का एक प्रोग्राम भी सुझा दिया। 'नई कहानी' का मंच तैयार करने की शुरुआत हुई, जो संभवत: आरंभ में 'नई कविता' के मंच के मुक़ाबले में खड़ा किया गया था, ताकि युग के विचार-संघर्ष में तरुण कवियों की तरह तरुण कथाकार भी लक्ष्य-भ्रष्ट न हो जायं। इसके अलावा राकेश, रेणु, कमलेश्वर, राजेन्द्र 'यादव', शिवप्रसाद-सिंह, मार्कण्डेय, अमरकान्त और कई दूसरी तरुण रचनात्मक प्रतिभाएँ सामने आ चुकी थीं। उनकी कहानियों में व्यक्तिगत वैशिष्ट्य के साथ-साथ, कुछ सामान्य शिल्पगत विशेषताएँ भी थीं, और भाषा, अभिव्यक्ति और 'एप्रोच' में भी कुछ नवीनता थी। ऐसा होना स्वाभाविक था। अगर वे प्रेमचंद और यशपाल या जैनेन्द्र और अज्ञेय की शैली और कहानी-शिल्प की आवृत्ति ही करते तो निश्चय ही उनकी कहानियाँ मूल्यवान न होतीं और न कथाकार के रूप में उनके व्यक्तित्वों का विकास होता। दरअसल यह 'नवीनता' बदलते हुए सामाजिक परिवेश के सन्दर्भ में स्वाभाविक विकास-प्रक्रिया का परिणाम थी, जिस तरह यशपाल, मंटो और कृशनचन्दर की कहानियाँ प्रेमचन्द और सुदर्शन की कहानियों से भिन्न और नये ढंग की थीं। लेकिन 'नई कविता आन्दोलन' की देखा-देखी नामवरसिंह ने सन् ५० के बाद की कहानी की शैली-शिल्प-भाषा और 'एप्रोच' की 'नवीनता' को समझाने के लिए 'नई कहानी' का नया सौन्दर्य-शास्त्र और उसकी नई परिभाषा तराशने का ज़िम्मा लिया। 'नयी कहानी' का जब मंच तैयार हो गया और उसे नई परिभाषाओं के शाब्दिक वन्दनवारों से सजा दिया गया तो मंच पर कब्ज़ा जमाने के लिए आपस में खींचतान शुरू हुई। जिन्हें ग्राम्य जीवन का ज़्यादा अनुभव था और 'रेणु' के 'मैला आँचल' की अभूतपूर्व सफलता से सोच बैठे थे कि 'आँचलि-

(शेष पृष्ठ १४५)

हजारीप्रसाद द्विवेदी

सिसृक्षा का स्वरूप—आत्मदान की व्याकुलता

'मालविकाग्निमित्र' में एक प्रसंग में कालिदास ने कलाकार की असफलता का एक कारण 'समाधि की शिथिलता' को माना है। किसी चित्रकार ने मालविका का चित्र बनाया था। राजा ने उसे देखा था और मालविका के सौन्दर्य से वह प्रभावित हुआ था। पर उसके मन में संदेह था कि वस्तुतः उसे चित्र में मालविका का रूप जैसा दीख रहा है वैसा वास्तव में है या नहीं। उसे इस बात की सम्भावना अधिक दीखी थी कि चित्रकार ने वास्तविक रूप को अधिक कमनीय बना दिया होगा। परन्तु जब एक दिन सचमुच ही मालविका दीख गई तो उसे अपने हृदय का सन्देह दूर करने का मौका ही नहीं मिला, यह भी लगा कि वस्तुतः वह उल्टे ढंग से सोच रहा था। मालविका वास्तव में जितनी सुन्दर थी उतनी सुन्दरता चित्रकार नहीं दिखा सका था। राजा को लगा कि चित्रकार से ग़लती हो गई है। क्यों वह ठीक नहीं बना सका? क्यों वह चित्रणीय की कान्ति को यथोचित मात्रा में अपनी कृति में नहीं निखार सका? राजा ने सोचा कि ज़रूर चित्र बनाते समय चित्रकार की समाधि शिथिल हो गई थी। समाधि की शिथिलता ही चित्र को ठीक-ठीक न बना सकने का कारण हो सकता है—

चित्रगतायामस्यां कान्तिविसंवादि मे हृदयम्।
सम्प्रति शिथिलसमाधिं मन्ये येनेयमालिखिता॥

इस प्रकार का संकेत कालिदास ने अन्यत्र भी किया है। दिलीप भीतर और बाहर दोनों ओर से इतने सुन्दर और महान् थे कि कवि को यह सोचने के लिए बाध्य होना पड़ा कि जब विधाता ने इस भव्य रूप का निर्माण किया होगा तो उसने ऐसी समाधि धारण की होगी जिसमें बाहरी चेतना प्रक्रिया सम्पूर्ण रूप से अन्तर्मुखी हो गई होगी। इसे महाभूत समाधि कहते हैं। ऐसी महाभूत समाधि के बिना इतना भव्य रूप कैसे बनाया जा सकता है! **'तं वेधा विदधे नूनं महाभूत समाधिना!'** सुन्दर रूप का निर्माण बिना समाधि के नहीं हो सकता, ऐसा कालिदास का निश्चित मत है। विधाता को भी जब कुछ अच्छा बनाना होता है तो समाधि धारण करनी होती है।

आधुनिक सौन्दर्यशास्त्रियों ने एक शब्द का बहुधा व्यवहार किया है—'कन्सेन्ट्रेशन', अर्थात् चित्त को समस्त बाह्य विषयों से निवृत्त कर अन्तर्मुख या केन्द्राभिमुख करना। इसका हिन्दी प्रतिशब्द 'संकेन्द्रण' या केन्द्राभिमुखीकरण हो सकता है। पुराने योगशास्त्रियों ने इससे मिलता-जुलता, किन्तु ईषद्भिन्नार्थक, एक अन्य शब्द

का व्यवहार किया है—'एकाग्रता'। समाधि के लिये चित्त की एकाग्रता आवश्यक है, पर एकाग्रता ही समाधि नहीं है। एक वस्तु का ध्यान, दूसरी की धारणा और तीसरी की समाधि से योग नहीं सिद्ध होता। पातंजल योग-सूत्र में कहा है कि एक ही वस्तु का ध्यान, उसी की धारणा और उसी पर चित्त को समाहित करने से पूरा योग सिद्ध होता है। उसी को समाधि कहा जा सकता है। संकेन्द्रण ध्यान से सिद्ध हो सकता है। उसमें 'धारणा' का रहना आवश्यक नहीं होता। निद्रा की अवस्था में भी एक प्रकार का संकेन्द्रण होता है परन्तु वह प्रयत्नसाध्य नहीं होता। शरीर जब क्लान्त हो जाता है—अर्थात् बाह्य परिस्थितियों से संघर्ष करते-करते उसकी शक्ति श्रान्त हो जाती है तो वह कुछ देर के लिए चेतना को उस संघर्ष से हटा लेता है, नई ऊर्जा की उपलब्धि के लिए। इसे ही साधारण बोलचाल की भाषा में निद्रा कहा जाता है। यह प्रकृतिदत्त विधान है। इस प्रकृतिदत्त विधान को संस्कृति नहीं कहा जा सकता। प्रकृति के अवगमन को विकृति कहा जाता है, उद्गमन को संस्कृति। समाधि संस्कृति है। उत्तम संस्कृति प्रयत्न-साध्य होती है। समाधि में भी प्रयत्न होता है। कैसा प्रयत्न ?

निद्रा मानसिक निश्चिन्तता से आती है। मन में कहीं भी बाह्य प्रकृति के साथ या मानव-निर्मित सामाजिक विधि-विधान के साथ (संक्षेप में, वातावरण के साथ) संघर्ष की रंचमात्र भी सम्भावना हो तो निद्रा अधूरी रह जाती है। भारतीय शास्त्रकारों ने एक आदर्श अवस्था की कल्पना की है जिसमें मन सब प्रकार की चिन्ताओं से मुक्त होता है। उस अवस्था की निद्रा का नाम 'सुषुप्ति' दिया गया है। सुषुप्ति अर्थात् अच्छी नींद। सुषुप्ति दुर्लभ अवस्था है। जंगली जन्तुओं को मनुष्य की तुलना में बहुत कम नींद आती है क्योंकि बाह्य प्रकृति के संघर्ष की चिन्ता उन्हें सदा सताती रहती है। मनुष्य अपेक्षाकृत अधिक सोता है। पर आदिम अवस्था में वह भी इतना नहीं सो सकता होगा। जिस प्रकार अन्य वन्य-जन्तु एक मामूली खटके-से भी जग जाते हैं, बहुत-कुछ उसी प्रकार। प्रयोगों से देखा गया है कि किसी बात के लिए सावधान रहने का दृढ़ संकल्प मन में रखकर सोने पर वह संकल्प अब भी मनुष्य के चित्त में काम करता रहता है। हाथ में कोई वस्तु लेकर यदि यह संकल्प करके सोया जाय कि इसे किसी भी हालत में छोड़ना नहीं है तो पूर्ण निद्रा में भी मुट्ठी ज़ोर से बँधी ही रहती है। चार बजे उठ जाने का संकल्प लेकर यदि सोया जाय तो घड़ी चाहे धोखा दे जाय सोने वाला चार बजे अवश्य उठ जाता है। इसका मतलब यह हुआ कि इन्द्रियार्थों से इन्द्रियों को समेटकर संकेन्द्रित करने के बाद भी संकल्प-शक्ति काम करती रहती है। किसी एक ही बात पर मन को सावधान बनाए रखने की दृढ़ इच्छा का नाम संकल्प है। 'दृढ़ संकल्प' में दृढ़ विशेषण, असल में, व्यर्थ ही है। दृढ़ इच्छा को ही संकल्प कहते हैं, उसे दृढ़ विशेषण से विशिष्ट करने की ख़ास ज़रूरत नहीं है। परन्तु सभी इच्छाएँ संकल्प नहीं होतीं। शिथिल या ढीलमढाल इच्छाएँ सदा मन में बनी रहती हैं। इच्छा किसी-न-किसी प्रकार के अभाव बोध की आनुषंगिक प्रतिक्रिया है। निद्राकाल में जब मनुष्य बाह्य प्रकृति के संघर्ष से विरत होकर 'निश्चिन्त' होता है तो भी मन में शिथिल इच्छाएँ शिथिल चिन्ताओं को उत्पन्न

करती रहती हैं और मनुष्य का सर्जक चित्त काल्पनिक मूर्तियों को गढ़कर 'निश्चिन्त' बनने का भान करता रहता है। इसी को स्वप्न कहते हैं। सभ्यता के विकास के साथ मनुष्य बाह्य प्रकृति के संघर्ष से तो निश्चिन्त हो जाता है पर साथ ही आत्मनिर्मित सामाजिक विधि-निषेधों के संघर्ष में अधिक लिप्त रहने लगता है। सभ्य मानव अन्य जन्तुओं की तुलना में अधिक सोता है और अधिक सपना भी देखता है। यहाँ प्रकृत इतना ही है कि निद्रावस्था में जो अयत्नसिद्ध संकेन्द्रण होता है उसमें दो मोटी अवस्थाओं की कल्पना की जा सकती है, एक आदर्श निद्रा की स्थिति—सुषुप्ति और एक अस्पष्ट, अधूरी अधकचरी नींद की स्थिति—स्वप्न। पुराने आचार्यों ने दो और स्थितियों की कल्पना की है जो जानबूझकर निदेशित किये गए संकेन्द्रण से उत्पन्न होती हैं। इसमें मनुष्य जागता रहता है, चैतन्ययुक्त होता है। इस संकेन्द्रण को समाधि कहते हैं। सुषुप्ति जिस प्रकार एक दुर्लभ आदर्श निद्रा की स्थिति है उसी प्रकार निर्विकल्पक समाधि भी दूसरे छोर पर एक दुर्लभ आदर्श समाधि की स्थिति है परन्तु स्वप्न जिस प्रकार मन की शिथिल इच्छाओं के द्वारा ग्रस्त होता है उसी प्रकार दूसरे किनारे पर सविकल्पक समाधि होती है जिसमें मन इच्छाओं से पूर्णतः मुक्त नहीं होता। चेतना की एक छोर पर स्वप्न और सुषुप्ति हैं और दूसरी छोर पर सविकल्पक और निर्विकल्पक समाधि।

आजकल भारतीय भाषाओं में एक प्रशंसात्मक शब्द चल पड़ा है—स्वप्न-द्रष्टा। कवियों और कलाकारों को तो स्वप्नद्रष्टा कहा ही जाता है। समाज और राष्ट्र के निर्माताओं को भी स्वप्नद्रष्टा कहा जाता है। जहाँ तक मेरी जानकारी है, यह शब्द इस प्रकार के प्रशंसार्थक रूप में नया ही चला है। इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि इसका प्रयोग लाक्षणिक अर्थ में होता है, परन्तु लाक्षणिक प्रयोग किसी-न-किसी प्रकार के साम्य या अर्थयोग की अपेक्षा रखता ही है। आधुनिक शिक्षित लोग अवश्य ही स्वप्न में और कलाकारों के चिन्तन में कुछ साम्य देखते हैं। अतियथार्थवादी या सुर-रियलिस्ट कलाकारों में तो यह प्रवृत्ति भी दिखाई देती है कि जिस प्रकार स्वप्न में विचारमूर्तियों या बिंबों की उन्मुक्त योजना (फ्री एसोसिएशन) होती है उसी प्रकार का कुछ कविता में भी किया जा सकता है। सौभाग्यवश आजकल स्वप्नों का अध्ययन-मनन बड़ी गम्भीरता से हुआ है और तथाकथित उन्मुक्त योजना के बारे में हमें अपेक्षाकृत अधिक विश्वसनीय सामग्री उपलब्ध है। कला और स्वप्न के ऊपरी साम्य की तुलना में अन्तर्निहित गम्भीर भेद का सन्धान पाया गया है। कालिदास कलाकार की जिस समाधि की बात करते हैं उसे अब हम कदाचित ज़्यादा ठीक समझने की स्थिति में हैं।

आधुनिक समय में जिन लोगों ने स्वप्नों का रहस्य उद्घाटन किया है या करने का प्रयास किया है उनमें सिगमण्ड फ्रायड अग्रगण्य हैं। उन्होंने और उनके अनुयायियों ने रहस्यपूर्ण स्वप्न-लोक की बहुत-सी बातें और उनकी व्याख्या दी हैं। यद्यपि सभी वैज्ञानिक निष्कर्षों के समान इनके निष्कर्ष भी अन्तिम नहीं हैं और अन्यान्य सिद्धान्तों के समान ही इनके सिद्धान्त (थीसिस) भी सिद्धान्त-कल्प (हाइपोथिसिस)

ही हैं तथापि इनकी मान्यताएँ अब तक के अटकलपच्चू निष्कर्षों की तुलना में अधिक ग्राह्य और युक्तिसंगत हैं। फ्रायड के निष्कर्षों ने कवियों और कलाकारों की कृतियों को स्वप्न के नियमों से व्याख्येय समझने की प्रवृत्ति को बढ़ावा दिया है। आज के अनेक कला-सम्प्रदायों पर फ्रायड का प्रभाव पड़ा है। परन्तु 'उन्मुक्त योजना' की परिकल्पना का जो प्रभाव इन कलाकारों पर पड़ा है उसे देखकर स्वयं फ्रायड भी कदाचित् चकित हो जाते। स्वप्न में विचार-मूर्तियों की या बिम्बों की जिस उन्मुक्त योजना की बात कही जाती है, उसका अर्थ इन कलाकारों ने समझा है प्रयोजनों का अभाव-बोध। यह अचरज में डाल देनेवाला अर्थ है। कलाकृति प्रयोजन का अभाव-बोध बिल्कुल नहीं है, तथाकथित 'स्थूल प्रयोजनों के अतीत' कहा जाता तो यह बात मानी भी जा सकती थी। हमने पिछले प्रकरणों में देखा है कि शब्द का अर्थ, प्रयोजन ही है। संस्कृत में अर्थ और प्रयोजन प्रायः समानार्थक शब्द हैं। जानकार लोगों ने बताया है कि फ्रायड, युंग, मैक-कर्डी आदि मनोविज्ञानियों के विविध प्रयोगों से स्पष्ट रूप से सिद्ध हुआ है कि स्वप्न की अवस्था में ऊपर-ऊपर से अनमिल-सी दिखनेवाली विचारमूर्तियों या बिम्बों के अन्तराल में अवचेतन के प्रयोजनों की माँग की पूर्ति का कठोर नियम काम कर रहा है। वह इतना दृढ़ और कठोर है कि कई मनोविज्ञानियों ने इन्हें लौह-नियम (आयरन लॉ) नाम दिया है। सहजात आदिम मनोवृत्तियों के दुर्दम हाँके का ही यह परिणाम है कि चित्त में कठोर गाँठें पड़ जाती हैं जिन्हें मनोविश्लेषण-शास्त्र के पंडित 'कम्प्लेक्स' या मनोग्रन्थि कहा करते हैं। स्वप्नावस्था में विचार-सम्मूर्तन की प्रक्रिया इन गाँठों के भीतर से गुजरने वाली सँकरी गलियों के रास्ते ही चला करती है। इन्हें 'उन्मुक्त' इसलिए नहीं कहा जाता कि वे प्रयोजनबद्ध नहीं हैं बल्कि इसलिए कहा जाता है कि वे मनुष्य-निर्मित सामाजिक विधि-निषेध के बन्धनों से मुक्त हैं। जिन कलाकारों ने इसका अर्थ प्रयोजनाभाव समझा है उन्होंने बिस्मिल्ला ही ग़लत बोल दिया है।

वस्तुतः मनोविश्लेषण शास्त्रियों के प्रयोगों से यही सिद्ध हुआ है कि स्वप्नावस्था में भी इच्छा-शक्ति काम करती ही रहती है। अवश्य ही वह शिथिल या सुप्त-भाव से काम करती है। उसे बलपूर्वक निश्चित दिशा में ले जाने का चेतन प्रयत्न नहीं होता। लेकिन उसमें रचनात्मक शक्ति भी विद्यमान रहती है, उसके प्रयत्नों का प्रयोजन भी होता है—और उसमें अन्यथाकरण की शक्ति भी होती है। सचमुच ही उनमें वे सारी बातें होती हैं जो कलाकृति की रचना की अवस्था में होती हैं। फ़र्क़ इतना अवश्य होता है कि वे (१) चेतन संकल्पजन्य नहीं होतीं (२) एकाग्रता के अभाव से वे बिखरी रहती हैं, (३) और व्यक्तिगत होती हैं, सामाजिक नहीं। कहने में यह अन्तर थोड़ा ही दिखता है पर असल में यह चित्र का एकदम दूसरा पीठ है।

संकल्पित चिन्तन, चेतन चित्त का धर्म है, असंकल्पित अवचेतन का। ध्यान और धारणा की एकता से रूपायित होकर और चेतन-संकल्प से चालित होकर जो एकाग्रता सिद्ध होती है वही समाधि है। धारणा और ध्यान दोनों का होना आवश्यक है। ध्यान से अनुगमित और एकाग्रता की ओर उन्मुख धारणा जब भाषा के माध्यम

से व्यक्त होती है तो शास्त्र का रूप ग्रहण करती है। किन्तु भाषा, जैसा कि पहले ही बताया गया है व्यक्ति-चित्त की देन (मनगढ़ंत) नहीं है, समष्टि चित्त की सामान्य अनुभूतियों की काम-चलाऊ अभिव्यक्ति है। जब समष्टि-चित्त द्वारा उपलब्ध वास्तविकता व्यक्ति चित्त के लिए ग्राह्य या उपभोग्य नहीं हो पाती तो फिर संवेदनशील व्यक्ति ज्ञात तथ्यों, ज्ञात नियमों और ज्ञात भावनाओं को नये सिरे से पुनर्व्यवस्थापन करके कुछ नया रचने का प्रयास करता है। ऐसे प्रयत्न क्रमशः शास्त्र, विज्ञान और कला को जन्म देते हैं। कालिदास ने एक प्रसंग में ऐसे प्रयत्न को 'यथा प्रदेश विनिवेशन' कहा है। यहाँ उनके द्वारा प्रयुक्त शब्द को थोड़ा और संक्षिप्त करके ग्रहण कर लिया जा रहा है। हम आगे इसे 'विनिवेशन' कहेंगे। अर्थात् ज्ञात तथ्यों, ज्ञात नियमों और भावनाओं के पुनर्व्यवस्थापन द्वारा निर्माण करने के कौशल को हम 'विनिवेशन' कहेंगे। विनिवेशन में सर्वत्र समष्टि चित्त द्वारा उपलब्ध वास्तविकता को अधिक ग्राह्य, अधिक उपयोगी और अधिक सुन्दर बनाने की प्रच्छन्न इच्छा काम करती रहती है। संकल्पित चिन्तन की भाँति ही संकल्पित भावना भी चेतन चित्त का धर्म है। भावनाओं को नए सिरे से सजाकर अधिक सुन्दर बनाने के संकल्प से ही कला का जन्म होता है। भावनाएँ रूप को आश्रय किए बिना व्यक्त नहीं हो सकतीं—स्वप्न में भी नहीं। इसलिए कविता में वे शब्द-प्रतीकों और दृश्य कलाओं में रूप-प्रतिमानों के सहारे व्यक्त होती हैं। परन्तु भावनाओं को सजाने मात्र से कलाकृति नहीं बन जाती। उसमें एक ऐसी गति होनी चाहिए जो उसे समग्रता प्रदान करे और अन्य व्यक्तियों के चित्त में प्रवेश करा सके। जो गति या वेग यह काम करती है उसी का नाम छन्द है। और भी संक्षेप में स्पष्ट रूप से कहा जाय तो ध्यान और धारणा की एकता से रूपायित, नियत संकल्प द्वारा चालित, शब्द-प्रतीकों या रूप-प्रतिमानों के सहारे अभिव्यक्त भावनाओं का विनिवेशन जिस अन्तःप्रवाहित समग्रताविधायी और सम्प्रेषणधर्मी वेग से मूर्त होता है वही छन्द है। इसके बिना कलाकृति गतिहीन, प्राणहीन, पंगु सजावट मात्र बनी रह जाती है। स्पष्ट है कि यह स्वप्न की नहीं, समाधि की अवस्था में ही सिद्ध होता है। कलाकृति रचना के प्रयत्नशील कलाकार जिस समाधि की अवस्था में पहुँचता है वहाँ छन्द पूर्णरूप से क्रियाशील होता है। स्वप्न में वह क्रियाशील नहीं होता क्योंकि वहाँ चिन्तन या भावन संकल्पित नहीं होता, ध्यान और धारणा की एकता नहीं होती। इसीलिए वहाँ समग्रता तो क्या, एकाग्रता का भी बोध नहीं होता। स्वप्नद्रष्टा 'सजग' नहीं होता, सजगता संकल्प का प्रथम सोपान है। कालिदास ने कलाकार की असफलता का कारण 'समाधि-शैथिल्य' और सफलता का कारण 'महाभूत समाधि' बताकर इसी सत्य की ओर ध्यान आकृष्ट किया था।

कालिदास भारतवर्ष के श्रेष्ठ सौन्दर्य-पारखी और सौंदर्य-निर्माता कवि थे। इस विषय में उनके अनुभव और चिन्तन का बड़ा महत्त्व है। अपने नाटकों और काव्यों में उन्होंने जो संकेत दिए हैं उनका महत्त्व स्पष्ट है। उन्होंने इंगित से अपनी बातें कही हैं। पार्वती का सौन्दर्य अनुपम था। जिस कलाकार ने

संसार के सर्वश्रेष्ठ सुन्दर रूप की रचना की उसने कैसे और क्यों यह प्रयत्न किया, इस सम्बन्ध में कालिदास ने अपने अनुमान दिए हैं। यह कलाकार स्वयं विश्व-रचयिता विधाता थे। विधाता ने कैसे और क्यों इस सुन्दर रूप को गढ़ा, यह बात हम कैसे जान सकते हैं? निश्चय ही कालिदास ने भी उनसे कोई 'इण्टरव्यू' नहीं ली होगी। अपने भीतर के कलाकार के अनुभवों को ही उन्होंने विधाता में देखा होगा। इस विषय में उनका अनुमान है कि विधाता ने समस्त उपमाद्रव्यों का पहले संग्रह किया होगा, फिर जिसका जहाँ रहना उचित होगा वहाँ उसे रखा होगा—पुनर्योजन किया होगा, और इस काम को उन्होंने प्रयत्नपूर्वक अर्थात् पूर्ण संकल्प के साथ एक समग्र रूप में सँवारा होगा। ऐसा करने का उनका उद्देश्य भी कुछ-न-कुछ होगा ही। कालिदास कहते हैं कि उद्देश्य था, 'एकत्र सौन्दर्य दिदृक्षा'—अर्थात् बिखरे हुए सौन्दर्य-प्रतिमानों को एकत्र करके नवनिर्माण द्वारा समस्त सौन्दर्यों को एक ही जगह देखने की इच्छा—

सर्वोपमाद्रव्यसमुच्चयेन यथा प्रदेशं विनिवेशितेन।
सा निर्मिता विश्वसृजा प्रयत्नात् एकत्र सौन्दर्यदिदृक्षयेव॥

इनमें कालिदास ने सिसृक्षा के कुछ उपादानों का आकलन किया है—

(१) सर्वोपमा द्रव्य समुच्चय (रूप-प्रतिमान और शब्द-प्रतीकों का संग्रह)
(२) यथा प्रदेश विनिवेशन (उचित स्थान पर उचित मात्रा में पुनर्योजन या विनिवेशन)
(३) प्रयत्न (समग्रता-विधायी संकल्प)
(४) एकत्र सौन्दर्य दिदृक्षा (ज्ञात भावनाओं और रूपों के विनिवेशन द्वारा आत्मानुभूत नये रूप और भाव के निर्माण की व्याकुलता)

इनमें (१) उपादान है, (२) आत्मदान है, (३) छन्द है और (४) उद्देश्य है।

समग्रता-विधान छन्द से होता है। अंग्रेज़ी में 'यूनिटी' शब्द चलता है जिसे हिन्दी में कभी 'एकता' और कभी 'अन्विति' द्वारा व्यक्त करने का प्रयत्न किया जाता है। हमारे इस प्रसंग में यूनिटी या एकता दोनों ही शब्द उस भाव को नहीं व्यक्त कर सकते जो छन्द का कार्य है। इसलिए हमने 'समग्रता'-विधान शब्द का सहारा लिया है। इसके लिए भी कालिदास के दूरस्थ होना पड़ा है। यथा-अवसर हम उनके इस प्रयोग की चर्चा करेंगे। यहाँ प्रकृत यह है कि किसी रूप में जो समग्रता पाई जाती है वह छन्द द्वारा सिद्ध होती है और विनिवेशन द्वारा कलाकार आत्मानुभूत या आत्मानुध्यात भावनाओं को नए रूप में ढालता है। 'उपमाद्रव्य' कहकर कालिदास ने उस सर्वस्वीकृत सिद्धान्त की ओर इंगित किया है जिसके अनुसार अरूप भावनाएँ (एब्सट्रैक्ट फीलिंग) अपनी अभिव्यक्ति के लिए किसी ज्ञात रूप का आश्रय खोजती हैं। उपमान दो प्रकार के होते हैं, (१) लोकसिद्ध और (२) कविकल्पित। एक उपमा अलंकार का उपमान है, दूसरा उत्प्रेक्षा का। किन्तु अन्तिम विश्लेषण पर कविकल्पित उपमान भी अनेक लोकसिद्ध उपमानों का विनिवेशन या पुनर्योजन मात्र है।

इसीलिए उपमान लोकसिद्ध अर्थात् समष्टि चित्त द्वारा स्वीकृत अतएव सामाजिक होते हैं, वैयक्तिक या मनगढंत नहीं।

कलाकार के दो पक्ष हैं। एक तो उसका स्रष्टा पक्ष और दूसरा कारीगर पक्ष। समष्टि चित्त द्वारा गृहीत भावना-जगत् की वास्तविकता को पुनर्व्यवस्थापन या विनिवेशन द्वारा संकलित रूप देना उसका स्रष्टा पक्ष है। संकल्प में वह स्वयं विद्यमान रहता है। उसका यही उत्तम पक्ष है। उसका कारीगर पक्ष भी है किन्तु यह गौण है। यह उसके स्रष्टा पक्ष का सहायक होने के कारण ही गौण है। प्राचीन आचार्यों की भाषा में इसी बात को 'गुणीभूत' कहते हैं। कलाचार का यह पक्ष कलाकृति को समाज द्वारा सहज ग्राह्य बनाने में सहायता करता है। जब वही मुख्य हो जाता है तो कलाकृति मध्यम कोटि की हो जाती है और कलाकार शिल्पी मात्र रह जाता है। विनिवेशन का उद्देश्य है 'जैसा-होना-चाहिए-वैसा' की रचना—नवनिर्माण। कई बार कलाकार चित्रितव्य को हू-ब-हू उरेहने का प्रयास करता है। उस समय उसकी प्रधान चिन्ता यह रहती है कि चित्रितव्य को ज्यों-का-त्यों काग़ज़ या अन्य आधारभूत सामग्री पर कैसे उतारा जाय। क्या होना चाहिए, यहाँ भी प्रधान चिन्ता है पर वह चित्रितव्य (अर्थ) से बुरी तरह बँधा होता है। ऐसे चित्रों को पुराने आचार्य 'विद्ध चित्र' कहते थे। मालविका के जिस चित्र की ऊपर चर्चा की गई है उसके कलाकार की असफलता इस बात में थी कि मालविका की कान्ति जैसी वास्तव में थी वैसी वह निखार नहीं सका था। किसी उद्दिष्ट वस्तु (अर्थ) से इस प्रकार बँधे रहने से विनिवेशन का उद्देश्य सफल नहीं होता। इसमें कलाकार अपने-आप को यथासम्भव असंपृक्त रखता है और उसके संकल्प में आत्मदान का अवसर नहीं आ पाता। क्योंकि वह समष्टि चित्त की ज्ञात भावनाओं या गृहीत धारणाओं के पुनर्व्यवस्थापन या विनिवेशन के द्वारा समष्टि चित्त को बदलने का प्रयास नहीं करता बल्कि उसे ज्यों-का-त्यों उतारने में ही लगा रह जाता है। अर्थबन्धन का निर्देशन उसे शिल्पी या कारीगर की मर्यादा से ऊपर नहीं उठने देता। वह चित्र में आत्मदान नहीं कर पाता। आत्मदान नए अर्थ की खोज है, पहले से ही गृहीत अर्थ का यथावत् स्थापन नहीं। प्रसंग मालविका के चित्र का था इसलिए ये बातें चित्रकला की भाषा में कही गई हैं। वस्तुतः यह सभी कलाओं का सत्य है। कवि शब्द-प्रतीकों के (जो समष्टि चित्त में पहले से ही गृहीत होते हैं) विनिवेश द्वारा जब नया अर्थ देना चाहता है तो स्रष्टा की मर्यादा का अधिकारी होता है। उसका शब्द-विनिवेश अर्थ का अनुगमन नहीं करता बल्कि अर्थ ही—नया अर्थ ही—उसका अनुगमन करता है। भवभूति ने ठीक ही कहा था—'ऋषीणां पुनराद्यानां वाचमर्थोऽनुधावति' (जो आद्य ऋषि हैं उनकी वाणी के पीछे-पीछे अर्थ दौड़ा करता है)! इसी तत्त्व का स्थूल पौराणिक रूप वह कथा है जिसमें कहा गया है कि राम के पैदा होने के पहले ही आदि-कवि वाल्मीकि ने रामायण लिख दी थी। 'आद्य' का अर्थ प्रथम भी होता है और श्रेष्ठ भी। 'प्रथम' के अर्थ में वह कालपरक है और 'श्रेष्ठ' के अर्थ में योग्यता-क्रम परक।

आत्मदान कलाकृति की रचना के लिए छन्द के समान ही आवश्यक तत्त्व

है। नये सौन्दर्यशास्त्रियों ने संकेन्द्रण (कन्सेन्ट्रेशन) को उत्तम रचना की आवश्यक भूमिका स्वीकार की है। बाह्य विषयों से चित्त को सर्वथा निवृत्त करने का अर्थ है, धारणा को अन्तर्वृत्तियों के साथ एकमेक कर देना। कालिदास ने इसी को 'महाभूत-समाधि' कहा है। यह समाधि आत्मदान की भूमि प्रस्तुत करती है। केवल समाधि, कलाकृति की रचना नहीं करती, वह साधनमात्र है। कलाकार की सर्जनेच्छा या सिसृक्षा में आत्मदान महत्त्वपूर्ण उपादान है। इसके बिना चित्र 'रस चित्र' नहीं बन पाता, कविता 'सरस कविता' नहीं बन पाती।

सभी जानते हैं कि कलाएं ज्ञातृ-सापेक्ष होती हैं और विज्ञान ज्ञेय-सापेक्ष। हिन्दी में साधारणतः प्रयुक्त होने वाले 'विषयि-परक' और 'विषय-परक' शब्द तथा अंग्रेजी में प्रयुक्त होने वाले 'सब्जेक्टिव' और 'ऑब्जेक्टिव' शब्द हमारे विवेचन के लिए बहुत उपयुक्त नहीं हैं क्योंकि अपने विशुद्ध अर्थ में वे आदर्श स्थिति की ओर इंगित करते हैं जो सिसृक्षा के क्षेत्र में दुर्लभ ही नहीं, अज्ञात भी है। कला की अभिव्यक्ति में ज्ञाता की अधिक अपेक्षा रहती है, परन्तु ज्ञेय एकदम अननुभूत या अगृहीत नहीं होता। विज्ञान में ज्ञेय की अधिक अपेक्षा रहती है पर ज्ञाता एकदम छूट नहीं जाता। ज्ञेय की सापेक्षता ज्ञाता के निरपेक्ष या असंपृक्त बने रहने के प्रयास की मात्रा से निर्धारित होता है। वस्तुतः कला में ज्ञेयपक्ष एकदम तिरोहित नहीं होता और न विज्ञान में ज्ञातृपक्ष ही।

कविता में व्यवहृत होने वाले शब्द अपने अर्थ के लिए समष्टि-चित्त की स्वीकृति की अपेक्षा रखते हैं, अतएव सामाजिक होते हैं, वैयक्तिक नहीं। वस्तुतः भाषा द्वारा जो-कुछ भी व्यक्त होता है वह सामाजिक ही होता है। सामाजिक अर्थात् समष्टि-चित्त द्वारा गृहीत और स्वीकृत। इसी प्रकार चित्र या मूर्ति में जिन रूप-प्रतिमानों का प्रयोग होता है वे भी समष्टिचित्त द्वारा स्वीकृत होते हैं। इसीलिए काव्य हो, चित्र हो, मूर्ति हो, अभिव्यक्त होते ही उन्हें सामाजिक बनना पड़ता है। जो अर्थ या रूप-प्रतिमान समष्टि-चित्त-निरपेक्ष हैं वे कभी कला को अभिव्यक्ति नहीं दे सकते। मध्यकाल के अलंकारशास्त्रियों ने मीमांसा के उस सिद्धान्त का विरोध किया था जिसमें बताया गया है कि वक्ता जिस उद्देश्य से शब्द का प्रयोग करता है वही उसका अर्थ होता है—यत्परः शब्दः स शब्दार्थः। इस सिद्धान्त को मान लेने से अर्थ का नियमन वक्ता की इच्छा (विवक्षा) के अधीन हो जाता है। मीमांसकों ने इसीलिए व्यंजना वृत्ति को मानने की जरूरत नहीं समझी। आनन्द-वर्धन और मम्मट आदि आचार्यों ने व्यंजना वृत्ति की आवश्यकता सिद्ध करने में बड़ा महत्त्वपूर्ण योग दिया है। व्यंजना वृत्ति स्वीकार करने का मतलब है अर्थ की सामाजिकता की स्वीकृति। क्योंकि व्यंजना, वक्ता-बोद्धा-वातावरण, सबको आवश्यक मानती है। व्यंजना वृत्ति का स्वीकारना अर्थ को वैयक्तिक विवक्षा के अधीन मानने का निरास है और उसकी सामाजिकता की स्वीकृति है। इसीलिए शब्द-प्रतीकों और रूप-प्रतिमानों द्वारा अभिव्यक्त कलाएँ विशुद्ध रूप में विषयि-परक नहीं हो सकतीं। वे अधिक मात्रा में ज्ञातृ-सापेक्ष और कुछ कम मात्रा में ज्ञेय-सापेक्ष होती हैं।

परन्तु यह मात्रा सभी कलाओं में समान नहीं होती। संगीत में ज्ञातृसापेक्षता की मात्रा अधिक होती है, उसकी तुलना में कविता में कम और उपन्यास में और भी कम। ये सभी श्रोत्रग्राह्य या श्रव्य कलाएँ हैं। इनमें अपनी ही ज्ञातृ-सापेक्षता की मात्रा ज्ञेय-सापेक्षता की तुलना में अधिक होती है। संगीत में शब्दार्थ की मात्रा बहुत कम, कविता में उससे अधिक और उपन्यास में और भी अधिक होती है। कविता शब्द-प्रतीकों पर उपन्यास की तुलना में अधिक निर्भर करती है जब कि उपन्यास, प्रतीकों की तुलना में, साक्षात् अर्थ पर अधिक निर्भर है। विज्ञान में ज्ञेय-सापेक्षता की मात्रा अधिक है।

कविता में जैसे कवि, शब्द-प्रतीकों पर सीधे जाता है और उनके द्वारा प्रक्षेपित अर्थरूपा वास्तविकता पर बाद में, उसी प्रकार गणित में गाणितिक, संख्या प्रतीकों पर पहले जाता है और उनके द्वारा प्रक्षेपित अर्थरूपा वास्तविकता पर बाद में। विज्ञान में भी दो प्रकार की प्रक्रियाएँ हैं। एक प्रकार के विज्ञान में वर्गीकरण की प्रवृत्ति है और दूसरे विकसनशील हैं। वर्गीकरणात्मक विज्ञान में गणित प्रमुख है। उसमें प्रतीकों का ही कारबार है। विकसनशील विज्ञान में (उदाहरणार्थ प्राणिविज्ञान में) वैज्ञानिक, पहले अर्थ पर जाता है बाद में उसे शब्द प्रतीकों द्वारा अभिव्यक्त करता है। ठीक यही स्थिति कविता और उपन्यास की है। कविता में शब्द-प्रतीकों का कारबार अधिक है, उपन्यास में अर्थ का कारबार अधिक होता है। शब्दों पर अधिक केन्द्रित रहने से ही कविता में छन्द का प्रामुख्य है। उपन्यासकार अर्थ पर पहले जाता है, शब्द पर बाद में। इसीलिए उसमें छन्द का वैसा प्रामुख्य नहीं है।

शब्द बाह्य और आन्तरिक वास्तविकता (अर्थ) के प्रतीक हैं। वे वास्तविकता के प्रक्षेपण का काम करते हैं। उन्हें सामाजिक स्वीकृति प्राप्त हुई रहती है। कवि इन शब्दों की चारुता से ही अर्थ-विनिवेश के द्वारा नव-निर्माण करता है। शब्दों के उचित विनिवेश को गतिशील बनाने का काम छन्द करता है और अर्थ को गरिमा और महनीयता देने का काम आत्मदान से होता है। संगीत अर्थभार से प्रायः मुक्त छन्द है। उससे बाह्य अर्थों का प्रक्षेपण होता अवश्य है पर बहुत अस्पष्ट। इसका कारण है संगीत का आदिम होना। वह उस अवस्था की कला है जब सामाजिक विकास के कारण स्पष्ट वैविध्य का आविर्भाव नहीं हुआ था। बाद में संगीत में अर्थ का अधिकाधिक समावेश होता गया है और वह कविता के अधिकाधिक निकट आता गया है। कविता संगीत की तुलना में कम आदिम और अधिक सामाजिक वैविध्य की देन है। उसमें अर्थ का भार क्रमशः बढ़ता गया है। उपन्यास पूर्णतः सामाजिक वैविध्य के आविर्भाव के बाद की देन है। उसमें अर्थ साक्षात् परिस्यूत होता है। संगीत-कविता-उपन्यास में क्रमशः अर्थ की साक्षात् परिस्युति बढ़ती गई है और उसी मात्रा में छन्द की घटती गई है। गतिशील दृश्यकलाओं में यही स्थिति क्रमशः नृत्य, नाटक और शिल्प की है। स्थितिशील कलाओं में चित्र, मूर्ति और वास्तु में छन्द का स्वरूप बदलने पर भी अर्थ की परिस्युति का क्रम कुछ इसी प्रकार है। छन्द समग्रता देता है। संगीत में वह स्वर-विन्यास के द्वारा, काव्य में भाव-विनिवेश के द्वारा और

उपन्यास में उद्देश्य की केन्द्रीयता के द्वारा इस समग्रता को बनाए रखता है।

परन्तु सभी कलाओं में उत्तमता की कसौटी आत्मदान की मात्रा होती है। ज्ञातृसापेक्ष कलाओं में आत्मदान ज्ञाता की इस योग्यता पर निर्भर करता है कि वह कहाँ तक विशुद्ध रूप में ज्ञातृ-परिसर को बढ़ाकर सम्पूर्ण विश्व के साथ एकमेक बन सकता है और ज्ञेय-सापेक्ष्य विज्ञान में इस बात पर कि वह कहाँ तक ज्ञातृ-परिसर को क्षीण करके ज्ञेय के साथ एकाकार हो सकता है। ज्ञातृ-सापेक्षता का मूल स्वर है—मैं अनुभव कर रहा हूँ और ज्ञेय-सापेक्षता का मूल स्वर है—मैं जानता हूँ। 'मैं अनुभव करता हूँ' का 'मैं' जितना ही विशुद्ध और व्यापक होगा, कला उतनी ही महिमामयी होगी और जितना ही ज्ञेय-मिश्रित और संकुचित होगा उतनी ही कला की महिमा संकुचित होगी। विशुद्धता की कसौटी आनन्द का उच्छलभाव है और व्यापकता की कसौटी साधारणीकरण की क्षमता। इस प्रकार, आत्मदान के दो पक्ष हैं, उच्छल आनन्द—ऐसा अनुभवजन्य आनन्द जो अनुभव करने वाले के हृदय में अँटाए नहीं अँट रहा है, उफनकर बाहर निकल जाना चाहता है—और साधारणीकरण की क्षमता—ऐसी क्षमता जो अनुभूत भाव को सर्वसाधारण की अनुभूति बना सकती है।

आत्मदान एक प्रकार की निस्संगता देता है। विज्ञान में वह ज्ञेय की ओर से आती है और कला में ज्ञाता की ओर से। पुराने आचार्य इसी को स्वस्थ होना कहते हैं। यह रस-निष्पत्ति की आवश्यक शर्तें हैं।

इस प्रकार छन्द की उपलब्धि और आत्मदान की व्याकुलता कलाकार की सर्जनेच्छा के दो तत्त्व हैं। आदि कवि की कहानी में दोनों का महत्त्व बताया गया है।

डॉ० नगेन्द्र

साधारणीकरण

काव्य में वर्णित विशिष्ट रामादि पात्रों के 'भाव' सर्वसाधारण या कम-से-कम सहृदय-साधारण के आस्वाद के विषय किस प्रकार हो जाते हैं ?—काव्यशास्त्र का यह अत्यन्त मौलिक प्रश्न है। काव्य मानव-जीवन का अत्यन्त प्राचीन एवं मूल्यवान् उपकरण है। वह सहस्राब्दियों से संस्कृत मानव की आत्माभिव्यक्ति तथा आत्मास्वाद का सुन्दर माध्यम रहा है। ज्यों ही चिंतनशील मनुष्य ने जीवन और जगत् के अनेक तथ्यों के साथ-साथ काव्य के आस्वाद के विषय में विचार आरम्भ किया होगा, पहला प्रश्न यही उठा होगा कि राम और दुष्यन्त आदि से हमारा क्या सम्बन्ध ? जब देश और काल का विराट् व्यवधान हमारे और उनके बीच विद्यमान है, तब उनके भाव हमारे आस्वाद्य किस प्रकार बन जाते हैं ? इस प्रश्न का सबसे प्रामाणिक समाधान है साधारणीकरण सिद्धान्त, जिसके बीज तो नाट्य-शास्त्र आदि में भी मिल जाते हैं—यथा **'एभ्यश्च सामान्यगुणयोगेन रसा निष्पद्यन्ते'**, अर्थात् जब इन भावों को सामान्य रूप से प्रस्तुत किया जाता है तो रसों की निष्पत्ति होती है (नाट्यशास्त्र का० भा० १०७३); परन्तु निश्चित उल्लेख भट्टनायक के उद्धरणों में ही पहली बार मिलता है।

भट्टनायक के उद्धरण का अभीष्ट अंश इस प्रकार है : **"विभावादिसाधारणीकरणात्मना × भावकत्वव्यापारेण भाव्यमानो रसः × योगेन परं भुज्यत इति।'** अर्थात् विभावादि के साधारणीकरण रूप भावकत्व नामक व्यापार द्वारा भाव्यमान स्थायीभाव-रूप रस × भोजकत्व व्यापार के द्वारा आस्वादित किया जाता है।"—इसका विश्लेषण करने पर निम्नलिखित तथ्य प्राप्त होते हैं—

(क) साधारणीकरण विभावादि का होता है।

(ख) यह साधारणीकरण ही वस्तुतः भावकत्व व्यापार का प्राण है—अर्थात् दोनों एक ही हैं।

(ग) भावकत्व व्यापार द्वारा भाव्यमान स्थायी भाव ही रस रूप में परिणत हो जाता है। भाव्यमान को काव्यप्रकाश के टीकाकारों ने 'साधारणीकृत' का ही पर्याय माना है और इसमें विप्रतिपत्ति के लिए विशेष अवकाश नहीं होना चाहिए।

(घ) साधारणीकरण रसास्वाद से पूर्व की प्रक्रिया है, यह वह प्रक्रिया है जो रस के विभिन्न अवयवों को अपने-अपने वैशिष्ट्य से मुक्त कर आस्वाद्य रूप

में प्रस्तुत कर देती है।

अभिनवगुप्त ने भट्टनायक के मत में संशोधन कर साधारणीकरण के प्रसंग को अपने ढंग से प्रस्तुत किया है; उनके उद्धरण इस प्रकार हैं :

"तस्यां च यो मृगपोतकादिर्भाति तस्य विशेषरूपत्वाभावाद्भीत इति, त्रासकस्यापारमार्थिकत्वाद् भयमेव परं देशकालाद्यनालिंगितम्।" अर्थात् काव्य की उस प्रतीति में जो मृगशावक आदि विषय-रूप से भासता है, उसके विशेष-रूप न होने से यह भीत है, यह ज्ञान तथा त्रासक (दुष्यन्त आदि) के वास्तविक न होने से, भय ही देशकाल आदि से पूर्णतः असम्बद्ध रूप में प्रतीत होता है।

इसका अभिप्राय यह हुआ कि **आश्रय और आलम्बन का साधारणीकरण हो जाने से स्थायी भाव ही देशकाल के बन्धन से मुक्त हो जाता है।**

इस तथ्य को और स्पष्ट करते हुए अभिनवगुप्त लिखते हैं : "तत एव भीतोऽहं भीतोऽयं शत्रुर्वयस्यो मध्यस्थो वा इत्यादिप्रत्ययेभ्यो दुःखसुखादिकृतबुद्ध्यन्तरोदयनियमवत्तया विघ्नबहुलेभ्यो विलक्षणं निर्विघ्नप्रतीतिग्राह्यं × × भयानको रसः।" इसीलिये 'मैं भीत हूँ,' 'यह भीत है' या 'शत्रु, मित्र अथवा तटस्थ भीत है' इत्यादि सुखदुःखकारी अन्य प्रत्ययों (ज्ञान) को नियमतः उत्पन्न करने के कारण विघ्नबहुल प्रतीतियों से भिन्न, निर्विघ्न-प्रतीत-रूप में ग्राह्य [भय स्थायी भाव ही] भयानक रस बन जाता है—अर्थात् काव्य में स्थायी भाव सभी प्रकार के व्यक्ति-संसर्गों से मुक्त हो जाता है—ये व्यक्तिसंसर्ग अपनी परिमिति के कारण दुःखादि के कारण होते हैं, अतः **इनसे मुक्ति का अभिप्राय होता है लौकिक दुःख-सुख आदि की चेतना से मुक्ति।**

यह साधारणत्व परिमित न होकर सर्वव्याप्त होता है—अनादि संस्कारों से चित्रित चित्तवाले समस्त सामाजिकों की एक-जैसी वासना होने के कारण सभी को एक-जैसी ही प्रतीति होती है : "तत एव न परिमितमेव साधारण्यमपि तु विततम् × अतएव सर्वसामाजिकानामेकघनतैव प्रतिपत्तिः × सर्वेषामनादिवासनाचित्रीकृतचेतसाम् वासनासंवादात्।" इस प्रकार, एकाग्रचित्त होने के कारण, समस्त सामाजिक जन को रंगमंच पर उपस्थित नृत्त, गीत आदि सुधासागर के समान प्रतीत होते हैं :

"तथा ह्येकाग्रसकलसामाजिकजनः खलु। नृत्तं गीतं सुधासारसागरत्वेन मन्यते।" इन उदाहरणों के आधार पर अभिनव के अनुसार—

(क) साधारणीकरण विभावादि का ही नहीं होता, स्थायी भाव का भी होता है। जिस प्रकार विभावादि स्थायी भाव के कारण होते हैं, इसी प्रकार विभावादि का साधारणीकरण भी स्थायी भाव के साधारणीकरण का कारण होता है।

(ख) स्थायी भाव के साधरणीकरण का अर्थ है देशकाल के बन्धन—व्यक्ति-संसर्ग आदि से मुक्ति। व्यक्ति-चेतना के कारण ही भाव की प्रतीति में सुख-दुःखात्मकता का समावेश रहता है, उसके अभाव में ऐन्द्रिय सुख-दुःख की भावना भी नष्ट हो जाती है।

(ग) कला के क्षेत्र में भाव का साधारणीकरण वैयक्तिक नहीं वरन् सामूहिक क्रिया है; केवल एक प्रमाता का ही भाव मुक्त नहीं होता—वरन् समस्त सामाजिक

एकाग्रचित्त होकर मुक्त भाव का सामूहिक रूप से अनुभव करते हैं।

(घ) अतः साधारणीकरण का सार है स्थायी भाव का साधारणीकरण।

उपर्युक्त संशोधन के प्रकाश में काव्यप्रकाश के टीकाकार गोविन्द ठक्कुर ने भट्टनायक के साधारणीकरण सिद्धान्त को संक्षिप्त एवं स्वच्छ रूप में इस प्रकार उपस्थित किया है—"भावकत्वं साधारणीकरणम्। तेन हि व्यापारेण विभावादयः स्थायी च साधारणीक्रियन्ते। साधारणीकरणं चैतदेव यत्सीतादिविशेषाणां कामिनीत्वादिसामान्येनोपस्थितिः। स्थाय्यनुभावादीनां च सम्बन्धिविशेषानवच्छिन्नत्वेन। (निर्णयसागर प्रेस, पृ० ६६) अर्थात् भावकत्व का अर्थ है साधारणीकरण। इस व्यापार के द्वारा विभावादि का और स्थायी भावों का साधारणीकरण होता है। साधारणीकरण से अभिप्राय है सीतादि विशेष पात्रों का कामिनी आदि सामान्य रूपों में उपस्थित होना। स्थायी भाव और अनुभाव के साधारणीकरण का आशय है विशिष्ट सम्बन्धों से मुक्ति।[1]

इस व्याख्या के अनुसार विभाव अर्थात् आश्रय, आलम्बन और उद्दीपन, अनुभाव, स्थायी तथा संचारी (स्थायी के द्वारा संचारी की भी व्यंजना स्पष्ट ही है) —सभी का साधारणीकरण होता है। उदाहरण से स्थिति और भी स्पष्ट हो जाएगी—

---

१. इस प्रसंग में कुछ विप्रतिपत्तियाँ प्रस्तुत की गयी हैं। (देखिए रसगंगाधर का शास्त्रीय विवेचन पृ० १५४-१५८)। विषय के निर्भ्रान्त ज्ञान के लिए उनका समाधान कर लेना चाहिए। एक विप्रतिपत्ति तो यह है कि साधारणीकरण भावकत्व की आत्मा या मूलतत्त्व है, पर्याय नहीं है। इसके समर्थन में दो तर्क दिए गए हैं- (१) भट्टनायक ने 'साधारणीकरणात्मना' पद का प्रयोग किया है, 'साधारणीकरणरूपेण' का नहीं (२) भावकत्व व्यापार का कार्य विभावादि का साधारणीकरण मात्र नहीं है, निजमोहसंकटता का निवारण भी है। हमारा विचार है कि इतना बारीक कातने से मूल सिद्धान्त के प्रतिपादन में बाधा पड़ती है। पहला तर्क शाब्दिक अधिक है, दोनों पदों के मूल अर्थ में विशेष भेद नहीं है। दूसरे तर्क का उत्तर यह है कि निजमोहसंकटता का निवारण भी तो साधारणीकरण क्रिया का ही अंग है जिसके आधार पर आगे चलकर स्थायी भाव के (निर्विघ्नप्रतीति रूप) साधारणीकरण की व्यवस्था की गयी है। दूसरी विप्रतिपत्ति भट्टनायक के ही कुछ ऐसे वाक्यों को लेकर उपस्थित की गई है जो उपर्युक्त स्थापनाओं के विरोधी प्रतीत होते हैं। ये वाक्य इस प्रकार हैं: न च सा प्रतीतिर्युक्ता। सीतादेरविभावत्वात्। स्वकान्तास्मृत्यसंवेदनात्। देवतादौ साधारणीकरणायोग्यत्वात्। समुद्रलंघनादेरसाधारण्यात्। अर्थात् वह प्रतीति मान्य नहीं है। वास्तविक सीतादि के विभावरूप में उपस्थित न होने से। अपनी स्त्री आदि की स्मृति अभिनय-काल में न होने से। देवतादि (सीता, पार्वती आदि पूजनीया देवियों) के साधारणीकरण के अयोग्य होने से। समुद्रलंघन आदि के असाधारण होने से (हिं०अ०भा०, पृ० ४६२-६३)। इन वाक्यों को पढ़कर ऐसा प्रतीत होता है मानो भट्टनायक को अलौकिक पात्रों और कार्यों का साधारणीकरण मान्य नहीं है। किन्तु स्थिति बिल्कुल विपरीत है; भट्टनायक तो उसे मान कर ही चलते हैं और चूँकि इनका साधारणीकरण सिद्ध है, इसलिए रस की (प्रत्यक्ष) प्रतीति असिद्ध हो जाती है। उनका तर्क स्पष्ट है: यदि रस की प्रत्यक्ष प्रतीति मान ली जाए तो सीतादि देवियों का और समुद्रलंघन आदि देवकार्यों का साधारणीकरण नहीं हो सकेगा; परन्तु चूँकि इनका साधारणीकरण सिद्ध है, इसलिए रस की प्रतीति असिद्ध है।

भूप बागु बर देखेउ जाई । जहँ बसन्त रितु रही लोभाई ।
लागे बिटप मनोहर नाना । बरन बरन बर बेलि बिताना ।
नव पल्लव फल सुमन सुहाए । निज संपति सुररूख लजाए ।
चातक कोकिल कीर चकोरा । कूजत बिहग नटत कल मोरा ।
मध्य बाग सरु सोह सुहावा । मुनि सोपान बिचित्र बनावा ।
बिमल सलिलु सरसिज बहुरंगा । जल-खग कूजत गुँजत भृंगा ।

× × × ×

तेहि अवसर सीता तहँ आई । गिरिजा पूजन जननि पठाई ।

× × × ×

कंकन किंकिन नूपुर धुनि सुनि । कहत लषन सन राम हृदयँ गुनि ।
मानहुँ मदन दुन्दुभी दीनी । मनसा बिस्व बिजय कहँ कीन्ही ।
अस कहि फिरि चितए तेहि ओरा । सिय मुख ससि भए नयन चकोरा ।
भए बिलोचन चारु अचंचल । मनहुँ सकुचि निमि तजे दृगंचल ।
देखि सीय सोभा सुखु पावा । हृदयँ सराहत बचनु न आवा ।

× × × ×

सिय सोभा हियँ बरनि प्रभु, आपनि दसा बिचारि ।
बोले सुचि मन अनुज सन, बचन समय अनुहारि ।।

तात जनकतनया यह सोई । धनुषजग्य जेहि कारन होई ।
पूजन गौरि सखीं लै आई । करत प्रकास फिरहिं फुलवाई ।
जासु बिलोकि अलौकिक सोभा । सहज पुनीत मोर मनु छोभा ।
सो सबु कारनु जान बिधाता । फरकहिं सुभद अंग सुनु भ्राता ।

× × ×

करत बतकही अनुज सन, मनु सिय रूप लोभान ।
मुख सरोज मकरन्द छबि, करै मधुप इव पान ।

(रामचरितमानस : बालकांड, दोहा २२६ से २३१)

यहाँ राम आश्रय हैं, सीता आलम्बन हैं, वासन्ती वैभव से समृद्ध जनक-वाटिका उद्दीपन है, राम के पुलक आदि अनुभाव हैं, रति स्थायी है और हर्ष, वितर्क, मति आदि संचारी हैं । उपर्युक्त व्याख्या के अनुसार प्रस्तुत प्रसंग की रसास्वादन-प्रक्रिया में इन सभी का साधारणीकरण हो जाता है । आश्रय राम के साधारणीकरण का अर्थ यह है कि वे राम न रहकर रति-मुग्ध सामान्य पुरुष बन जाते हैं—उनका देश और काल तथा उनसे अनुबद्ध वैशिष्टच तिरोभूत हो जाता है और नारी के सौन्दर्य से अभिभूत सामान्य किशोर मन उभरकर सामने आ जाता है । आलम्बन सीता के साधारणीकरण का आशय भी बहुत कुछ ऐसा ही है—अर्थात् उनका भी देशकालावच्छिन्न वैशिष्टच समाप्त हो जाता है और सामान्य कामिनी रूप शेष रह जाता है । अनुभाव के साधारणीकरण से अभिप्राय यह है कि राम की चेष्टाएँ राम से सम्बद्ध न रहकर सामान्य मुग्ध पुरुष की चेष्टाएँ बन जाती हैं । इसी प्रकार रत्यादि

स्थायी भाव और हर्ष, वितर्क आदि संचारी भाव भी एक ओर राम-सीता से और दूसरी ओर सहृदय तथा उसके आलम्बन से सम्बद्ध नहीं रह जाते—वे वैयक्तिक राग-द्वेष से मुक्त हो जाते हैं। उपर्युक्त प्रसंग में जो रति स्थायी भाव है वह न राम की सीता के प्रति रति है, न सहृदय की सीता के प्रति और न सहृदय की अपने प्रणय-पात्र के प्रति—यह तो निर्मुक्त रति भाव है जिसमें स्व-पर की चेतना निश्शेष हो चुकी है। मूलतः यह सहृदय का ही स्थायी भाव है, परन्तु साधारणीकृति के कारण व्यक्ति-चेतना से निर्मुक्त हो गया है। इस प्रकार रस के अवयवों में जो मूर्त्त हैं वे विशेष से सामान्य बन जाते हैं और जो अमूर्त भाव रूप हैं वे व्यक्ति-संसर्गों से मुक्त हो जाते हैं—विभावों की देश-काल के बन्धन से मुक्ति होती है और भावों की स्व-पर की चेतना से।

संस्कृत के परवर्ती शास्त्रकार प्रायः इसी मत की आवृत्ति करते रहे—केवल दो आचार्यों—विश्वनाथ और जगन्नाथ—के विवेचन में विभेद के कुछ संकेत मिलते हैं। विश्वनाथ ने वैसे तो स्थायी भाव और विभावादि सभी का साधारणीकरण माना है :

साधारण्येन रत्यादिरपि तद्वत्प्रतीयते।
परस्य न परस्येति ममेति न ममेति च॥ सा० द० ३।१२॥
तदास्वादे विभावादेः परिच्छेदो न विद्यते। ३।१३ का पूर्वार्ध॥

शृंगारादि रसों के स्थायी भाव रति आदिक भी काव्य-नाटयादि में सामान्य रूप से प्रतीत होते हैं। रसास्वाद के समय विभावादिकों का 'ये [विभावादि] मेरे हैं अथवा मेरे नहीं हैं—अन्य के हैं अथवा अन्य के नहीं हैं,' इस विशेष रूप से परिच्छेद अर्थात् सम्बन्ध-विशेष का स्वीकार अथवा परिहार नहीं होता।"—किन्तु उन्होंने आश्रय के साथ प्रमाता के अभेद या तादात्म्य को औरों की अपेक्षा अधिक महत्त्व दिया है :

व्यापारोऽस्ति विभावादेर्नाम्ना साधारणी कृतिः॥३।९॥
तत्प्रभावेण, यस्यासन् पाथोधिप्लवनादयः
प्रमाता तदभेदेन स्वात्मानं प्रतिपद्यते॥३।१०॥
उत्साहादिसमुद्‌बोधः साधारण्याभिमानतः।
नृणामपि समुद्रादिलंघनादौ न दुष्यति॥३।११॥

—यही साधारणीकरण विभावादि का विभावन नामक व्यापार है। इसी के प्रभाव से उस समय प्रमाता अपने को समुद्रलंघन करने वाले हनुमान् आदि से अभिन्न समझने लगता है। (हनुमान आदि के साथ) साधारण्याभिमान अर्थात् अभेदज्ञान हो जाने पर मनुष्यों का भी समुद्रलंघन आदि में उत्साह दूषित नहीं है।"

इसका सारांश यह है कि साधारणीकरण व्यापार के प्रभाव से प्रमाता का आश्रय के साथ तादात्म्य हो जाता है—सामान्य आश्रय के साथ ही नहीं वरन् अलौकिक शक्ति-सम्पन्न देवादि के साथ भी। उदाहरण के लिए लौकिक परिस्थिति में सामान्य जन के लिए समुद्रलंघन के उत्साह का अनुभव सम्भव नहीं है, किन्तु काव्य-

नाटचादि में, साधारणीकरण के प्रभाव से उसका हनुमान आदि के साथ तादात्म्य हो जाने के कारण, इस प्रकार का उत्साह भी सहज सम्भव हो जाता है। यह प्रसंग अभावात्मक रूप में भट्टनायक ने भी उठाया था—विश्वनाथ ने भावात्मक रूप में उसे और भी उभार कर सामने रखा है। पण्डितराज जगन्नाथ ने भी नव्यन्याय के आलोक में प्रकारान्तर से आश्रय के साथ तादात्म्य का ही कथन किया है, किन्तु इस सन्दर्भ में उन्होंने 'दोष' शब्द का प्रयोग अधिक शुद्ध माना है :

काव्ये नाट्ये च, कविना नटेन च प्रकाशितेषु विभावादिषु, व्यञ्जनव्यापारेण दुष्यन्तादौ शकुन्तलादिरतौ गृहीतायामनन्तरं च सहृदयतोल्लासितस्य भावनाविशेषरूपस्य दोषस्य महिम्ना, कल्पितदुष्यन्तत्वावच्छादिते स्वात्मन्यज्ञानावच्छिन्ने शुक्तिकाशकल इव रजतखण्डः समुत्पद्यमानोऽनिर्वचनीयः साक्षिभास्य-शकुन्तलादि-विषयक-रत्यादिरेव रसः।" (हिन्दी रस० गं०, प्र० आ०, पृ० १०१)

इसका अभिप्राय यह है कि पहले तो हमें काव्य और नाटक में कवि तथा नट द्वारा प्रस्तुत विभावादि का ज्ञान होता है। फिर व्यंजना व्यापार के द्वारा यह प्रतीति होती है कि दुष्यन्त शकुन्तला के प्रति अनुरक्त है। इसके उपरान्त सहृदयता के कारण हमारे चित्त में एक प्रकार की भावना उत्पन्न हो जाती है, अर्थात् हम अपनी सहृदयता के कारण दुष्यन्तादि के विषय में पुनः पुनः अनुसन्धान करने लग जाते हैं। यह भावना एक ऐसा दोष है जिससे हमारी आत्मा कल्पित दुष्यन्तत्व आदि से आच्छादित हो जाती है, अर्थात् उस समय हम अपने को दुष्यन्त समझने लगते हैं—"और जब हम अपने को दुष्यन्त समझ लेते हैं, तब हमें अपने को शकुन्तला का प्रेमी समझने में कोई बाधा नहीं रह जाती, अर्थात् उक्त दोष के कारण कल्पित दुष्यन्तत्व से आच्छन्न आत्मा में कल्पित-शकुन्तला-विषयक रति भी भासित होने लगती है, जैसे दूरत्व आदि दोषों के कारण जब सीपी के टुकड़े अज्ञान से ढक जाते हैं—वास्तविक रूप में नहीं समझ पड़ते, तब उन टुकड़ों में ही चाकचिक्य दोष से चाँदी के टुकड़े उत्पन्न हो जाते हैं—अर्थात् वे सीप के टुकड़े चाँदी के टुकड़े प्रतीत होने लगते हैं। यद्यपि न हम में शकुन्तला आदि की रति वास्तविक रूप में रहती है, न सीप के टुकड़ों में चाँदीपन, तथापि साक्षी आत्मा उनका भान करा देती है।"[1]

बात यह भी वही है जो विश्वनाथ ने कही है, किन्तु इस पर दर्शन का वर्म चढ़ा हुआ है। पण्डितराज के दार्शनिक विधान में साधारणीकरण के लिए स्थान नहीं

१. वस्तुतः पण्डितराज ने सामान्य रूप से साधारणीकरण को स्वीकार नहीं किया—यद्यपि विभावादीनां साधारण्यं प्राचीनैरुक्तम् तदपि काव्येन शकुन्तलादिशब्दैः शकुन्तलात्वादि प्रकारकबोधजनकैः प्रतिपाद्यमानेषु शकुन्तलादिषु दोष-विशेषकल्पनं विना दुरुपपादम्। अर्थात् यद्यपि प्राचीन आचार्यों ने विभावादि के साधारणीकरण का कथन किया है, फिर भी यह बात दोष-विशेष की कल्पना के बिना बन नहीं सकती, क्योंकि काव्यों में शकुन्तला आदि शब्दों के द्वारा ही शकुन्तला आदि का प्रतिपादन रहता है और जो शब्द शकुन्तलात्वेन शकुन्तला आदि के बोधक हैं, फिर कान्तात्वेन उनका बोध कैसे हो सकता है ? (हिन्दी रस० गं० पृ० १०५)—कहने की आवश्यकता नहीं कि यह अस्वीकृति केवल शाब्दिक या सैद्धान्तिक है, व्यवहार में साधारणीकरण का निषेध यहाँ भी नहीं है।

है—यहाँ तो 'भ्रम' है : भावनादोष है। किन्तु दर्शन के आवरण को हटाकर देखें तो ये भी आश्रय के साथ प्रमाता के तादात्म्य और समानुभूति की ही बात कर रहे हैं : कवि की भावनारूढ़ कल्पना से सामाजिक की सहृदयता (भावना-कल्पना) उद्बुद्ध हो जाती है और वह आश्रय के साथ तादात्म्य का अनुभव करता हुआ समान भाव की अनुभूति करता है। लौकिक-अलौकिक का व्यवधान यहाँ नहीं रहता—दुष्यन्त के साथ तादात्म्य होने से जिस प्रकार वह (कल्पित) रति का अनुभव करता है, इसी प्रकार हनुमान की भावना से आच्छादित होने के कारण वह समुद्रलंघन के उत्साह का भी अनायास ही (कल्पित) अनुभव कर लेता है।

पण्डितराज के बाद गम्भीर शास्त्रीय विवेचन का क्रम प्रायः समाप्त ही हो गया। हिन्दी के रीति-कवियों का अनुराग काव्यशास्त्र के रोचक एवं सरल प्रसंगों तथा कविशिक्षा तक ही सीमित रहा—साधारणीकरण आदि तात्त्विक विषयों के प्रति उनके मत में कोई आकर्षण नहीं था। अतः काव्यशास्त्र के इस अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं मौलिक विषय का विवेचन गतिरुद्ध पड़ा रहा और लगभग तीन शताब्दियों के उपरान्त आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने प्रसिद्ध लेख [1] 'साधारणीकरण और व्यक्ति-वैचित्र्य-वाद' में सहसा इसका पुनरुद्धार किया। शुक्लजी का यह लेख भारतीय काव्यशास्त्र-विषयक अनुसन्धान का परिच्छेद या अंग न होकर स्वतन्त्र चिन्तन का ही परिणाम है। उनकी दृष्टि अतीत पर न होकर वर्तमान पर ही स्थिर है और उन्होंने इस प्राचीन सिद्धान्त की अपने अभिमत 'लोकधर्म' सिद्धान्त के समर्थन में ही उद्धृति एवं व्याख्या की है। अतः इस लेख में साधारणीकरण सिद्धान्त का शास्त्रीय विवेचन नहीं पुनराख्यान ही प्रमुख है और इसी रूप में उसकी स्थापनाओं का मूल्यांकन करना चाहिए।

विवेच्य विषय से सम्बद्ध शुक्लजी के उद्धरण इस प्रकार हैं—

१. "जब तक किसी भाव का कोई विषय इस रूप में नहीं लाया जाता कि वह सामान्यतः सबके उसी भाव का आलम्बन हो सके, तब तक उसमें रसोद्बोधन की पूरी शक्ति नहीं आती। इसी रूप में लाया जाना हमारे यहाँ साधारणीकरण कहलाता है।"

२(क) "काव्य का विषय सदा विशेष होता है, सामान्य नहीं, वह व्यक्ति सामने लाता है, जाति नहीं।"

(ख) "साधारणीकरण का अभिप्राय यह है कि पाठक या श्रोता के मन में जो व्यक्ति-विशेष या वस्तु-विशेष आती है, वह जैसे काव्य में वर्णित 'आश्रय' के भाव का आलम्बन होती है, वैसे ही सब सहृदय पाठकों या श्रोताओं के भाव का आलम्बन हो जाती है।"

(ग) "जिस व्यक्ति-विशेष के प्रति किसी भाव की व्यञ्जना कवि या पात्र करता है, पाठक या श्रोता की कल्पना में यह व्यक्ति-विशेष ही उपस्थित रहता है।"

३. "कल्पना में मूर्ति तो विशेष ही की होगी, पर वह मूर्ति ऐसी होगी जो

१. यह लेख प्रथम बार सन् १९३३ में 'द्विवेदी अभिनन्दन ग्रन्थ' में प्रकाशित हुआ था।

प्रस्तुत भाव का आलम्बन हो सके, जो उसी भाव को पाठक या श्रोता के मन में भी जगाए, जिसकी व्यञ्जना आश्रय अथवा कवि करता है। इससे सिद्ध हुआ कि साधारणीकरण आलम्बनत्व धर्म का होता है।"

४. "व्यक्ति तो विशेष ही रहता है, पर उसमें प्रतिष्ठा ऐसे सामान्य धर्म की रहती है, जिसके साक्षात्कार से सब श्रोताओं या पाठकों के मन में एक ही भाव का उदय थोड़ा या बहुत होता है।"......"विभावादि सामान्य रूप से प्रतीत होते हैं, इसका तात्पर्य यही है कि रसमग्न पाठक के मन में यह भेदभाव नहीं रहता कि यह आलम्बन मेरा है या दूसरे का। थोड़ी देर के लिए पाठक या श्रोता का हृदय लोक का सामान्य हृदय हो जाता है।"

५. "साधारणीकरण में आलम्बन द्वारा भाव की अनुभूति प्रथम कवि में चाहिए, फिर उसके वर्णित पात्र में और फिर श्रोता या पाठक में। विभाव द्वारा जो साधारणीकरण कहा गया है, वह तभी चरितार्थ होता है।"

साधारणीकरण का विवेचन करते समय भट्टनायक और अभिनवगुप्त के अभिमत शुक्लजी के सामने नहीं थे—केवल विश्वनाथ का मत ही उनके सामने था। उसका भी उन्होंने शास्त्रीय विवेचन न कर केवल स्वतन्त्र चिन्तन या अपने सिद्धान्त के अनुकूल प्रयोगमात्र किया है। पहला तथ्य शुक्लजी की सामयिक परिसीमा का द्योतक है और दूसरा उनकी मौलिक प्रतिभा का।

वे मूलतः आलम्बन का साधारणीकरण मानते हैं। आलम्बन का अर्थ है भाव का विषय। उसका साधारणीकरण इस प्रकार होता है कि पहले वह कवि के भाव का विषय बनता है और फिर समस्त सहृदय समाज के भाव का विषय बन जाता है।

आलम्बन के साधारणीकरण का अर्थ यह नहीं कि उसका व्यक्तित्व ही तिरोहित हो जाता है—अर्थात् वह व्यक्ति न रहकर जाति बन जाता है। उसका व्यक्तित्व तो बना रहता है, पर उसमें कुछ ऐसे गुणों का समावेश हो जाता है जिनके कारण वह समस्त सहृदय-समाज के उसी भाव का विषय बन जाता है—अर्थात् सीता कामिनी मात्र बनकर रह जाती हैं, यह बात नहीं, वरन् वे अपने शील-सौन्दर्य आदि सामान्य गुणों के कारण सभी के प्रेम का विषय बन जाती हैं। आलम्बन का व्यक्तित्व बना रहे और फिर भी उसका साधारणीकरण हो जाए—इस विषमता का समाधान करने के लिए शुक्लजी अपनी मूल स्थापना में थोड़ा संशोधन करते हुए कहते हैं कि साधारणीकरण वस्तुतः आलम्बन-धर्म का होता है, अर्थात् उन सामान्य गुणों का होता है जिनके कारण सीता राम को प्रिय लगती हैं। यहाँ कई बातें उलझ जाती हैं : सीता केवल कामिनी नहीं हैं, व्यक्ति हैं; वे राम की प्रिया हैं किन्तु राम के प्रेम का आधार उनके शील-सौन्दर्य आदि ऐसे सामान्य गुण हैं जो समस्त सहृदय समाज में रतिभाव उत्पन्न करते हैं; सीता राम की प्रिया हैं किन्तु प्रेम का आधार चूंकि सीता के सामान्य गुण ही हैं, अतः वे सहृदय-समाज को भी प्रिय हैं—अर्थात् सहृदय-समाज के प्रेम का

१, २, ३ और ४. चिन्तामणि भाग (१) १९५७--पृ० २२७-२३०।
५. रसमीमांसा, पृ० ९९।

विषय सीता व्यक्ति नहीं वरन् उस व्यक्ति के शील-सौन्दर्य आदि गुण हैं। शुक्लजी के सामने वास्तव में अपने दो सिद्धांतों के बीच सामंजस्य स्थापित करने की समस्या उपस्थित हो गई है (१) काव्य का विषय (आलम्बन) विशिष्ट होता है और (२) काव्य का आस्वादन भाव की सामान्य भूमिका पर होता है। इस समस्या का समाधान उन्होंने अपने बुद्धि-बल से इस प्रकार कर लिया है: आलम्बन के वैशिष्ट्य की रक्षा करते हुए समर्थ कवि, जिसे लोक-हृदय की पहचान होती है, सामान्य गुणों के आधार पर उसका साधारणीकरण कर लेता है। निदान, सहृदय सीता के प्रति अनुरक्त हो जाता है, परन्तु उसके हृदय में यह भेद-भाव नहीं रहता कि सीता राम के प्रेम की आलम्बन है या उसके अपने प्रेम की। सहृदय का चित्त व्यक्ति-चेतना से मुक्त हो जाता है।

पहले कवि के हृदय में सीता के प्रति अनुराग का उदय होता है, फिर वह आश्रय के द्वारा उसे व्यक्त करता है और अन्त में काव्य का आस्वादयिता समस्त सहृदय-समाज उस भाव का अनुभव करता है। अभिनव के गुरु भट्टतोत का भी यही मत है—नायकस्य कवेः श्रोतुः समानोऽनुभवस्ततः।

शुक्लजी के मत का सार कदाचित् यही है—यहाँ हमने उन्हीं के मत को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है; उसके सत्यासत्य का निर्णय बाद में करेंगे।

यह मत भारतीय काव्यशास्त्र के स्वीकृत सिद्धान्त से थोड़ा भिन्न है। इसीलिए संस्कृत के शास्त्रविद् पण्डितों ने इस पर आक्षेप किए हैं। पण्डित केशवप्रसाद ने शुक्लजी के इस मन्तव्य को 'भ्रम' की संज्ञा देते हुए लिखा है—'साधारणीकरण से यहाँ यह अर्थ लिया गया है कि विभाव, अनुभाव आदि का साधारण अथवा लोकमान्य होना दो अर्थों में माना जा सकता है। एक तो स्वरूपतः सामान्य होना और दूसरे परिणाम अथवा उद्देश्य में सामान्य होना। स्वरूपतः सामान्य होने का आग्रह करना ठीक न होगा, क्योंकि उस अवस्था में विभाव, अनुभाव आदि सीमित और शृङ्खलाबद्ध हो जायेंगे और काव्य की व्यापकता नष्ट हो जायगी। परिणामतः या अन्तिम ध्येय में सामान्यता (साधारणीकरण) मानने के भी दो प्रकार हो सकते हैं। एक तो बौद्धिक या द्वैतवादी, जिसमें काव्य को नैतिक और अनैतिक के द्वन्द्वों के भीतर देखा जाता है और नैतिक पक्ष का रसास्वाद किया जाता है और दूसरा मनोवैज्ञानिक, ध्वन्यात्मक अथवा कलात्मक जिसमें नैतिकता का प्रश्न पृथक् नहीं रहता, 'ध्वनि' में अवसित हो जाता है। इनमें पहला प्रकार भट्टनायक के 'भुक्तिवाद' के अनुकूल पड़ता है और दूसरा अभिनवगुप्त के ध्वनिवाद से सम्बन्धित है। कहने की आवश्यकता नहीं कि उक्त विद्वान् पहले प्रकार के समर्थक हैं, किन्तु हम आचार्य अभिनवगुप्त का मत मानते हैं। साधारणीकरण तो कवि अथवा भावुक की चित्तवृत्ति से सम्बन्ध रखता है। चित्त के एकतान और साधारणीकृत होने पर उसे सभी कुछ साधारण प्रतीत होने लगता है।"[1]

केशवजी ने अपना मन्तव्य अन्त में सर्वथा स्पष्ट कर दिया है। वे अभिनवगुप्त के अनुसार साधारणीकरण से अभिप्राय चित्तवृत्ति के साधारणीकरण का ही

१. साहित्यालोचन, डा० श्यामसुन्दरदास (१९६६) पृ० २८४-८५ पर उद्धृत।

मानते हैं। सहृदय का चित्त जब एकतान हो जाता है तो उसे सभी कुछ साधारण प्रतीत होने लगता है। विभाव का साधारणीकरण एकांगी है, भाव का साधारणीकरण ही वास्तविक एवं पूर्ण है। अभिनव ने अपने अद्वैत सिद्धान्त के आधार पर इसी अखण्ड चेतना में साधारणीकरण का अनुसन्धान किया था। विभाव पर बल देने का अर्थ है विषय की सत्ता की महत्त्व-प्रतिष्ठा अर्थात् द्वैत की प्रतिष्ठा और द्वैतवादी रस-कल्पना का आधार मूलतः बौद्धिक एवं नैतिक ही रहेगा। इस प्रकार केशवजी आचार्य शुक्ल की रस-दृष्टि को द्वैतवादी भट्टनायक के भुक्तिवाद के साथ सम्बद्ध कर उसे उतने ही अनुपात में अपूर्ण मानते हैं। अभिनव के अनुसार रस आध्यात्मिक प्रक्रिया है और केशवजी भी इसी आध्यात्मिक कल्पना में रस-दृष्टि की पूर्णता मानते हैं। उनके आक्षेप का सारांश यह है : विभाव बद्ध या सीमित है, भाव मुक्त या असीम; अतः विभाव का साधारणीकरण अपूर्ण एवं सीमित है—वह बौद्धिक एवं नैतिक है जब कि भाव का साधारणीकरण चित्त की मुक्ति अथवा संविद्विश्रांति का पर्याय है, अतः वह पूर्ण है। पं० केशवप्रसाद मिश्र का विवेचन अत्यन्त सूक्ष्म एवं तात्त्विक है। उन्होंने आचार्य शुक्ल की विभाव-निष्ठ दृष्टि तथा नैतिक चेतना के सम्बन्ध का उद्घाटन अत्यन्त मार्मिकता के साथ किया है और अंततः उसे अभिनवगुप्त के अद्वैत की अपेक्षा भट्टनायक के द्वैत-सिद्धान्त के सन्निकट माना है। फिर भी उनके सभी निष्कर्ष यथा-वत् ग्राह्य नहीं हैं। यह तो ठीक है कि प्राचीन आचार्यों में भट्टनायक के दृष्टिकोण में द्वैत का आधार होने से विषय की सत्ता की स्वीकृति है और चूंकि उन्होंने ही सबसे पहले रसास्वाद के प्रसंग में नैतिक प्रश्न उठाया है, अतः यह भी कल्पना संगत ही है कि उनका दृष्टिकोण आध्यात्मिक या शुद्ध आनन्दवादी न होकर नैतिक आधार लिए हुए है। ये दोनों तत्त्व ऐसे हैं जो शुक्लजी के दृष्टिकोण में भी विद्यमान हैं, अतः उनका मत भट्टनायक के अनुकूल है—यह निष्कर्ष भी अशुद्ध नहीं है। किन्तु भट्टनायक और शुक्लजी के मन्तव्यों में कुछ स्पष्ट भेद भी हैं—(१) उदाहरण के लिए भट्ट-नायक ने सभी का साधारणीकरण माना है, आलम्बन पर बल नहीं दिया, (२) निजकान्तास्मृति की सत्ता को उन्होंने रसास्वाद की प्रक्रिया में सर्वथा अस्वीकृत कर दिया है, पर शुक्लजी विकल्प रूप में यह भी मान लेते हैं कि 'यदि किसी पाठक या श्रोता का किसी सुन्दरी से प्रेम है तो शृङ्गार रस की फुटकल उक्तियाँ सुनने के समय रह-रहकर आलम्बन रूप में उसकी प्रेयसी की मूर्ति ही उसकी कल्पना में आएगी।' (३) भट्टनायक करुणादि समस्त रसों की अनुभूति को आनन्दमयी मानते हैं, परन्तु शुक्लजी की रस-कल्पना हृदय की मुक्तावस्था का ही पर्याय है—अर्थात् वह भट्टनायक के भावकत्व-व्यापार-जन्य 'निजमोहसंकटतानिवारण' पर ही समाप्त हो जाती है, 'भोग' तक नहीं पहुँच पाती।

पं० केशवप्रसाद मिश्र के उपरान्त भी यह विवेचन-क्रम चला और डा० गुलाब-राय तथा पं० रामदहिन मिश्र आदि ने प्रस्तुत प्रसंग पर विस्तार से अपने विचार व्यक्त किये, किन्तु इनके विवेचन में विषय की व्याख्या का ही प्राधान्य है—कोई नवीन विचार हमारे सामने उपस्थित नहीं होता।

सारांश

इस सम्पूर्ण विवेचन का सारांश यह है :

१. रस के समस्त अवयवों—विभाव अनुभाव, स्थायी और संचारी का साधारणीकरण होता है। साधारणीकरण की प्रक्रिया में थोड़ा-सा (असंलक्ष्य) क्रम रहता है—विभावादि का साधारणीकरण पहले होता है और स्थायी का उसके परिणाम-स्वरूप बाद में। यह भट्टनायक का मत है और इसमें विषय तथा विषयी दोनों पक्षों का सन्तुलन है।

२. मूलतः रस के विभावादि समस्त अवयवों का ही साधारणीकरण होता है और विभावादि के साधारणीकरण के फलस्वरूप ही स्थायी का साधारणीकरण होता है जिससे सहृदय की चेतना व्यक्ति-संसर्गों से मुक्त एकतान हो जाती है। परन्तु स्थायी का यह साधारणीकरण—अर्थात् सहृदय-चेतना की निर्मुक्ति ही अन्ततः मुख्य हो जाती है और शेष ज्ञान (सामान्य तथा विशेष दोनों प्रकार का) उसमें लीन हो जाता है। यह अभिनवगुप्त का मत है और इसमें अन्ततः भाव एवं विषयी पक्ष की ही स्वीकृति है।

३. तीसरे मत के अनुसार भी साधारणीकरण तो सभी का माना गया है, किन्तु यहाँ साधारणीकरण की प्रक्रिया में आश्रय के साथ तादात्म्य को रेखांकित कर दिया गया है—प्रमाता की चेतना विकसित होकर हनुमान की चेतना के साथ तादात्म्य कर समुद्रलंघन जैसे अलौकिक कार्यों के प्रति भी उत्साह का अनुभव करती है। यहाँ हनुमान (विभाव) का उत्साही पुरुष मात्र के रूप में साधारणीकरण नहीं माना गया, वरन् सम्पूर्ण प्रमातृवर्ग का अलौकिक शक्ति-सम्पन्न हनुमान के साथ तादात्म्य स्वीकार किया गया है। इस रूप में यह भट्टनायक और अभिनव के मत से किंचित् भिन्न है। —यह मत विश्वनाथ का है, जगन्नाथ ने भी दर्शन की शब्दावली में इसे ही प्रस्तुत किया है, उनके विचार से भी (भ्रमवश ही सही) आश्रय के साथ तादात्म्य ही मुख्य क्रिया है।

४. शुक्लजी के मत से साधारणीकरण मूलतः आलम्बन या आलम्बनत्व धर्म का होता है, अर्थात् कवि आलम्बन का इस प्रकार वर्णन करता है कि वह अपने वैशिष्ट्य की रक्षा करता हुआ भी साधारण धर्मों के कारण सभी पाठकों के मन में वैसा ही भाव उद्‌बुद्ध करता है जैसा कि काव्य-प्रसंग के अन्तर्गत आश्रय के मन में आता है। इस प्रकार भाव के साधारणीकरण को शुक्लजी भी यथावत् स्वीकार करते हैं, किन्तु बल उनका विभाव अर्थात् आलम्बन या आलम्बन-धर्म के साधारणीकरण पर ही है।

५. साधारणीकरण की प्रक्रिया में तीन बिन्दु हैं—कवि, नायक (आश्रय) और श्रोता। इन तीनों के भाव-तादात्म्य से साधारणीकरण पूर्ण हो जाता है। यह भट्टतोत का मत है, आचार्य शुक्ल ने भी इसे यथावत् मान्यता प्रदान की है।

विवेचन

इन विकल्पों में से कौन-सा सत्य है—साधारणीकरण वस्तुतः किसका होता

है ? मूल प्रश्न यही है, जिसका समाधान किये बिना साधारणीकरण का वास्तविक आशय और महत्त्व स्पष्ट नहीं हो सकता।

'मानस' के 'जनक-वाटिका' प्रसंग का अध्ययन करते समय दो सत्ताएँ विद्यमान रहती हैं—एक वस्तु या विषय की और दूसरी प्रमाता या विषयी की। विषय के अन्तर्गत विभाव अर्थात् आश्रय और आलम्बन, उद्दीपन, अनुभाव और संचारी आते हैं, विषयी स्वयं सहृदय या प्रमाता है। भट्टनायक के मत से विषय के समस्त अंगों का साधारणीकरण होता है और परिणामतः प्रमाता के स्थायी भाव का भी। यही मौलिक सिद्धान्त है, परन्तु मूल सिद्धान्त की समीक्षा करने से पूर्व इसके विषय में प्रस्तुत संशोधनों पर विचार करना अधिक उपयोगी होगा।

आश्रय के साथ तादात्म्य—साधारणीकरण की प्रक्रिया में, जहाँ रस के समस्त अवयवों का साधारणीकरण होता है, आश्रय का साधारणीकरण भी अन्तर्भूत है—अर्थात् जैसा कि हमने ऊपर स्पष्ट किया है, आश्रय का साधारणीकरण भी समस्त प्रक्रिया का अनिवार्य अंग है। किन्तु आश्रय के साधारणीकरण और प्रमाता द्वारा आश्रय के साथ तादात्म्य की अनुभूति में अन्तर है। पहले का अर्थ यह है कि राम या हनुमान अलौकिक शक्ति-सम्पन्न व्यक्ति न रहकर सामान्य पुरुष बन जाते हैं और दूसरे का अर्थ यह है कि प्रमाता उन क्षणों में अपने को राम या हनुमान समझने लगता है और धनुर्भंग अथवा समुद्रलंघन-जैसे अलौकिक कृत्यों के प्रति उसके मन में उत्साह जागृत हो जाता है। एक में राम या हनुमान का सामान्य मानव-धरातल पर उतरना विवक्षित है और दूसरे में प्रमाता का उठकर विशेष अलौकिक धरातल पर पहुँचना। किन्तु आश्रय के साधारणीकरण का आशय यह नहीं है कि ये अपने गौरव से वंचित होकर जन-साधारण के स्तर पर उतर आते हैं। ऐसा मान लेने पर तो काव्य द्वारा उदात्तीकरण का सिद्धान्त ही खण्डित हो जाएगा। साथ ही उसका यह अर्थ भी नहीं है कि काव्य में 'व्यक्ति' का नहीं 'जाति' या वर्ग का चित्रण होता है और आश्रय अपना व्यक्तित्व खोकर वर्गगत या जातिगत गुणों का प्रतीक-मात्र रह जाता है, क्योंकि इस प्रकार तो काव्य भावना का विषय न रहकर विचार का ही विषय रह जाएगा और उसकी प्रभावी शक्ति ही नष्ट हो जाएगी। इसका अर्थ यह है कि आश्रय के गौरव का वैशिष्ट्य—देशकालबद्ध रूप तिरोहित हो जाता है और सामान्य मानवीय औदात्त्य उभर कर सामने आ जाता है जो सहृदय-समाज के संस्कारों में भी निसर्गतः विद्यमान है। फिर भी 'प्रमाता का आश्रय के साथ तादात्म्य' यह नहीं है, क्योंकि तादात्म्य की प्रक्रिया में आश्रय तो बदलता ही नहीं : विश्वनाथ के अनुसार प्रमाता अपने में हनुमान का अभिमान करने लगता है—यहाँ तक कि समुद्रलंघन जैसे अलौकिक कृत्यों के प्रति भी उसमें उत्साह जग जाता है। यह स्थिति प्राचीन मत के अनुसार ग्राह्य नहीं है; वास्तव में इसी प्रकार के अलौकिक पात्रों और उनके कार्यों को सामान्य पाठक के लिए ग्राह्य बनाने के उद्देश्य से ही तो साधारणीकरण की आवश्यकता और भी होती है। इसके अतिरिक्त 'आश्रय' शब्द का अर्थ तो बहुत व्यापक है। यहाँ आश्रय का व्यक्तित्व प्रेय और भाव मधुर होने के कारण हम थोड़ी देर के लिए सन्देह में पड़

सकते हैं, परन्तु राम और दुष्यन्त या हनुमान और अंगद ही नहीं रावण और शूर्पणखा भी तो आश्रय हो सकते हैं अर्थात् आश्रय तो घृणित, क्रूर, भिन्न-लिंगी, नीच—हमारे व्यक्तित्व के ठीक विपरीत भी हो सकता है, हम उसके साथ कहाँ तक तादात्म्य करते फिरेंगे ? यदि प्रेय चरित्रों को ही लें, तब भी तादात्म्य सर्वत्र ग्राह्य नहीं हो सकता; मृतवत्सा शैव्या के साथ तादात्म्य तो शोक का कारण ही हो सकता है रस का नहीं। पंडितराज के अनुसार, भावना-दोष के कारण कल्पित दुष्यन्तत्व द्वारा सहृदय-चेतना के आच्छादन की प्रकल्पना को भी यदि यथावत् स्वीकार कर लें तब भी इस प्रश्न का उत्तर नहीं मिलता। कल्पना के बीच में आ जाने से वास्तविक शोक का आघात कम तो हो सकता है, पर इस कल्पित शोक की रस में परिणति नहीं हो सकती। पण्डितराज भी काव्य के चमत्कार के अतिरिक्त इसका कोई तर्कसम्मत उत्तर नहीं दे सके। अतः 'आश्रय के साथ तादात्म्य' की स्वतन्त्र या प्रमुख स्थिति अग्राह्य है : साधारणीकरण की सम्पूर्ण प्रक्रिया के अंग रूप में ही तादात्म्य मान्य हो सकता है।

आश्रय के प्रसंग में ही नायक का प्रश्न भी उठाया जा सकता है। नायक के साथ प्रमाता का तादात्म्य होता है : नायकस्य कवेः श्रोतुः समानोऽनुभवस्ततः (तोत)। इसमें क्या आपत्ति है ? आपत्ति स्पष्ट है। संस्कृत काव्य का नायक ऐसे गुणों से विभूषित होता था कि उसके साथ तादात्म्य करना प्रत्येक सहृदय के लिए सहज और स्पृहणीय था। काव्य के मूल अर्थ की अभिव्यक्ति कवि प्रायः नायक के माध्यम से ही करता था अर्थात् कवि स्वयं नायक से तादात्म्य स्थापित कर लेता था, अतः सहृदय-समाज का भी उसके साथ सहज तादात्म्य हो जाता था। इस प्रविधि का उपयोग आज भी होता है और नायक की परम्परागत गरिमा आज भी नष्ट नहीं हुई। किन्तु स्थिति में थोड़ा परिवर्तन तो हो ही गया है। आज अनेक प्रथम श्रेणी के उपन्यासों में नायक का रूप उक्त आदर्श के बिलकुल विपरीत मिलता है जिसके साथ तादात्म्य सहृदय के लिए न सहज होगा न स्पृहणीय। उदाहरण के लिए एक साम्यवादी उपन्यासकार किसी हृदयहीन पूँजीपति को नायक के रूप में हमारे सामने लाकर अपनी सम्पूर्ण घृणा को उसके व्यक्तित्व में पुंजीभूत कर देता है। उपन्यास व्यक्ति-प्रधान है, क्योंकि उसका उद्देश्य पूँजीवाद की मूल-चेतना—व्यक्तिवाद के प्रति घृणा जगाना है। नायक असन्दिग्ध रूप से वही घृणित व्यक्ति है। परन्तु क्या आप उसके साथ तादात्म्य कर सकेंगे ? यदि ऐसा कर सकेंगे, तो यह उपन्यासकार की घोर विफलता होगी। इस तरह 'नायक के साथ तादात्म्य' भी सर्वथा सिद्ध नहीं होता और रस-परिपाक के लिए नायक का साधारणीकरण भी आश्रय के साधारणीकरण के समान ही (यद्यपि उतना नहीं) अपर्याप्त ही रहता है।

आलम्बन या आलम्बन-धर्म का साधारणीकरण—आलम्बन-धर्म के साधारणीकरण का अर्थ यह है कि काव्य में वर्णित भाव का विषय—व्यक्ति या वस्तु—यद्यपि विशेष रूप में ही प्रत्येक सहृदय के मानस-पटल पर अंकित होता है, फिर भी वह अपने कुछ सामान्य, अर्थात् सभी को प्रायः समान रूप से प्रभावित करनेवाले, गुणों के कारण समस्त सहृदय-समाज के चित्त में प्रायः एक-सा ही भाव जगाता है। इस प्रकार

साधारणीकरण मूलतः आलम्बन के उन गुणों का होता है जो सम्बद्ध भाव की जागृति के कारण हैं। सीता का सीतात्व तो नष्ट नहीं होता, पर उनके ऐसे सामान्य गुण उभरकर सामने आ जाते हैं जिनके कारण वे केवल राम के ही नहीं सम्पूर्ण सहृदय-समुदाय के अनुराग की भाजन बन जाती हैं। मैं समझता हूँ कि आचार्य शुक्ल के मत का और अधिक स्पष्टीकरण सम्भव नहीं है। परन्तु क्या यह मान्य है?

इस विषय में कुछ बातें बिलकुल साफ़ हैं। एक तो यह कि प्रस्तुत मत भट्टनायक तथा अभिनवगुप्त दोनों के मतों से भिन्न है, केवल विश्वनाथ के मन्तव्य से ही इसमें परिणामी समानता है। भट्टनायक और अभिनव दोनों ही आलम्बन आदि के व्यक्तित्व का विगलन मानते हैं—उसके बिना न विभाव का और न भाव का ही साधारणीकरण पूर्ण हो सकता है। इस स्वतःस्पष्ट तथ्य को स्वीकार करने में परेशान होने की ज़रूरत नहीं है—शुक्लजी के युग की अपनी मर्यादाएँ थीं, क्योंकि अभिनवगुप्त आदि के ग्रन्थ उस समय सुलभ नहीं थे और साथ ही उनकी चिन्तन-पद्धति भी एकान्त रूप से शास्त्रबद्ध नहीं थी। दूसरी बात यह है कि विशेष रूप को सुरक्षित रखते हुए आलम्बन के साधारणीकरण की सिद्धि वास्तव में नहीं हो सकती। स्वयं शुक्लजी को इसकी प्रतीति हुई है, इसीलिए वे आलम्बन से हटकर आलम्बनत्व या आलम्बन-धर्म तक पहुँच गये हैं—और फिर उन्हें उसको नैतिक आधार प्रदान करना पड़ा है। ऐसा आलम्बन शुक्लजी को ग्राह्य नहीं है जिसका आधार नैतिक न हो, क्योंकि उसका तो साधारणीकरण ही नहीं हो सकता। यहाँ आप देखें कि कठिनाई किस प्रकार बढ़ती जा रही है—आलम्बन, फिर आलम्बन-धर्म, और फिर उसका औचित्य या नैतिक आधार। यह सब इसलिए हो रहा है कि भाव के विषय को भाव से अधिक महत्त्व दिया जा रहा है और साधारणीकरण की प्रक्रिया में एक अंग स्वतन्त्र हो गया है। तीसरा आक्षेप यह किया जा सकता है कि इस प्रकार आलम्बन का क्षेत्र सीमित हो जाता है और परम्परा द्वारा निर्धारित आलम्बन ही काव्य में ग्राह्य हो सकते हैं—अर्थात् रामादि सदा प्रीतिकर भावों के और रावणादि अप्रीतिकर भावों के ही आलम्बन बन सकते हैं। अतः यह रस-दृष्टि परम्परागत नैतिक मूल्यों से परिबद्ध है। सामान्यतः परम्परा एवं नैतिक मूल्यों का अनुशासन श्रेयस्कर ही होता है और काव्य-मूल्य उससे सर्वथा स्वतन्त्र नहीं हो सकते, फिर भी नैतिक मूल्य और साहित्यिक मूल्य पर्याय नहीं बन सकते। इस तरह तो भाव-क्षेत्र का विकास ही रुक जाएगा। 'मेघनाथ-वध' जैसे महान् काव्यों की रसवत्ता ही खण्डित हो जाएगी। वास्तव में परम्परा और नीति-संहिता का बड़ा महत्त्व है, परन्तु मानवता उनसे भी बड़ी है। अतएव परम्परा और नीतिविधान के प्रति निष्ठावान् रहते हुए भी काव्य-मूल्यों को तो मानवीय और सार्वभौम ही बनना पड़ेगा। प्रस्तुत सिद्धान्त को यथावत् स्वीकार कर लेने पर रस का क्षेत्र सीमित हो जाता है—मानवात्मा की वह दिव्य कान्ति, जो प्रथा और नीति के आवरण को चीर जीवन के असाधारण क्षणों में कौंध जाती है, इस रस-दृष्टि के घेरे में नहीं आती और केवल माइकेल के साथ ही नहीं सूर और तोल्सतोय जैसे कलाकारों के साथ भी अन्याय हो जाता है।

सहृदय की चेतना का साधारणीकरण—सहृदय की चेतना का साधारणीकरण या निर्मुक्ति रसास्वादन की अन्तिम एवं आधारभूत क्रिया है। किन्तु यह परिणाम है : विभावादि के साधारणीकृत रूप में उपस्थित होने से अन्ततः प्रमाता की चेतना भी स्व-पर की भावना से मुक्त एकतान हो जाती है। स्वर्गीय पं० केशवप्रसाद मिश्र ने अभिनवगुप्त के प्रमाण से इसी को प्रधानता दी है : "चित्त के एकतान और साधारणीकृत होने पर उसे (प्रमाता को) सभी कुछ साधारण प्रतीत होने लगता है।"[1] किन्तु यह धारणा भी यथावत् मान्य नहीं है।—चित्त की एकतानता ही तो संविद्विश्रान्ति है और वही रस है, अतः वह साधारणीकरण का कारण नहीं हो सकती, वह तो कार्य या परिणति है। चित्त के एकतान होने पर तो प्रमाता, अभिनव के अनुसार, आत्मास्वाद-रूप रस का अनुभव करता है, उस समय उसे अन्य पदार्थों की साधारण प्रतीति के लिए अवकाश ही नहीं रहता। साधारणीकरण रसास्वाद का समरूप, सहचारी या संचारी नहीं है, वह तो कारण है। अतः यह स्थापना भी सर्वथा मान्य नहीं है कि प्रमातृ-चेतना की एकतानता ही वस्तुतः साधारणीकरण है।

सर्वांग का साधारणीकरण—अन्त में हम घूम-फिर कर भट्टनायक के इस मन्तव्य पर लौट आते हैं कि साधारणीकरण वास्तव में सर्वांग का ही होता है। उदाहरण के लिए ऊपर उद्धृत 'जनक-वाटिका प्रसंग' में आश्रय राम, आलम्बन सीता, आश्रय की चेष्टाएँ—अनुभाव, जनक-वाटिका का रमणीक वातावरण—उद्दीपन, राम के मन में संचरण करने वाले हर्ष, मति आदि भाव सभी साधारणीकृत हो जाते हैं। दूसरे शब्दों में सम्पूर्ण प्रसंग ही, विशिष्ट देशकाल-बद्ध घटना न रहकर, साधारणीकृत हो जाता है जिसके परिणामस्वरूप प्रमाता की चेतना भी व्यक्ति-संसर्गों से मुक्त—साधारणीकृत हो जाती है। किन्तु यह काव्य-प्रसंग तो अपने-आप में जड़ वस्तु है—इसका चैतन्य अंश तो इसका 'अर्थ' है। और यह अर्थ क्या है ? कवि का संवेद्य—कवि की अनुभूति, सामान्य भावानुभूति नहीं, सर्जनात्मक अनुभूति, भाव की कल्पनात्मक पुनःसर्जना की अनुभूति—भारतीय काव्यशास्त्र की शब्दावली में 'भावना'; इसी का शास्त्रीय नाम 'ध्वन्यर्थ' है जो एक ओर कवि के अर्थ को व्यक्त करता है और दूसरी ओर प्रमाता के चित्त में समान अर्थ को उद्‌बुद्ध करता है। काव्य-प्रसंग इसी का मूर्त रूप या बिम्ब है। अर्थ के अनुरूप ही यह बिम्ब सरल अथवा संश्लिष्ट होता है—प्रायः संश्लिष्ट ही होता है। उपर्युक्त बिम्ब निश्चय ही संश्लिष्ट है, उसमें अनेक लघु बिम्बों का समन्वय है। राम के विषय में कवि की भावात्मक कल्पना 'आश्रय राम' के रूप में बिम्बित हुई है, सीता-विषयक भावना 'आलम्बन सीता' के रूप में, उनके प्रथम मिलन के पावन-रमणीय वातावरण की भावना 'उद्दीपक जनकवाटिका' के रूप में और राम के मन में उद्‌भूत भावनाओं की कल्पना 'हर्ष, मति आदि संचारियों' के रूप में बिम्बित हुई है। ये छोटे-छोटे बिम्ब मिलकर एक संश्लिष्ट बिम्ब का निर्माण करते हैं जो 'रामसीता-प्रथममिलन'-विषयक कवि की संश्लिष्ट 'भावना' को शब्द-मूर्त करता है। अतः काव्य-प्रसंग और कुछ नहीं कवि की 'भावना' का बिम्ब-मात्र है—यह काव्य-

१. साहित्यालोचन—(१९९१ वि०) पृ० २८४।

प्रसंग या बिम्ब शरीर है और कवि-भावना उसको प्रकाशित करनेवाली चैतन्य आत्मा है; और, चूँकि साधारणीकरण जड़ यांत्रिक क्रिया न होकर चैतन्य क्रिया है, अतः काव्य-प्रसंग या रस के समस्त अवयवों का साधारणीकरण मानने की अपेक्षा कवि-भावना का साधारणीकरण मानना मनोविज्ञान[1] के अधिक अनुकूल है। भट्टनायक की विषयप्रधान धारणा और अभिनव की विषयिप्रधान धारणा—दोनों के साथ इसकी संगति बैठ जाती है, वस्तुतः यह दोनों के बीच अनुस्यूत सम्बन्धसूत्र है और वर्तमान युग में रससिद्धान्त के सबसे समर्थ प्रतिष्ठापक आचार्य शुक्ल को भी इसमें कोई आपत्ति नहीं है।

पिछले दशक में मेरी इस स्थापना को लेकर काफ़ी विवाद हुआ है और उसके विरुद्ध अनेक प्रकार के तर्क एवं शंकाएँ व्यक्त की गई हैं। इनमें से अनेक आक्षेप तो पूर्वग्रह अथवा व्यक्तिगत निष्ठा पर आश्रित हैं, अतः उनके पीछे तर्क अथवा सत्यान्वेषण का आग्रह इतना नहीं है जितना कि शुक्लजी के प्रति अतर्क्य विश्वास तथा गुरु-द्रोही के प्रति आक्रोश है। ये अबोध तार्किक दया के ही पात्र हैं क्योंकि ये नहीं जानते कि ये क्या कहना चाहते हैं और क्या कह रहे हैं। किन्तु दो आक्षेप ऐसे हैं जिनका समाधान विषय के स्पष्टीकरण के लिए आवश्यक है। एक आक्षेप स्वर्गीय डॉक्टर गुलाबराय का है—वे यह स्वीकार नहीं करते कि सम्पूर्ण काव्य-प्रसंग (आश्रय-आलम्बन तथा उनसे सम्बद्ध घटना आदि) कवि की अनुभूति का प्रतीक मात्र है, उसकी स्वतन्त्र वस्तु-स्थिति नहीं है : "यद्यपि यह बात किसी अंश में ठीक है कि राम-सीतादि का रूप विभिन्न कवियों की भावनाओं की अभिव्यक्ति पर ही आश्रित रहता है तथापि जनता के मन में भी परम्परागत संस्कारों से एक सामान्य भावना बनी रहती है, वही आलम्बन का विषयगत अस्तित्व है। जो बात सब के मन में वर्तमान हो वह मानसिक रहती हुई विषयगतता (Objectivity) धारण कर लेती है।"

(सिद्धान्त और अध्ययन द्वि० सं० पृ० २१३)

वास्तव में बाबूजी के इस मन्तव्य का मेरी स्थापना से कोई विशेष विरोध नहीं रह जाता, क्योंकि अन्ततः वे भी आलम्बन आदि का अस्तित्व मानसिक या संस्कारगत ही मान लेते हैं। एक जनकवाटिका-प्रसंग 'प्रसन्नराघव' में है और दूसरा 'रामचरित-मानस' में—'बाल्मीकि-रामायण' और 'साकेत' में वह है ही नहीं। ऐसी दशा में उसकी वस्तुस्थिति क्या रही? बाबूजी कहेंगे कि जन-मानस में इस प्रसंग का जो 'साधारण' संस्कार विद्यमान है—वही उसका वस्तुगत आधार है। किन्तु यह साधारण संस्कार भी तो कवि की अनुभूति से ही बना है—अथवा यों कहिए कि यह अनेक कवियों की अनुभूतियों का संघात ही तो है। और फिर, 'मानस' का जनकवाटिका-प्रसंग जनमानस के साधारण संस्कार का बिम्ब मात्र नहीं है—तुलसी के तद्विषयक मनोबिम्ब का शब्द-रूप है। इसलिए बाबूजी द्वारा प्रतिपादित विषय-सत्ता भी अन्ततः विषयिगत ही सिद्ध हो जाती है और उनका मतभेद मूल सिद्धान्त से न रहकर बलाबल

१. कुछ पण्डितप्रवर मनोविज्ञान से ही चिढ़े हुए हैं, पर इसमें न तो मनोविज्ञान का दोष है और न मेरा।

मात्र तक सीमित रह जाता है—अर्थात् उन्हें ऐसा लगा है जैसे मैंने पूरा बल कवि की विशिष्ट अनुभूति पर ही केन्द्रित कर 'साधारण' संस्कार की उपेक्षा कर दी हो। परन्तु ऐसा तो है नहीं—मैंने तो कहीं भी कवि की अनुभूति को 'विशिष्ट' या 'वैयक्तिक' अनुभूति नहीं माना।

दूसरा आक्षेप यह है कि जिस प्रकार प्रत्येक स्थिति में आश्रय के साथ तादात्म्य स्थापित करना हमारे लिए सम्भव नहीं है, इसी प्रकार प्रत्येक स्थिति में कवि के साथ तादात्म्य करने में कठिनाई हो सकती है। जिस प्रकार आश्रय की भावनाएँ हमारी भावनाओं के सर्वथा विपरीत हो सकती हैं, इसी प्रकार कवि की भी। उदाहरण के लिए यदि कोई प्रगतिवादी कवि विद्रोह की उग्र भावना से अभिभूत होकर भारतीय परम्पराओं का उपहास करता है या चिरन्तन प्रयोगशीलता का आग्रही कवि जीवन के शाश्वत मूल्यों पर व्यंग्य करता है तो उसके साथ हमारा तादात्म्य कैसे हो सकता है? अर्थात् उक्त प्रगतिवादी या नए कवि की अनुभूति का साधारणीकरण कैसे माना जा सकता है? साम्प्रदायिक भक्त कवियों के सम्बन्ध में भी यही समस्या सामने आती है। उनके 'सहचरी भाव' का साधारणीकरण किस प्रकार हो सकता है? इस समस्या का समाधान भी कठिन नहीं है। ये सभी परिस्थितियाँ वास्तव में ऐसी हैं जहाँ स्वयं कवि अपनी भावना का साधारणीकरण करने में असमर्थ रहता है—साम्प्रदायिक चेतना अथवा राजनीतिक या साहित्यिक पूर्वग्रह के कारण उसकी अनुभूति विशिष्ट ही रहती है। और, जब कवि स्वयं ही अपनी अनुभूति के साधारणीकरण में असमर्थ रहता है तब पाठक या पाठक-समाज के चित्त में समान अनुभूति का उद्बोध वह कैसे कर सकता है? इस प्रकार मूलतः असाधारणीकृत या साधारणीकरण के अयोग्य कवि-अनुभूति का उदाहरण देकर हमारी स्थापना को असिद्ध नहीं किया जा सकता। वास्तव में उपर्युक्त उदाहरणों में तो अनुभूति व्यक्तिगत ही रह जाती है, काव्यानुभूति बन ही नहीं पाती, क्योंकि कवि अथवा यों कहें कि कवि-कर्म में रत व्यक्ति स्वयं अपने चित्त को एकतान नहीं कर पाया—वह तो अपने व्यक्तिगत, वर्गगत या सम्प्रदायगत[1] भाव को ही वाणी दे रहा है और व्यक्तिगत भाव की अभिव्यक्ति कविता नहीं होती। इसके विपरीत जहाँ उसका कवि-कर्म सफल हो जाता है, जैसे कि 'मेघनाद वध' में, वहाँ साधारणीकरण हो जाता है और हिन्दू पाठक भी अपने व्यक्तिगत या जातिगत संस्कारों से मुक्त होकर शुद्ध सहृदयता की भूमि पर कवि के साथ कुछ समय के लिए तादात्म्य कर लेता है।

"अतएव निष्कर्ष यही निकला कि साधारणीकरण कवि की अनुभूति का होता है अर्थात् जब कोई व्यक्ति अपनी अनुभूति की इस प्रकार अभिव्यक्ति कर सकता है कि वह सभी के हृदयों में समान अनुभूति जगा सके तो पारिभाषिक शब्दावली में हम कहते हैं कि उसमें साधारणीकरण की शक्ति वर्तमान है। अनुभूति सभी में होती है, सभी व्यक्ति उसे यत्किंचित् व्यक्त भी कर लेते हैं, परन्तु साधारणीकरण करने की शक्ति सब में नहीं होती। इसीलिए तो अनुभूति और अभिव्यक्ति के होते

१. वर्ग-चेतना और साम्प्रदायिक चेतना भी व्यक्ति-चेतना का ही प्रक्षेपण मात्र है।

हुए भी सब कवि नहीं होते। कवि वह होता है जो अपनी अनुभूति का साधारणीकरण कर सके, दूसरे शब्दों में 'जिसे लोक-हृदय की पहचान हो।' यहाँ आकर ये सभी बाधाएँ आप दूर हो जाती हैं कि किसी आश्रय का व्यक्तित्व हमारे विपरीत है, या कोई नायक हमारे घृणा और क्रोध का विषय है, अथवा किसी आलम्बन के प्रति हमारा भाव-विशेष अनुचित है। आश्रय-रूप रावण यदि कहीं राम की भर्त्सना करता है तो क्या हुआ ? हमारी रसानुभूति में कोई बाधा नहीं आती, क्योंकि हमारे अन्तर में तो वही अनुभूति जागेगी जो कवि ने इस प्रतीक द्वारा व्यक्त की है। माईकेल को रावण से सहानुभूति है इसलिए 'मेघनाद-वध' का यह प्रसंग हमारे हृदय में रावण के लिए सहानुभूति और राम के प्रति तुच्छभाव जागृत करेगा। तुलसी को यदि राम के प्रति भक्ति और रावण के प्रति घृणा है तो यह प्रसंग उसी के अनुकूल हमारे लिए रावण को उपहास्य या तुच्छ भाव या घृणा का विषय बनाकर राम के प्रति हमारी भक्ति जागृत करेगा। हमको रस दोनों ही अवस्थाओं में आएगा। आश्रय यदि भिन्नलिंगी है—पुरुष पाठक के सामने 'खण्डिता' का विरह-निवेदन या नारी पाठक के समक्ष खलनायक की मनुहारों का वर्णन है—तब भी कोई अन्तर नहीं पड़ता क्योंकि हम न खण्डिता से तादात्म्य करते हैं और न खलनायक से : हमारा तादात्म्य तो इन बिम्बों द्वारा व्यक्त कवि-भाव के साथ होता है। इसी प्रकार यदि साम्यवादी लेखक के उपन्यास का पूँजीपति नायक अपनी कुत्साओं में जघन्य है तो हुआ करे, हम उससे तादात्म्य थोड़े ही स्थापित करते हैं। हम (हमारी अनुभूति) लेखक (की अनुभूति) से तादात्म्य स्थापित करते हैं। अतएव हम लेखक की तरह ही उसकी जघन्यता के प्रति अपनी घृणा और क्रोध जागृत कर उपन्यास का रस लेंगे। ठीक इसी तरह यदि सीता में हमारी परम्परागत पूज्य-बुद्धि है तो हो। यह सीता नहीं है, यह तो कवि की अनुभूति का प्रतीक है। तुलसी को यदि उसके प्रति अमिश्रित रति की अनुभूति न होकर श्रद्धा-मिश्रित रति की अनुभूति होती है तो हमको भी वैसी ही होगी। हम राम से तादात्म्य न करके तुलसी से ही तादात्म्य कर पाएँगे। ऐसी दशा में हमको रसानुभूति तो होगी पर अमिश्रित शृङ्गार की नहीं। इसके विपरीत 'कुमारसम्भव' या रीतिकालीन राधा-कृष्ण-प्रेम-प्रसंगों को पढ़कर यदि हमें अमिश्रित शृंगार की अनुभूति होती है तो उसका कारण यही है कि तुलसी के विपरीत कालिदास या रीति-युग के कवि की तद्विषयक अनुभूति अमिश्रित रति की ही अनुभूति थी। उसमें कोई मानसिक ग्रन्थि नहीं थी। यह सीधा सत्य है जिसे एक ओर साधारणीकरण के आविष्कारक भट्टनायक और अभिनवगुप्त भारत की अव्यक्तिगत काव्य-परम्परा के कारण, दूसरी ओर आधुनिक आलोचना में उसके सबसे प्रबल पृष्ठपोषक शुक्लजी अपनी वस्तुपरक या नैतिक रस-दृष्टि के कारण, अभिज्ञ होते हुए भी, सर्वथा स्पष्ट रूप में व्यक्त नहीं कर पाए।

अगर आप ऊब न गए हों तो आइए एक और आवश्यक प्रश्न का समाधान कर लिया जाय। साधारणीकरण कवि के लिए किस प्रकार सम्भव होता है ? वह किस प्रकार अपनी अनुभूति का साधारणीकरण करता है ? स्वदेश-विदेश के पण्डितों

ने इसके दो उत्तर दिए हैं—(१) साधारणीकरण भाषा का धर्म है। (२) साधारणीकरण का मूलाधार मानव-सुलभ सहानुभूति है, जो सभी मनुष्यों के हृदय में एकतार अनुस्यूत है।

पहले उत्तर में भट्टनायक और अभिनवगुप्त की ध्वनि है। भट्टनायक काव्य (काव्यमय शब्द) में ही एक ऐसी 'भावकत्व' शक्ति मानते हैं जिससे कि भाव का आप-से-आप साधारणीकरण हो जाता है। अभिनवगुप्त शब्द में भावकत्व की कल्पना को निराधार मानते हुए शब्द की सर्व-प्रधान शक्ति व्यंजना में साधारणीकरण की सामर्थ्य मानते हैं। विदेश के पण्डित भी भाषा को ऐसे ज्ञान और भाव-प्रतीकों का समूह मानते हैं, जो उन विशेष ज्ञान-खण्डों और भावों को समान रूप से सबकी चेतना में जगा सकें। ज्ञान और भाव वास्तव में एक-दूसरे के विपरीत न होकर चेतना के दो संस्थान हैं: ज्ञान पहला संस्थान है, भाव दूसरा। कभी तो ऐसा होता है कि कोई प्रतीक-विशेष हमारी चेतना में किसी वस्तु का ज्ञान-मात्र ही जगाकर रह जाता है, और कभी ज्ञान के आगे उसका 'भावन' भी करा देता है। भाषा के ये ही दो प्रयोग हैं। एक वह जिसमें प्रतीक केवल ज्ञान जगाते हैं, दूसरा वह जिसमें भाव भी जगाते हैं। पहला प्रयोग हम सभी साधारणतः व्यवहार में लाते हैं, दूसरा केवल भाव-दीप्त क्षणों में—जब हमारे अपने भाव प्रतीकों पर आरूढ़ होकर उन्हें इतना भावमय बना देते हैं कि उनमें सुननेवालों के हृदयों में भी समान भाव उद्‌बुद्ध करने की शक्ति आ जाती है। तात्पर्य यह है कि शब्दों को भावोद्दीपन करने की शक्ति मूलतः हमारे भावों से ही प्राप्त होती है। अब यदि आप पूछें कि एक व्यक्ति का भाव दूसरों के हृदयों में समान भाव कैसे उत्पन्न कर देता है तो इसका उत्तर यही है कि मूलतः सम्पूर्ण मानवता एक चेतना से चैतन्य है। मानव-मानव के हृदय में (भारतीय दर्शन तो चराचर को भी अपनी परिधि में समेट लेता है) चेतना का ऐसा एक तार अनुस्यूत है जो एक स्थान पर भी स्पर्श पाकर समग्रतः झंकृत हो जाता है। आपको चाहे इस कथन में रहस्यवाद की गन्ध आए, परन्तु मनोविज्ञान, शरीर-शास्त्र और अध्यात्म अभी इससे आगे नहीं बढ़ पाए हैं।

अतएव साधारणीकरण का आधार है भाषा का भावमय प्रयोग। भाषा का भावमय प्रयोग प्रयोक्ता की अपनी भाव-शक्ति पर निर्भर रहता है, और प्रयोक्ता के भावों की संवेदन-शक्ति का आधार है—मानव-सुलभ सहानुभूति।

"भाव-शक्ति थोड़ी-बहुत सभी में होती है। इसलिए साधारणीकरण की भी शक्ति थोड़ी-बहुत सभी में होती है, अन्यथा जीवन की स्थिति ही सम्भव नहीं। परन्तु साधारणीकरण की विशेष शक्ति उसी व्यक्ति में होगी जिसकी भाव-शक्ति विशेष रूप से समृद्ध हो, जिसकी अनुभूतियाँ विशेष रूप से सजग हों। ऐसा ही व्यक्ति भाषा का भावमय प्रयोग कर सकता है, अर्थात् अपने समृद्ध भावों के बल पर वह उनके प्रतीकों को सहज ही ऐसी शक्ति प्रदान कर सकता है कि वे दूसरों के हृदयों में भी समान भाव जगा सकें। ऐसा ही व्यक्ति कवि है।"

(रीतिकाव्य की भूमिका से उद्‌धृत)

मधुरेश

रांगेयराघव के उपन्यास

रांगेयराघव का अति लेखन और उनके साहित्य का विपुल आकार उनके सम्यक् मूल्यांकन में सदैव एक बाधा रहा है। उनकी बहुमुखी सृजनशक्ति के प्रति आश्चर्य करते हुए भी आलोचकों ने बहुधा ही उसकी उपेक्षा की है। यही कारण है कि जहाँ दूसरे लेखकों की साधारण कृतियों पर भी बहुत-कुछ कहा-लिखा गया, एकाधिक दृष्टि-कोणों से उन पर चर्चाएँ हुईं, रांगेयराघव की श्रेष्ठ और महत्वपूर्ण कृतियाँ भी अन-देखी और उपेक्षित रह गईं। इसके कारणों का विवेचन-विश्लेषण अन्यत्र मैं विस्तार से कर चुका हूँ।[1] यहाँ प्रस्तुत निबन्ध में रांगेयराघव के सम्पूर्ण उपन्यास-साहित्य की विवेचना और उसकी उपलब्धियों एवं सीमाओं का निर्देश ही अपेक्षित है।

रांगेयराघव हिन्दी-भाषी नहीं थे। परन्तु अपनी मातृभाषा तमिल में न लिख-कर उन्होंने हिन्दी में लिखा और बहुत थोड़े अर्से में साहित्य की लगभग सारी विधाओं पर छा गए। उपन्यासकार के रूप में उनका आगमन 'घरौंदे' के साथ हुआ। 'घरौंदे' उनका प्रथम उपन्यास था परन्तु उसके लेखक के भविष्य और विस्मयकारी क्षमताओं का संकेत उससे मिल सका। प्रो० प्रकाशचन्द्र गुप्त ने उसकी समीक्षा करते हुए लिखा था, "श्री रांगेयराघव हिन्दी में धूम्रकेतु की गति से उदय हुए हैं···आपकी रचनाओं में बल, वेग और सामाजिक-चेतना है; उन्माद, आँधी की गति और बरसाती नदी का वेग है; और किनारे काटकर वन-भूमि में फैल जाने की स्वच्छन्दता है।"[2] किसी नये लेखक की प्रथम रचना होने के नाते अनिवार्य रूप से उसमें बहुत सी त्रुटियाँ हैं, विचार और शिल्पगत अपरिपक्वता भी उसमें है। परन्तु जो बात महत्वपूर्ण है वह यह है कि वह स्रष्टा के गौरवपूर्ण भविष्य के स्पष्ट संकेत छोड़ता है और सहज ही एक विश्वास और आस्था पैदा करता है। प्रो० गुप्त ने समीक्षा समाप्त करते हुए लिखा था, 'लेखक ने 'घरौंदे' बनाये हैं, आगे चलकर वह घर भी बनायेगा। यह विकास का स्वाभाविक क्रम है। जैसी शक्ति श्री रांगेयराघव ने अपने प्रथम प्रयास में प्रगट की है, वह साहित्य की साधारण घटना नहीं। यह हिन्दी में एक नयी सृजन-शक्ति के अभ्युदय की सूचना है।"[3]

'घरौंदे' से 'आखिरी आवाज' तक रांगेयराघव ने एक लम्बा रास्ता तय किया

१. देखिए 'लहर' सितम्बर '६३ में मेरा लेख "रांगेयराघव : अध्ययन की समस्याएँ"।
२. आधुनिक हिन्दी साहित्य : एक दृष्टि १८०।
३. वही १८३।

है। कुल मिलाकर उन्होंने लगभग अड़तालीस उपन्यास लिखे हैं। आलोचकों ने उनके प्रति अपनी उपेक्षा को बहुधा सिद्धान्त की आड़ में ढांकने की कोशिश की है। उनकी असामयिक मृत्यु के बाद जब उनके साहित्य के प्रति इस उदासीन रवैये को अपेक्षाकृत अधिक गम्भीरता से महसूस किया गया तो समीक्षकों ने या तो उनकी कुछ सामान्य स्वीकृत त्रुटियों को ही ज़ोर-ज़ोर से दोहराया (जैसे वही उनके रवैये का जॅस्टीफिकेशन भी हो!) या फिर कुछ साधारण कृतियों को लेकर उनके सम्पूर्ण साहित्य पर निष्कर्ष निकाले और मनचाहे फ़तवे दिये। एक समीक्षक का मत है: "उनकी अधिकांश रचनाओं में संयम और चयन की, स्रष्टा के मौलिक कलाबोध की, स्थिर सम्वेदना की बड़ी भारी कमी है···आत्मा को झकझोरने वाली तीव्र अनुभूति का प्रचण्ड वेग बहुत ही कम, उनमें बुद्धि का विलास अधिक है, मन का विक्षोभ कम। इसलिये इतना अधिक लिखने पर भी (या कि इसी कारण ही?) रांगेयराघव हिन्दी कविता या उपन्यास के क्षेत्र में वह स्थान कभी न प्राप्त कर पाये जो उनके कई समकालीनों या परवर्तियों को केवल एक-दो रचनाओं के बल पर ही सहज प्राप्त हो सका है।"[1] आलोचकों को आपत्ति है कि रांगेयराघव का ज्ञान और पांडित्य उनके सृजन को अवरुद्ध करता है कि उस 'कच्चे-पक्के ज्ञान के प्रदर्शन' में ही उनकी कला चुक जाती है। अपने मत के समर्थन में वे जिन भारी-भरकम शब्दों और लम्बी-चौड़ी दलीलों का प्रयोग करते हैं उनके स्पष्टीकरण और विश्लेषण की कोई आवश्यकता नहीं समझते। 'संयम और चयन', 'मौलिक कलाबोध' और 'स्थिर सम्वेदना' आखिर इन वजनी शब्दों का क्या अर्थ है? और फिर 'पतझर' और 'आखिरी आवाज़' के सन्दर्भ में निकाले गये यह निष्कर्ष उनके सम्पूर्ण साहित्य पर लागू करना कहाँ तक उचित है? वैसे यह कुछ ऐसे 'रेडीमेड' आरोप हैं जो समय-समय पर यशपाल, रांगेयराघव, राजेन्द्र यादव या किसी भी और लेखक पर आसानी से चस्पा किये जा सकते हैं, बहुधा किये भी गये हैं। अपने 'लहर' वाले लेख में मैंने रांगेयराघव के उपन्यासों और इतर औपन्यासिक कृतियों के अपेक्षाकृत घटिया स्तर के स्वाभाविक कारणों का विश्लेषण किया है। उस सबको दोहराये बिना यह संकेत करना उचित होगा कि रांगेयराघव का अधिकांश लेखन ज़िद और आग्रह के परिणाम के तौर पर हुआ है। शायद ही किसी और लेखक ने प्रकाशकों और मित्रों के आग्रह और सुझाव पर इतना लिखा हो जितना रांगेयराघव ने। उस ज़िद और आग्रह के भी विविध रूप रहे हैं। बहुधा वह ज़िद सैद्धान्तिक रूप में 'विषाद-मठ' और 'सीधा-सादा रास्ता' में प्रकट हुई है। इसके विपरीत प्रकाशकों की माँग को पूरा करने के लिए उन्होंने 'राई और पर्वत' एवं 'कब तक पुकारूँ' जैसे उपन्यास क्रमशः तीन दिन और एक महीने में लिखे हैं। नौकरी छोड़कर वह स्वतन्त्र लेखन की ओर आये और उसी पर निर्भर करने की ज़िद पाले रहे। आज भी हिन्दी और दूसरी भारतीय भाषाओं में कितने ऐसे लेखक हैं जो महज़ लेखन पर ही रह सकते हैं, रह रहे हैं? उनके उपन्यासों का स्तर निर्विवाद रूप से अत्यन्त असम है। एक ही स्थान पर अच्छा और बुरा बहुधा ही अपने आत्यन्तिक

१. नेमिचन्द्र जैन : 'धर्मयुग' १५ सितम्बर '६३।

छोरों पर—जुड़ा-गुँथा है। जो चीज़ खेदजनक है वह यह कि बुरे के साथ उनके अच्छे को भी अनदेखा किया गया है और इस उपेक्षा के मूल में बहुधा ही समीक्षकों का दुराग्रह रहा है।

अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से रांगेयराघव के सम्पूर्ण उपन्यास-साहित्य का विभाजन इस प्रकार कर सकते हैं :

(१) सामाजिक उपन्यास : (अ) शहरी जीवन से सम्बन्धित उपन्यास
(ब) ग्रामीण जीवन-सम्बन्धी उपन्यास

(२) ऐतिहासिक उपन्यास

(३) जीवन चरितात्मक उपन्यास

(४) आंचलिक उपन्यास

शहरी जीवन से सम्बन्धित उपन्यासों में रांगेयराघव ने बहुत-सी समस्याओं को लिया है। 'छोटी सी बात', 'विषाद-मठ', 'राई और पर्वत', 'सीधा-सादा रास्ता', 'हुज़ूर', 'प्रोफ़ेसर', 'कल्पना', 'उबाल', 'पतझर' आदि उपन्यास इसी कोटि में आते हैं। 'छोटी सी बात' पत्र-शैली का उपन्यास है जिसमें स्त्री-पुरुष के पारस्परिक सम्बन्धों और स्त्री की सामाजिक स्थिति का विश्लेषण मिलता है। 'विषाद-मठ' बंगाल के अकाल की पृष्ठभूमि पर लिखा गया है जिसमें लेखक ने त्रस्त मानवता का करुणापूर्ण चित्र अंकित किया है। यह एक ऐसी कृति है जो लेखक के मानवतावादी पक्ष को उसकी सम्पूर्णता में उभारती है। उपन्यास लिखने से पूर्व लेखक ने उस क्षेत्र का दौरा किया था और अभिशप्त-पीड़ित मानवता को मुँह-दर-मुँह देखा था। पुस्तक में एकाध स्थान पर बलात्कार आदि के दृश्य भी हैं। परन्तु आश्चर्यजनक संयम के साथ सहज कुछ संकेत देकर और अपेक्षित प्रभाव पैदा करके लेखक आगे बढ़ जाता है। कहीं भी ऐसा नहीं होता कि लेखक रुचि लेकर, तल्लीन होकर कुरुचि और कुत्सा को उभारता हो। 'सीधा-सादा रास्ता' और 'हुज़ूर' अलग-अलग ढंग से लेखक के साम्यवादी रूप को उद्घाटित करते हैं। 'सीधा-सादा रास्ता' भगवतीचरण वर्मा के 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' के उत्तर में लिखा गया है। दोनों ही उपन्यासों को लेकर आलोचकों में गहरा मतभेद रहा है। भगवती बाबू ने, जैसा कि सामान्यतः स्वीकार किया गया है, वैज्ञानिक समाजवाद की पीठ में छुरा भोंका है। अपने मत के समर्थन में उन्होंने अपने साम्यवादी पात्रों को तोड़-मरोड़कर विकृत रूप में प्रस्तुत किया है। रांगेयराघव ने उसी कथा को साम्यवादी दृष्टिकोण से लिखा है। डॉ० गणेशन ने पता नहीं किस आधार पर माना है : '' 'टेढ़े-मेढ़े राते' में पात्रों को लेखक ने अपने से पूर्णतया मुक्त रखा है, कहीं उन पर जबर्दस्ती अपने मतों का आरोप नहीं किया है। इसके विरुद्ध रांगेयराघव ने जो सीधा-सादा रास्ता दिखाया है, वह लेखक के विचारों से स्वतन्त्र नहीं है। किसी एक मार्ग को ठीक बताने के लिए लेखक को कुछ विचारधाराओं का समर्थन करना पड़ता है और वह निरपेक्ष नहीं रह पाता। रांगेयराघव जातीय आदर्श प्रस्तुत कर पाये हैं; कलात्मक दृष्टि से उनके सज्जित दृश्य यथार्थवादी हैं पर उनके दृष्टिकोण

पर व्यक्तिगत विचारों का प्रभाव अवश्य है।[1]

लेखक के दृष्टिकोण पर व्यक्तिगत विचारों के आरोप का कोई विशेष कारण नहीं है। हर लेखक अपनी कृति में अपने व्यक्तिगत विचारों को व्यक्त करता है और जितनी ईमानदारी से वह ऐसा कर पाता है उसी अनुपात में वह अपनी कृति को शक्ति-सम्पन्न करता है। विरोधी विचारधारा के प्रति हठधर्मी और अनावश्य दुराग्रह लेकर रांगेयराघव नहीं चले हैं। अपने मन्तव्य को स्पष्ट करने के लिए अपने तथाकथित विरोधीपक्ष को उन्होंने कहीं भी ग़लत ढंग से पेश नहीं किया है। 'हुज़ूर' अपेक्षाकृत कमज़ोर कृति है क्योंकि उसके शिल्प से लेखक बँध-सा गया है और उसका 'प्रयोजन' कृति की आत्मा बन सकने की अपेक्षा उस पर आरोपित-सा अधिक है। उपन्यास के अन्त तक पहुँचते-पहुँचते वह विदेशी कुत्ता जो सारी कहानी कहता है, सोचता है—"इंसान दौलत के पीछे पागल है। उसका निज़ाम ऐसा है कि वह गलाज़त से भरा है। जातियों का उठना-गिरना उसके धन और शक्ति के बल पर चलता है। आज मैं अनुभव करता हूँ कि जब तक श्रम करनेवाले को ही समाज में उत्पादन के साधनों पर अधिकार नहीं मिलेगा इंसान और उसकी दुनिया निरन्तर ऐसे ही भटकती रहेगी। उसे कहीं भी चैन नहीं मिलेगा।"[2]

इस विचारधारा का निर्वाह पूरे उपन्यास में कहीं नहीं हुआ है अन्त में बस टिप्पणी के तौर पर इसे चिपका दिया है। 'कल्पना' और 'प्रोफेसर' में भी लगभग ऐसा ही होता है गोकि उनमें लेखक ने कोई राजनैतिक दृष्टिकोण या 'दर्शन' देने की कोशिश एकदम नहीं की है। 'कल्पना' में आधुनिक नारी की समस्या है और 'पतझर' के समान इसमें भी इतिहास और समाजशास्त्र के आधार पर अपने मत और दृष्टिकोण की पुष्टि की गई है। 'प्रोफेसर' देश के पेशेवर भिखमंगों की समस्या से सम्बन्धित है। परन्तु उसमें समस्या को न तो गम्भीर स्तर पर उठाया ही गया है और न उसके इस रूप में निर्वाह का ही कोई प्रयास उसमें मिलता है। स्पष्ट लगता है कि महज़ एक साधारण-सी कहानी को खींचकर उपन्यास का रूप दे दिया गया है।

इस प्रकार सामाजिक उपन्यासों में रांगेयराघव ने अपने बहुविध चिन्तन को व्यक्त किया है। चूंकि संख्या और परिमाण की दृष्टि से उन्होंने बहुत अधिक लिखा है, बहुधा किसी सयस्या को देखकर या कल्पना करके उन्होंने उपन्यासों का ताना-बाना बुना है, उसी के अनुरूप पात्र गढ़ लिये हैं और सामान्यत: बहुत जल्दबाज़ी में उन्हें खत्म कर दिया है। परन्तु बेहिसाब सीमाओं-त्रुटियों के बावजूद इस कोटि के उपन्यासों में भी उनका मानवतावादी दृष्टिकोण, मार्क्सवादी जीवन-दर्शन और स्वतन्त्र भारत की अव्यवस्था पर व्यंग-आक्रोश एवं अर्थहीन मान्यताओं का विरोध स्थान-स्थान पर उभरे हैं।

ग्रामीण जीवन के बारे में रांगेयराघव के दो उपन्यास अधिक प्रसिद्ध हैं 'पथ का पाप' और 'आखिरी आवाज़'। इन उपन्यासों में लेखक ने स्वतन्त्रता प्राप्ति के

१. हिन्दी उपन्यास साहित्य का अध्ययन : ३४५।
२. हुज़ूर : ११०।

बाद के बदले हुए गाँवों के और भी तेज़ी से बदले हुए रूप को लिया है। आज़ादी के बाद समस्याएँ भी बदली हैं और उनका रूप भी। 'पथ का पाप' एक ऐसे व्यक्ति की कहानी है जो अपनी सारी व्यक्तिगत-सामाजिक बुराइयों के बावजूद समाज का सबसे सुखी और सफल व्यक्ति है। उपन्यासों का रूढ़, भोला-भाला किसान न होकर वह ऐसा हर-फन मौला है जो धोखा देने में गज़ब की हद तक माहिर है और इससे भी बड़ी बात यह कि अन्त तक वह अपने असली चेहरे को ढाँककर रख सका है। 'आखिरी आवाज़' गाँव के नैतिक स्खलन, पंचायतों का स्वरूप और मुकदमेबाज़ी आदि से सम्बन्धित है। इसमें लेखक ने अन्तःकरण की विजय दिखाई है कि सारी बुराइयों के बीच भी कुछ है जो मनुष्य के पथ को आलोकित करता है और उसे अन्धकार से प्रकाश की ओर ले जाता है।

रांगेयराघव के ऐसे उपन्यासों की सबसे बड़ी कमज़ोरी यह है कि इनमें गाँवों के अनैतिक, दुर्बल और अमानवीय पक्ष को ही लिया गया है। सब मिलाकर वे गाँवों की एकांगी, फलतः अपूर्ण तस्वीर पेश करते हैं। जीवन के उदात्त पक्ष से उनका अधिक सम्बन्ध नहीं है। गाँवों में फैले बहुविध व्यभिचार को ही उनमें अधिक विस्तार मिला है। जमींदारी खतम हुई, किसानों के शोषण का रूप बदला परन्तु वह खतम नहीं हो गया। आज़ादी के बाद नेताओं का एक ऐसा वर्ग उभरा जो मकड़ी के समान अपना जाला गाँवों में भी पूरता गया। 'आखिरी आवाज़' में बड़े निर्विकार और निर्मम भाव से लेखक ने ऐसे वर्ग का रूप उद्‌घाटित किया है। परन्तु अधिकांश में यह उपन्यास सारी प्रतिक्रियावादी ताकतों को उभारने में ही चुक जाते हैं। उनके सक्रिय विरोध के लिए संघर्ष के अनिवार्य तत्त्वों की उनमें प्रायः ही विरलता है। इस प्रकार समाजवादी यथार्थ की अपेक्षा यथार्थ के विकृत और अस्वस्थ रूप को ही वे अधिक प्रस्तुत करते हैं। 'पथ का पाप' की शैली और कथ्य व्यंगात्मक है। उसमें लेखक ने यह स्पष्ट किया है कि व्यभिचारी और नैतिक मान-मूल्यों से हीन व्यक्ति ही समाज का सबसे सफल व्यक्ति है और समाज का इससे भी बड़ा व्यंग यह है कि वही व्यक्ति समाज का आदर्श व्यक्ति भी समझा जाता है। परन्तु सब मिलाकर कला की दृष्टि से वह एक नितान्त असफल रचना है। स्वाभाविक-अस्वाभाविक घटनाओं की उसमें भरमार है और कोई भी सकारात्मक जीवन-दृष्टि उससे नहीं उभरती है।

रांगेयराघव के सृजन का सर्वश्रेष्ठ रूप उनके ऐतिहासिक उपन्यासों में मिलता है। वह एक चिन्तनशील लेखक थे। अपनी प्रगतिवादी मान्यताओं और जीवन-दर्शन को उन्होंने भारतीय इतिहास और संस्कृति की विशाल पटभूमि पर देखा-परखा था। प्राचीन भारतीय संत-परम्परा के मानवतावादी रूप ने उन्हें अत्यधिक प्रभावित किया था। बौद्ध-धर्म उनके लिए किसी धर्म विशेष से अधिक सम्पूर्ण मानव-जाति की शान्ति और जनमंगल का प्रतीक है। यही कारण है कि उनका चिन्तन और विचारधारा अतीत इतिहास के परिप्रेक्ष्य में अधिक स्पष्टता से उभरी है। भारतीय इतिहास के बहुत बड़े अंश को उन्होंने अपने उपन्यासों और गाथाओं के माध्यम से

प्रस्तुत किया है। ऐतिहासिक उपन्यास लिखने की आभ्यन्तरिक अनिवार्यता का विश्लेषण करते हुए रांगेयराघव ने लिखा है : " 'घरौंदे' के बाद मेरे सामने दो रूप खड़े हुए। एक ओर जीवन के यथार्थ ने मुझे वर्तमान में अपनी ओर अधिक खींचा तो दूसरी ओर भारत की आत्मा, उसकी यात्रा और संस्कृति की महान् गति ने मुझे आकर्षित किया और मैंने अतीत के विभिन्न युगों के संघर्षों में मनुष्य को पहचानने का प्रयत्न किया···"[1] परिणामस्वरूप प्रमुख ऐतिहासिक उपन्यासों के अतिरिक्त उन्होंने डॉ० भगवतशरण उपाध्याय के 'गर्जन' और 'सवेरा' एवं राहुल सांकृत्यायन के 'वोल्गा से गंगा' के ढंग पर 'महायात्रा' प्रारम्भ की थी। अपने पूर्ववर्तियों की अनिवार्य सीमाओं से बचते हुए वह मानव-समाज के ऐतिहासिक विकास को इस प्रकार गाथाओं के माध्यम से प्रस्तुत करना चाहते थे। मूलरूप में उनकी योजना चार वृहद खण्डों में उसे पूर्ण करने की थी परन्तु 'महायात्रा' की परिसमाप्ति से पूर्व अपेक्षाकृत और भी महान् यात्रा पर वह निकल गए! इसके प्रथम खण्ड 'अँधेरा रास्ता' में प्रगैतिहासिक काल से लगभग १५००० ई० पू० तक के मानव-समाज की विकास-यात्रा को लिया गया है।

इसके अतिरिक्त उनके प्रमुख ऐतिहासिक उपन्यास 'मुर्दों का टीला', 'चीवर' 'पक्षी और आकाश', 'राह न रुकी' और 'अँधेरे के जुगनू' आदि हैं। इन सारे उपन्यासों में रांगेयराघव ने अपनी अबाध कल्पना-शक्ति द्वारा सुदूर अतीत को विश्वसनीय और मोहक रंगों में प्रस्तुत किया है। इन उपन्यासों में मनुष्य और समाज के सन्दर्भ में कुछ शाश्वत समस्याओं को लिया गया है। 'मुर्दों का टीला' मोहनजोदड़ो की महान् सभ्यता-संस्कृति के विनाश की गाथा है। अत्यन्त निर्विकार और असम्पृक्त भाव से लेखक ने द्रविड़-सभ्यता के स्वर्णयुग की कहानी कही है। प्रकारान्तर से दासप्रथा का स्वरूप और गणतन्त्रात्मक शासन की समस्याओं को भी लिया गया है। 'मुर्दों का टीला' की भूमिका में रांगेयराघव ने इतिहास के प्रति वैज्ञानिक दृष्टि-कोण—तटस्थता और निरपेक्षता की बात कही है : "इसमें मैंने विशेष ध्यान रखा है कि उस काल के अनुसार ही सबका वर्णन किया जाए।···खेद है आपको यहाँ 'दास' दासों की सी बात करता मिलेगा। उसकी परिस्थिति प्रगट है। वह उस काल के दार्शनिकों की सी शिक्षित बहस नहीं कर सकता, न वह वैज्ञानिक भौतिकवाद मानता है न द्वन्द्वात्मक—ऐतिहासिक व्याख्या ही। मैं समझता हूँ इतिहास को इति-हास की सफल झलक करके देना ठीक है, न कि अपने-आपको पात्र बनाकर किये कराए पर पानी फेर देना।"

लेखक के इस दृष्टिकोण पर टिप्पणी करते हुए जगदीश गुप्त[2] ने लिखा था "रांगेयराघव का दृष्टिकोण व्यक्तिगत रूप से मुझे अधिक संयत और मोहनजोदड़ो की सभ्यता को अपेक्षाकृत तटस्थभाव से देखने का संकल्प अधिक श्लाघनीय प्रतीत हुआ। उनका 'दास' दासों की सी बात करता है या नहीं इसके आत्यन्तिक निर्णय के

१. साहित्य-सन्देश : आधुनिक उपन्यास अंक : 'उपन्यास कैसे लिखे गए?' ८७।
२. 'मुर्दों का टीला' की भूमिका।

साधन तो किसी के पास उपलब्ध नहीं हैं, क्योंकि उस समय की लिपि तक अभी पढ़ी नहीं जा सकी है, किन्तु जो विचार आधुनिक हैं उनसे हमारा परिचय अवश्य है। हमारे लिये इतना ही पर्याप्त है कि वह आधुनिक जीवन-दर्शन, तर्क-शैली तथा विचार-प्रवाह से प्रायः मुक्त है और आदिम समाज के संस्कार उसमें परिलक्षित होते हैं। कहीं भी लेखक ने सप्रयास आधुनिक जीवन की समस्याओं को आरोपित करने का कौशल नहीं दिखाया है।"[1] यह ठीक है कि आधुनिक जीवन की समस्याओं का प्रक्षेपण उनके उपन्यासों में बहुधा नहीं मिलता है परन्तु कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी या दूसरे अतीत प्रेमी उपन्यासकारों की भाँति केवल गौरवमण्डित अतीत का चित्रांकन ही उन्हें अभीष्ट नहीं है। इतिहास को मार्क्सीय दृष्टि से देखने वाले अन्य लेखकों की भाँति रांगेयराघव के लिए भी वह विश्वास की अपेक्षा विवेचन-विश्लेषण की वस्तु ही अधिक है। परन्तु शुष्क ऐतिहासिक तथ्यों का संकलनमात्र उनके उपन्यासों में नहीं मिलता है। उनका चिन्तन और दृष्टिकोण उनके पात्रों के माध्यम से व्यक्त हुआ है, होना चाहिए था, परन्तु वे पात्र अपने युग की सीमाओं से अधिकांश में नियन्त्रित और अनुशासित रहते हैं। व्यक्ति से अधिक उनकी दृष्टि युग पर रहती है और युग के अन्दर से उनका व्यक्ति उभरता है: "प्रायः ही मैंने अपनी ऐतिहासिक रचनाओं में युग को देखा है और युग के माध्यम से देखा है व्यक्ति। और व्यक्ति के बारे में कह सकता हूँ कि वह निरन्तर सत्य की खोज करता रहा है।"[2]

उनका यह दृष्टिकोण ही उनके उपन्यासों में नारी की सामाजिक स्थिति और उसके परिवर्तितरूप, व्यक्ति और समाज का पारस्परिक सम्बन्ध तथा युद्ध और शान्ति की समस्याएँ आदि चिरन्तन और शाश्वत महत्त्व के प्रश्नों पर ही बल देता रहा है और अतीत के व्यापक परिप्रेक्ष्य में उनका परीक्षण हुआ है। मानव-जाति की मंगलकामना की धुरी पर ही वे घूमते रहे हैं। 'चीवर' में वह यशपाल की 'दिव्या' की भाँति बौद्धधर्म का निकृष्ट और स्खलित रूप स्वीकार नहीं करते हैं। बौद्ध-धर्म उनके लिए मनुष्य जाति की अबाध मंगल-कामना का एक प्रतीक मात्र है। यही कारण है कि तपस्या और संयम की गरिमा तथा गृहस्थ-सांसारिकता का सामंजस्य ही उन्हें अभीष्ट रहा है और राज्यश्री के माध्यम से यही उन्होंने किया है। 'चीवर' का प्रकाशन १९५८ में हुआ था। यह वह समय था जब तृतीय विश्व-युग की सम्भावनाएँ और तनाव बहुत बढ़ गया था। इससे पूर्व यशपाल की 'अमिता' और डॉ॰ धर्मवीर भारती का 'अन्धायुग' प्रकाशित हो चुके थे। अभिव्यक्ति के माध्यम के भेद के बावजूद दोनों ही कृतियाँ अतीत के परिप्रेक्ष्य में युद्ध के निषेध की आवाज़ उठाती हैं। 'चीवर' में राज्यश्री कहती है: "युद्ध हर्षवर्द्धन और पुलकेशिन का है फिर यह परस्पर द्वन्द्वयुद्ध कर लें। व्यर्थ असंख्य प्राणियों का यह नाश क्यों किया जा रहा है?"

सेनापति स्कन्दगुप्त ने आगे बढ़कर कहा, "देवी! यह शक्ति और राजनीति

---

१. इतिहास और ऐतिहासिक उपन्यासकार : 'आलोचना'—१३ : १८२।
२. रांगेय राघव : 'राह न रुकी' की भूमिका : ४।

की बात है। साम्राज्य की मर्यादा का प्रश्न है। यह पुष्यभूति वंश के गौरव की बात है।''

राज्यश्री ने हँसकर कहा, ''नहीं सेनापति, यह सब कुछ नहीं है। यह एक प्रमाद है। पुरुष की बर्बरता है। लूट है। उत्पात है।''[1]

जैन और बौद्ध धर्मों का पलायनवादी रूप उन्हें ग्राह्य नहीं है क्योंकि वह असामाजिक है, अस्वस्थ है। जनहित और स्वस्थ सामाजिक दृष्टिकोण का सामंजस्य ही उन्हें प्रिय है और उनके समस्त ऐतिहासिक उपन्यासों का मूल इसी सत्य में निहित है। दधिवाहन कहता है : ''लोक में संयम का अर्थ तपस्वियों के कारण पलायन हो गया है। भाग जाओ, छोड़कर भाग जाओ। मैं भागूँगा नहीं। संयम का अर्थ घुटना और सड़ना नहीं है, स्वस्थ बहाव है। अपने स्वार्थ की चिन्ता करना पशुत्व का उत्तराधिकार है। उससे ऊपर उठने की आवश्यकता को देखकर (भी) मनुष्य उठ नहीं रहा है।''[2]

यही स्वस्थ और शुभ-दृष्टि उनके ऐतिहासिक उपन्यासों की मौलिक और आधारभूत विशेषता है। इसके कारण ही वह विल्लभिलूर, हर्ष, राज्यश्री और दधिवाहन जैसे उदात्त पात्रों की सृष्टि कर सके हैं। ऐतिहासिक वातावरण और परिवेश पर से उनकी दृष्टि हटती नहीं है। वर्तमान का अनिवार्य सामयिक सन्दर्भ उनकी उपयोगिता और सफलता को और भी असन्दिग्ध करता है।

ऐतिहासिक उपन्यासों का ही एक किंचित् भिन्न रूप रांगेयराघव के जीवन-चरितात्मक उपन्यासों में मिलता है। अन्तर इतना है कि जहाँ ऐतिहासिक उपन्यासों में अधिकांश पात्र महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक व्यक्ति और युगनिर्माता हैं, इन उपन्यासों में युग का कोई विशिष्ट पुरुष, लोकनायक या साहित्यकार ले लिया गया है। व्यक्ति के माध्यम से उसके युग की रेखाओं को स्पष्ट करने का लेखक का आग्रह यहाँ मिलता है। 'देवकी का बेटा' से लेकर 'भारती का सपूत' तक रांगेयराघव के नौ जीवन-चरितात्मक उपन्यास प्रकाशित हुए हैं। विस्मृति या परम्पराओं और किंवदन्तियों के घटाटोप में खोजाना साहित्यकारों का अनिवार्य दुर्भाग्य रहा है। इन उपन्यासों के माध्यम से लेखक ने उन महान साहित्यिकों और युगनायकों की साधारण जीवनियाँ ही नहीं प्रस्तुत की हैं, उन्हें उनके ऐतिहासिक परिवेश में भी देखा गया है। युग की सीमाओं के बीच उनके संघर्ष को देखते हुए मानवता के विकास में उनके साहित्यिक-सांस्कृतिक अवदान का मौलिक मूल्यांकन भी लेखक ने किया है। 'देवकी का बेटा' कृष्ण के प्रारम्भिक सोलह वर्षों की कथा है जिसका अन्त कंस के पतन से होता है। अवतार और चमत्कारों के आग्रह ने कृष्ण को साधारण पुरुष माने जाने में सदैव एक बाधा उपस्थित की है। 'धूनी और धुआँ' में अपने नायक (गोरखनाथ) और उसकी स्वाभाविक युग-सीमाओं के कारण लेखक चमत्कारों से पूर्णतः बच नहीं सका—बचकर वह युग की ऐतिहासिक सीमाओं और अनिवार्यताओं की अवहेलना ही

१. चीवर : २४६।
२. राह न रुकी : १४०।

अधिक करता—वैसे 'देवकी का बेटा' और 'यशोधरा जीत गई' आदि उपन्यासों में चमत्कारों और परम्परागत-विश्वासों को तर्क और बुद्धि के प्रकाश में ही उसने देखा-समझा और प्रस्तुत किया है, "मैंने कृष्ण चरित्र को चमत्कारों से अलग करके देखा। धर्म मूढ़ लोग तो शायद इसे नहीं सह सकेंगे, उनसे मैं क्षमा चाहता हूँ, परन्तु वैसे जो महानता कृष्ण के मनुष्य रूप में प्रगट होती है वह वैसे नहीं मिलती। चमत्कारों में सत्य डूब जाता है।"[1]

'लोई का ताना', 'रत्ना की बात' और 'लखमा की आँखें' क्रमशः कबीर, तुलसी और विद्यापति से सम्बन्धित हैं। 'मेरी भव बाधा हरो' बिहारी को उनके समग्र परिवेश में प्रस्तुत करता है। इन सारे उपन्यासों में नायक का व्यक्तित्व प्रमुख रहा है परन्तु लेखक के सहज रचना-कौशल द्वारा युग अपनी सम्पूर्णता में उसके समानान्तर ही उभरता चलता है और अतीत के परिप्रेरक में कोई-न-कोई सामयिक सन्दर्भ यहाँ भी अनिवार्य रूप से उपस्थित है। कबीर ने जनता के सत्य को समझा था, तुलसी ने असत्य का विरोध अपनी सम्पूर्ण शक्ति से किया था, कृष्ण उगते हुए सूरज के समान है जो अन्याय और अत्याचार के अन्धकार को चीरकर आगे बढ़ता है। वह उस तरुण पीढ़ी का प्रतिनिधि है जो अत्याचार के विरोध को अपना धर्म समझती है। कंस से उसका संघर्ष वैयक्तिक नहीं है। लेखक ने सत्य को पूर्णता में उभारा है और संघर्ष के सामाजिक-सैद्धान्तिक पक्ष पर ही अधिक बल दिया है। कंस एक निरंकुश सत्ता का प्रतीक है, कृष्ण उगती हुई जनशक्ति का। कृष्ण का चरित्र अतीत का निरुद्देश्य सिंहावलोकन मात्र नहीं है। वर्तमान और भविष्य के लिए उसमें एक महत्त्वपूर्ण सन्देश निहित है। यशोधरा अपनी सीमाओं से नियन्त्रित होकर भी आधुनिक नारी की गरिमा और अधिकारों को वाणी देती है, "वे मेरे पति थे, मैं उनकी दया नहीं समान अधिकार चाहती हूँ।"[2] पलायन उसकी दृष्टि में अधर्म है। स्वस्थ पारिवारिक-सांसारिक जीवन का जय-घोष वह भी करती है। पुरुष के अहं पर व्यंग करती हुई वह कहती है: "पुरुष स्त्री से संभोग करके सोचता है वह भोक्ता है। मूर्ख है वह! स्त्री भी समान भोक्ता है। वे एक-दूसरे के पूरक हैं। जन्म तो दुख नहीं है। कारण नहीं जान सकने के कारण क्या सत्ता को ही दुख कह देने से वह दर्शन बन जाता है!"[3]

इन सारे उपन्यासों का मूलस्वर भी लोक-मंगल की कामना है। कृष्ण कहता है, "मेरे लिये जन कुल से ऊपर है। मैं केवल इसलिये जीवित रहना चाहता हूँ कि इस संसार में सुख आ सके। अत्याचार का विध्वंस हो सके।"[4]

व्यक्ति पर दृष्टि रखते हुए भी लेखक का आग्रह तत्कालीन धार्मिक-ऐतिहासिक और सामाजिक-राजनैतिक परिस्थितियों पर ही अधिक है। चमत्कारों से वह

१. 'देवकी का बेटा' की भूमिका : ६।
२. यशोधरा जीत गई : १०५।
३. वही १३८।
४. देवकी का बेटा : १३८।

बचा है परन्तु योग की शक्ति और आत्मा के विकास में उसकी गहरी आस्था है। अपने समन्वयवादी दृष्टिकोण के आधुनिक रूप को उसने इस प्रकार स्पष्ट किया है, "भारत के भविष्य में सम्भवतः संसार को पथ दिखाने वाली ज्योति उदय होगी, जो रूस-चीन के अनुभवों की अच्छाइयाँ लेगी, अपनी परम्परा से मानवतावाद को लेगी और लेगी योग में निहित मानवजाति की अपार शक्ति को और नए समाज, संसार और व्यक्ति का उदय होगा जिसमें समाज के विकास के साथ व्यक्ति घुटेगा नहीं, विकास करेगा।"[1]

बहुधा ऐसा भी हुआ है कि अपने नायक की साहित्यिक या सामाजिक-ऐतिहासिक स्थिति को सही रूप में प्रतिष्ठापित करने के लिए उन्हें दूसरों का विरोध भी करना पड़ा है। जब भी ऐसा अवसर आया है अलौकिक आत्मविश्वास के साथ उन्होंने अपना मौलिक मत रखा है। उदाहरण के तौर पर उनकी कबीर सम्बन्धी मान्यताओं को लिया जा सकता है। कबीर का विकास चमत्कार-अवतारवाद से होकर जनशक्ति के आवाहन तक होता है। बहुधा कबीर के प्रति साहित्य के इतिहासकार न्याय नहीं कर सके हैं। रांगेय राघव ने स्पष्ट लिखा, "कबीर को लोगों ने ग़लत समझा है। कबीर में सूफीमत, वेदान्त, रहस्यवाद, नारी की निन्दा तथा अनेक बातें हैं जैसे संसार की असारता पर ज़ोर, मायावाद आदि का वर्णन, पर यह अनेक विकास की मंजिलें हैं। वे धीरे-धीरे आगे बढ़ गये हैं।...कबीर के विद्रोह और सत्य को दबा दिया गया। कबीर इतिहास में एक उलझन बन गया। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ब्राह्मणवादी आलोचक थे। उन्होंने कबीर को नीरस निर्गुणिया कह दिया। वे कह गये हैं कि कबीर ने कोई राह नहीं दिखाई। कबीर ज्ञान के रहस्य में डुबाता था। साधारण जनता कबीर को समझ नहीं सकी।...यह सब ब्राह्मणवादी दृष्टिकोण हैं अतः त्याज्य है। अवैज्ञानिक है।"[2]

इस दृष्टि से देखने पर उनके जीवन-चरितात्मक उपन्यासों का महत्त्व सहज बढ़ जाता है। भारतीय सन्त-परम्परा का मानवतावादी रूप उनके समस्त युगनायकों के माध्यम से उभरता है। उनका युग-चित्रण उनकी धार्मिक-ऐतिहासिक तथा सामाजिक-राजनीतिक स्थिति को स्पष्ट करता है। उनका सामयिक-सन्दर्भ लेखक को मात्र अतीतजीवी होने से बचाता है और सबसे बड़ी बात यह कि इतिहास के शुष्क-नीरस आँकड़ों और तथ्यों से बचकर नितान्त मौलिक रंगों से वह साहित्य का शृङ्गार करता है।

'रेणु' के 'मैला आँचल' के बाद हिन्दी में आंचलिक उपन्यासों का आग्रह बढ़ता गया। उसकी सफलता और प्रसिद्धि के कारण चाहे नितान्त भिन्न रहे हों परन्तु उसकी तेज़ी से फैलने वाली ख्याति ने लेखकों को आँचलिकता के प्रति आकर्षित अवश्य किया। रांगेय राघव के उपन्यासों में 'कब तक पुकारूँ' को आलोचकों ने आंचलिक उपन्यासों के अन्तर्गत रखा है। परन्तु उसकी तथाकथित आँचलिकता 'रेणु' के

१. 'धूनी और धुआँ' की भूमिका : ११।
२. 'लोई का ताना' की भूमिका : ५

उपन्यासों की आँचलिकता से भिन्न है। उसमें किसी अंचल विशेष के व्यापक और बहुविध जीवन को अंशतः ग्रहण करके सम्पूर्ण देश के प्रतिनिधित्व का आग्रह एकदम नहीं है। न ही किसी अंचल विशेष के निवासियों की बोली-बानी और लोकगीतों आदि के प्रयोग का इतना अधिक आग्रह उसमें है जैसा 'मैला आँचल' या 'परती : परिकथा' में पाया जाता है। 'कब तक पुकारूँ' राजस्थान के नटों के जीवन पर आधारित है। उनके स्त्री-पुरुषों के सामाजिक सम्बन्धों को, उनके आचार-विचार और यौन-नैतिकता को बड़े विस्तार के साथ प्रस्तुत किया गया है। उनके रीति-रिवाज़, क़ायदे-कानून और जीवन-पद्धति ही उसे आँचलिक रंग देते चलते हैं। चूँकि उसका क्षेत्र राजस्थान की सीमा में आता है, राजस्थानी भाषा और बोली के शब्द और रंग भी उक्त उपन्यास में प्रचुरता से पाये जाते हैं।

यदि 'कब तक पुकारूँ' पूर्णतया एक आंचलिक उपन्यास नहीं है तो 'धरती मेरा घर' अंशतः इस दावे को पूरा करता है। वह भी राजस्थान की पृष्ठभूमि पर आधारित है और लोहपीटों की सामाजिक स्थिति और दैन्य को उद्घाटित करता है। लेखक की दृष्टि पैनी और पारदर्शी है। केवल बाह्य आकर्षण के लिये ही उसने इस नितान्त उपेक्षित वर्ग को नहीं लिया है। उनके अन्धविश्वासों, रूढ़ियों और सामान्य जीवन-पद्धति को लेखक ने अति निकट से देखा है। समाज में उनकी स्थिति लेखक के अन्दर विक्षोभ और आक्रोश पैदा करती है और उसका आग्रह सदैव यही रहा है कि इस अतिशय उपेक्षित वर्ग में भी और लोगों के समान साधारण मनुष्य होते हैं जो अपनी सारी साधारणता के बावजूद मनुष्यता की गरिमा और महानता के अंश को छिपाये रहते हैं।

इन उपन्यासों के पात्र अपेक्षाकृत अधिक आकर्षक और प्रभावशाली बन पड़े हैं क्योंकि सामाजिक उपन्यासों के शहरी और ग्रामीण पात्रों के समान वे नैतिकता के कृत्रिम और स्वतः आरोपित मानदण्डों से नियन्त्रित नहीं होते हैं। जीवन को उसकी सम्पूर्णता में जीने का आग्रह ही उनके आगे प्रमुख है। लेखक के अधिकांश सामाजिक उपन्यासों की भाँति किसी सिद्धान्त या मतवाद का भी कोई प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष आग्रह इन उपन्यासों में नहीं है। उनके जीवन को उन्हीं की दृष्टि से प्रस्तुत कर देना ही लेखक को अभीष्ट रहा है। लेकिन उनके दैन्य को उसने अनदेखा नहीं किया है, उनकी हीन सामाजिक स्थिति के प्रति अपने अनुशासित और नियन्त्रित विक्षोभ को उसने अप्रकट नहीं रहने दिया है। 'धरती मेरा घर' का किशन—उसकी डायरी और अन्त में दी गई कविताएँ—अपनी समग्रता में लेखक के दृष्टिकोण को रेखांकित करता है—

अब मैं न लोहपीटे का बेटा हूँ
न मैं किसी जमींदार का।
मैं तो इन्सान हूँ।...
जब मैं आया था मेरी कोई जाति नहीं थी
और जब मैं जा रहा हूँ, तब भी मेरी कोई जाति नहीं है।...

आकाश को ऐसा ही खुला रहने दो
धरती को भी मत बाँधो
तुमने जो बीच-बीच में दीवारें खड़ी कर दी हैं
उन्हें गिरा दो क्योंकि वह तुम्हीं ने बनाई हैं…
आज मैं निर्मल और स्वतन्त्र हूँ क्योंकि
आकाश मेरी छत है और धरती मेरा घर ।[1]

रांगेय राघय के सम्पूर्ण उपन्यास-साहित्य का यह विवेचन स्पष्ट करता है कि उनका प्रयास कितना बहुविध और व्यापक था। रांगेय राघव का सम्पूर्ण लेखन-काल दो दशकों से अधिक नहीं है। उसमें उपन्यासों के अतिरिक्त उन्होंने काव्य, नाटक, आलोचना, इतिहास, संस्कृति, समाजशास्त्र जैसे मौलिक साहित्य-सृजन के अतिरिक्त अंग्रेज़ी और संस्कृत से अनुवाद भी प्रस्तुत किये। उनके प्रकाशित ग्रन्थों की संख्या १३० के लगभग है। उनके जीवन-काल में ही उनके लेखन को लेकर तरह-तरह की बातें प्रचलित थीं और उनकी अवांछित उपेक्षा के मूल में उनका यह अति-लेखन ही रहा है। बहुत पहले उनके विषय में लिखते हुए शिवदानसिंह चौहान ने कहा था, "अभी रांगेय राघव अबाध गति से लिख रहे हैं और उनकी रचनाओं में अति-लेखन के दोष भी हैं और उनकी बहुमुखी प्रतिभा का स्फुरण भी।"[2]

सचमुच दोष रांगेय राघव में अनेक हैं, उनके महत्त्वाकांक्षी प्रयास की व्यापकता को देखते हुए तो वे अनुपातत: और अधिक होने चाहिए थे। परन्तु जो चीज़ महत्त्वपूर्ण है वह यह कि परिमाण की दृष्टि से इतना अधिक लिखने पर भी गुण और स्तर की दृष्टि से भी उसमें का बहुत कुछ असीमित महत्त्व का है। परन्तु समीक्षकों ने फ़ैशन और रिवाज़ का साथ दिया है। उनके तथाकथित अति-लेखन के वास्तविक-अवास्तविक दोषों पर ही उनकी दृष्टि रही है और उनकी 'बहुमुखी प्रतिभा के स्फुरण' को प्राय: ही उन्होंने अनदेखा किया है।

नि:सन्देह रांगेय राघव के अधिकांश दोष और सीमाएँ अति-लेखन के अनिवार्य परिणाम हैं। बहुधा उनके सामाजिक उपन्यासों के साथ ऐसा होता है कि उनमें प्रति-पादित विचारधारा और जीवन-दर्शन कृति में से न निकल उस पर आरोपित-सा होकर रह जाता है। 'हुज़ूर' में इन्सान की भटकती हुई दुनिया पर विलायती कुत्ते के माध्यम से जो विक्षोभ प्रकट किया गया है वह कृति का अनिवार्य अंग नहीं बन सका है। 'बौने और घायल फूल' में भी लगभग ऐसा ही हुआ है। उसके अन्त में कबीर के जिस सपने की बात कही गई है सम्पूर्ण कृति के साथ उसकी कोई संगति नहीं बैठती है। 'प्रोफ़ेसर' में समस्या को जिस गम्भीर ढंग से उठाया गया है उसी अनुपात में उसका निर्वाह अत्यन्त गम्भीर ढंग से किया गया है परिणामस्वरूप सारा उपन्यास निहायत हल्का है और लेखक की wishful thinking का अच्छा-खासा उदाहरण बनकर रह गया है।

१. 'धरती मेरा घर' : १७०-७२।
२. हिन्दी साहित्य के अस्सी वर्ष : १६२।

कभी-कभी प्रकाशकों के आग्रह पर या वैसे भी साधारण-सी कहानी को खींच-कर उपन्यास के चौखटे में 'फिट' करने की कोशिश की गई है। 'पतझर', 'कल्पना', 'प्रोफेसर' आदि इसी कोटि की रचनाएँ हैं। जब भी ऐसा हुआ है कृति उपन्यास और कहानी किसी के भी स्वाभाविक और अनिवार्य-धर्म निर्वाह में असमर्थ रहती है। परिणाम की दृष्टि से ऐसी रचनाएँ एकदम बेमानी हैं।

कवियों से सम्बन्धित उनके जीवन चरितात्मक उपन्यासों में उनके नायकों के कृतित्व और जीवन-दर्शन को स्पष्ट करने के आग्रह के पीछे बहुधा आवश्यकता से अधिक पद और साखियाँ आदि भर दी गई हैं। उपन्यास के कथानक में वे बेमेल हो उठती हैं, उनकी नीरसता बढ़ती है और कथा का सन्तुलन बिगड़ता है।

ऐतिहासिक उपन्यासों में प्रायः ही कल्पना का विलास अधिक है। वृन्दावन लाल वर्मा के समान ऐतिहासिकता पर उनकी दृष्टि इतनी अधिक नहीं है। ऐतिहासिक तथ्यों के प्रति वह लापरवाह रहे हैं। परन्तु तथ्यों को तोड़ने-मरोड़ने का उनका स्वभाव नहीं है।

राजेन्द्र यादव ने कहीं आपत्ति की है कि रांगेय राघव में 'कहानी' का अतिशय मोह है। जब वह कहानी कहने की रौ में आते हैं तो फिर पात्रों के विकास और कथा के सन्तुलन आदि पर उचित ध्यान नहीं दे पाते हैं। कहानी को रोचक बनाने के आग्रह के पीछे वह आवश्यकता से अधिक 'मेलोड्रैमेटिक' हो गये हैं। कारण शायद यह भी रहा हो कि लोक-रंजन को वह कथा का आदिम और अनिवार्य गुण मानते हैं। कभी-कभी तो उनकी प्रथम श्रेणी की रचनाएँ भी इस दोष से मुक्त नहीं हैं। 'कब तक पुकारूँ' में औत्सुक्य के अनुतत्त्व पर लेखक की दृष्टि इतनी अधिक ठहरी है कि अच्छे स्तर की साहित्यिक कृति पढ़ने की अपेक्षा किसी अति-घटना प्रधान और अत्यन्त मनोरंजक कृति के पढ़ने की अनिवार्य प्रतिक्रिया ही उसे पढ़कर सबसे पहले होती है।

रांगेय राघव के अति-लेखन का सबसे भयंकर दुष्परिणाम उनकी भाषा-शैली और शिल्प से सम्बन्धित है। अहिन्दी-भाषी होकर भी रांगेय राघव का हिन्दी भाषा पर असाधारण अधिकार था। परन्तु उनके उपन्यासों में भाषा के दो रूप—जो मौलिक रूप से अत्यन्त असम ही नहीं एक-दूसरे के विरोधी-से हैं—सरलता से देखे जा सकते हैं। एक ओर तो उनके 'मुर्दों का टीला', 'विषाद-मठ' और 'सीधा-सादा रास्ता' की भाषा है जिनमें बड़े-बड़े गतिशील वाक्य हैं जो लेखक के भाषा-सम्बन्धी अधिकार और सहज श्रम के सूचक हैं। दूसरी ओर उनके अधिकांश जीवन चरितात्मक उपन्यासों में, 'बौने और घायल फूल' एवं अन्य तृतीय श्रेणी की रचनाओं में एक-एक शब्द तक के छोटे-छोटे वाक्य हैं जो आवेश और जल्दबाज़ी को स्पष्ट करते हैं। जीवन-चरितात्मक उपन्यासों में यदि बड़े वाक्य हैं भी तो वे वाक्य-विन्यास और संकेतचिह्नों की दृष्टि से दोषपूर्ण हैं।

चूंकि संख्या में रांगेय राघव ने बहुत अधिक उपन्यास लिखे हैं नीरसता और एकरसता को दूर करने के खयाल से शिल्प के प्रति उनका मोह अतिशय स्वाभाविक

है। परन्तु बहुधा ही उनकी रचनाएँ शिल्प-सम्बन्धी दोषों से भरी हैं। 'छोटी-सी बात' के लम्बे-लम्बे पत्र अतिशय कृत्रिम, अस्वाभाविक और निश्चित प्रयोजन की दृष्टि से लिखे गए से हो गये हैं। 'हुज़ूर' में कुत्ते के माध्यम से जो कहानी कही गई हैं उसमें असावधानीवश ऐसी घटनाओं का समावेश भी हो गया है जहाँ वह उपस्थित नहीं था। 'बौने और घायल फूल' का सारा शिल्प-मय शीर्षक के—कृत्रिम, नीरस, असहज परिणामस्वरूप कृति से असम्बद्ध-सा है। इसी शिल्प-सम्बन्धी असावधानी का सबसे अच्छा उदाहरण है 'कब तक पुकारूँ'। उसके पहले कुछ परिच्छेदों में कथा को उसके नायक सुखराम के मुँह से कहलाया गया है। हर परिच्छेद के शुरू में लेखक स्पष्ट लिखता है, 'सुखराम ने कहा था…' इससे एक शिल्प-सम्बन्धी सहज चमत्कार-हीन आकर्षण उसमें आया है परन्तु आगे चलकर लेखक जैसे इस सारी योजना को एकदम भूल जाता है और सारी कहानी साधारण वर्णनात्मक ढंग से तृतीय पुरुष में चलती रहती है !

इतने ये और शायद और भी बहुत-से दोष रांगेय राघव में हो सकते हैं—परन्तु उनकी विशेषताओं और गुणों को पूर्णतया अनदेखा करके इन दोषों को ही शब्द बदल-बदलकर दोहराना कोई मानी नहीं रखता है। यदि उनके अति-लेखन और सृजन के परिमाण को थोड़ी देर को भूला जा सके तो गुणात्मक दृष्टि से भी उन्होंने बहुत थोड़े समय में इतना कुछ दिया है जो उनके समकालीनों और परवर्तियों में बहुत कम लोग दे सके हैं।

रांगेय राघव का नाम बहुधा ही प्रगतिशील विचारधारा और प्रगतिवाद से जोड़ा गया है। साहित्य में यशपाल और राहुल के समान राजनीति को अतिशय प्रश्रय उन्होंने भले ही न दिया हो परन्तु उनकी कई रचनाओं में राजनीति का रंग खूब गाढ़ा होकर उभरा है। इसी कारण अन्य प्रगतिवादियों के समान उन पर भी समीक्षकों ने (मोतीसिंह और डॉ० सुषमाधवन) प्रचार का आरोप लगाया है। प्रगतिवाद समष्टिगत और जनवादी सिद्धान्तों का वैज्ञानिक आग्रह लेकर बढ़ा था परन्तु हिन्दी-समीक्षा में वह अधिकांश में क्रमशः व्यक्तिगत द्वेष और राजनीतिक हठधर्मी के संकरे दायरों में घिरता गया।

रांगेय राघव और डॉ० रामविलास शर्मा का लम्बा संघर्ष जिसका अन्त अनिवार्य कटुता में हुआ इसी अप्रीतिकर सत्य की ओर संकेत करता है। रांगेय राघव ने विकास का एक लम्बा रास्ता तय किया है। साम्यवाद से शुरू करके निरन्तर वह मानववाद की ओर बढ़ते गये हैं। रांगेय राघव ने मार्क्स से बहुत कुछ लिया है। रूस और चीन की भौतिक-सामाजिक समृद्धि में उनकी गहरी आस्था थी। निर्धनता, असन्तोष, व्यभिचार और नैतिक स्खलन की आदमक़द तस्वीर उन्होंने भी अपने बहुत से उपन्यासों में पेश की है परन्तु स्वतन्त्र भारत के उन तथाकथित निर्माताओं और अलम्बरदारों के बीच महात्मा गांधी को उन्होंने निष्ठा, सेवा और त्याग की प्रतिमूर्ति के रूप में ही देखा-समझा और प्रस्तुत किया है। राजनीतिक हठधर्मी रांगेय राघव में नहीं है। मतवाद से अधिक उनकी दृष्टि व्यक्तिगत और समष्टिगत सत्य पर रहती

है। उनकी अतिशय उदारभावना, जो अधिकांश में मध्यकालीन भारतीय सन्तों की देन है, उन्हें संकीर्णताओं से ऊपर उठाती है। जैसा उन्होंने गोर्की के बारे में लिखा है, वह स्वयं भी चिरन्तन और शाश्वत सत्य को पकड़ते हैं और मानव की अनन्त-अबाध विकासशील शक्तियों और क्षमताओं का जयघोष करते हैं। प्रगतिवाद को अपने देश की विशाल ऐतिहासिक-सांस्कृतिक परम्परा से जोड़ने और उसके आधार पर उसे परीक्षित करने का उनका आग्रह उनके चिन्तन को मौलिकता देता है। इस प्रकार किसी 'वाद' से वह बँधते नहीं हैं। उनका समस्त कृतित्व विकास की कितनी ही मंज़िलों को स्पष्ट करता है।

रांगेय राघव के प्रति अपनी अरुचिकर अवांछित उपेक्षा को स्वीकार करके उनके साहित्य के निरपेक्ष-निर्वैयक्तिक तटस्थ मूल्यांकन का समय अब आ गया है। इतिहास हमारे सामने है। हठधर्मी और दुराग्रहों ने साहित्य की आत्मा को कुण्ठित ही किया है। अपनी सारी दुर्बलताओं और सीमाओं के बावजूद रांगेय राघव का सम्पूर्ण कृतित्व हमें सत्य को उसकी समग्रता में स्वीकारने का आग्रह और शक्ति देता है। इस शक्ति को हम आत्मसात कर सके हैं, सत्य को भी उसके सहज रूप में अंगीकार कर सकें यही शुभ है।

डॉ० बेचन

आधुनिकता : शमशेर और नागार्जुन

संयोग की बात है कि हिन्दी के दो समर्थ आधुनिक कवियों, श्री शमशेर बहादुर सिंह और नागार्जुन की कविता-पुस्तकें ('कुछ कविताएँ' एवं 'सतरंगे पंखों वाली') एक ही वर्ष यानी सन् १९५९ ई० में प्रकाशित हुई हैं।

शमशेर और नागार्जुन दोनों नई हिन्दी कविता के अग्रणी कवियों में भी स्थान रखते हैं। यद्यपि ऐतिहासिक दृष्टि से शमशेरबहादुर सिंह ने ही सर्वप्रथम नई हिन्दी की कविताओं में प्रयोग किया है। काव्य की आधुनिक चेतना का स्पर्श शमशेर को पहले हुआ, नागार्जुन को बाद में। नागार्जुन और शमशेर दोनों ने ढेर-की-ढेर रचनाएँ लिखी हैं। किन्तु दोनों ने अपने संकलनों में अपने को सीमित कर लिया है; यानी दोनों के समुचित काव्य व्यक्तित्व का परिचय संकलित रचनाओं में पूर्ण-रूपेण स्पष्ट नहीं होता है।

फिर भी शमशेर की प्रौढ़ता और उसकी तुलना में नागार्जुन का खिच्चपन रचनाओं में स्पष्ट है। नागार्जुन व्यंग्य सुन्दर और प्रखर लिखते हैं,[1] तथापि एक भी सधी हुई व्यंग कविता इस संग्रह में नहीं हैं। शमशेर उत्कृष्ट प्रयोगवादी कविता (Experimental poetry) लिखते हैं; परन्तु बहुत कम नई सधी हुई प्रयोगवादी कविता इस संग्रह में है।

शमशेर सदैव अपने व्यक्तित्व को कविता में तटस्थ रखते हैं, किन्तु नागार्जुन उसका निर्वाह नहीं कर पाते, अपने को स्पष्ट करते हुए अपनी मिट्टी का भी परिचय देते हैं—

**"याद आता मुझे अपना वह "तरुनी" ग्राम
याद आती लीचियाँ, वे आम
याद आते मुझे मिथिला के रुचिर भू-भाग
याद आते धान
याद आते कमल, कुमुदिनी और ताल मखान
याद आते शस्य श्यामल जनपदों के
रूप-गुण-अनुसार ही रक्खे गये वे नाम
याद आते वो सुवन वे नीलिमा के निलय,
अति अभिराम"**

१. महाकवि 'निराला' के शब्दों में भी

उपर्युक्त पंक्तियों में मिथला की संस्कृति साकार हो उठी है। परन्तु काव्य की दृष्टि से यह प्रयास शायद अतिवैयक्तिक रीतिकालीन कवियों की याद दिला देता है, जो रचनाओं के साथ अपनी पूरी पीढ़ी का वर्णन कर दिया करते थे। नागार्जुन अपने गाँव के इसी सहज किन्तु व्यक्तिगत स्वरूप का चित्र और भी खींचते हैं :—

"बहुत दिनों के बाद,
अबकी मैंने जी भर ताल मखाना खाया
गन्ने चूसे जी भर

गन्ने चूसे जी भर
बहुत दिनों के बाद

"ताल मखाना" मिथिला के "तालों" की विशेषता है।

उनकी वैयक्तिकता का एक नमूना पृष्ठ ६२ पर भी देखने को मिलता है—

"गोल बाँधकर सबका वह "दुखमोचन[1] सुनना"
"मैं बोला : "केदार"[2] तुम्हारे बाल पक गये
....

तुमने कहा, सुनो नागार्जुन,"

हालाँकि प्रभाव की दृष्टि से इस संग्रह की उत्कृष्ट कविताओं में इस उद्धृत कविता का स्थान है। बाँदा की पूरी संस्कृति का चित्रांकन और दूसरी ओर केदारनाथ अग्रवाल के व्यक्तित्व की "सिमली" कवि की आश्चर्यजनक काव्य-प्रतिभा और जनवादी भावना का द्योतक है—

"केन कूल की काली मिट्टी, वह भी तुम हो
कालिंजर का चौड़ा सीना, वह भी तुम हो,
ग्रामबधू की दबी हुई कजरारी चितवन,
वह भी तुम हो
कुपित कृषक की टेढ़ी भौहें, वह भी तुम हो
खड़ी-सुनहली फसलों की छवि छटा निराली,
वह भी तुम हो।
लाठी लेकर काल रात्रि में करता जो उनकी रखवाली,
वह भी तुम हो।"

शमशेरजी ने भी अपने संग्रह में एक कविता आधुनिक एवं समकालीन कवि अज्ञेय के कुछ हाल के संग्रहों को पढ़कर लिखी, जिस प्रकार नागार्जुन ने समकालीन कवि केदारनाथ अग्रवाल के साथ कुछ दिनों तक बाँदा रहकर उन पर कविता लिखी है। किन्तु आधुनिक कवि की स्वच्छता, शब्दबोध एवं अर्थबोध जिस ऊँचाई तक जा सकती है, उसका सुन्दर नमूना अज्ञेय का परिचय देते हुए शमशेर ने प्रस्तुत किया है—

१. दुखमोचन—नागार्जुन का पुनर्निर्माण सम्बन्धी हिन्दी उपन्यास, जिसे (लखनऊ-इलाहाबाद) रेडियो से भी प्रसारित किया गया था।
२. केदारनाथ अग्रवाल—हिन्दी के सुप्रसिद्ध आधुनिक कवि एवं नागार्जुन के मित्र।

"जो नहीं है
जैसे कि "सुरुचि"
उसका ग़म क्या
वह नहीं।"

अज्ञेय की रचनाओं का इससे सुन्दर परिचय और क्या दिया जा सकता है? इतनी बारीकी और चुस्तपकड़ नागार्जुन में कहाँ? (खेद है)

उनका परिचय (केदारनाथ अग्रवाल पर लिखी गई कविता) शब्दाडम्बरों का समूह (high sounding words) हैं, जिसे matter of fact कह सकते हैं, यानी इतिवृत्तात्मक अर्थात् राष्ट्रीय जागरण का प्रशस्ति गान—

"जन-गण-मन के शिल्पी
तुम धरती के पुत्र : गगन के तुम जामाता।"

यदि चाहें तो केवल ध्वनि साम्य, अर्थ साम्य और शब्द साम्य के आधार पर ही रवि ठाकुर की निम्नलिखित पंक्तियों से तुलना करें—

जन-गण-मन अधिनायक जय हे,
भारत भाग्य विधाता

(यद्यपि नागार्जुन की मित्रता पर सन्देह करना हमारा अभिप्राय नहीं है)

दोनों कवि पक्के जनवादी हैं—मतलब मार्क्सवाद और कम्युनिज़म में विश्वास करते हैं। नागार्जुन ने काफ़ी दिनों तक कबीर के रहस्यवाद की तरह इस साधनात्मक वाद में भी अपना रचनात्मक सहयोग दिया था, किन्तु इस संग्रह की कविता में उन्होंने अपने को पूर्वरूपेण कनसील (छिपाया) किया है। इसीलिए ऐसे प्रखर जनवादी कवि को उनका पाठकवर्ग इस संग्रह के द्वारा पहचान नहीं पायेगा। नागार्जुन ने पहचानी जाने वाली वैसी जनवादी कविताओं को अपने संग्रह में जानबूझकर नहीं रखा है, ऐसा लगता है, क्योंकि उनके "त्रिशंकु" आलोचक उन्हें प्रचारवादी अर्थात् Poster & slogan वाली राजनीति का प्रचारक कवि मानते रहे हैं। यदि वास्तव में फैसला किया जाए तो वे ही कविताएँ नागार्जुन की विशिष्टता हैं। अन्यथा इस संग्रह से आधुनिक कविता में उनका स्थान सुरक्षित रह सकना कठिन है। इस संग्रह की केवल दो-तीन ही ऐसी कविताएँ हैं, जिनमें कवि का प्रच्छन्न जनवादी स्वर मुखरित हुआ है। इन कविताओं में युद्ध और शान्ति पर लिखी गई कविता "कैसा लगेगा तुम्हें ?" अच्छी है। यद्यपि इसमें भी अर्थ-संकोच हो गया है और कवि खुलकर कुछ नहीं कह पाया है। चित्र अच्छे हैं, पर कविता अपूर्ण जान पड़ती है।

शमशेर अपने को कनसील नहीं करते बल्कि बड़े विश्वास से "कामरेड रुद्रदत्त भारद्वाज की शहादत की पहली वर्षी पर" रची गई अपनी कविता में लिखते हैं—

"मूल में है तीन रंग
गड़ा जिसपर मौन भारद्वाज का है—
लाल निशान।
उसी की आभा गगन

पूर्व में लाता ।
देखता है मौन अक्षयवट
क्रांति का इक बृहद् कुंभः
कान्तिमय निर्माण का इक बृहदपर्व ।
चमकती असिधार सी है धार गंगा की
हरहरा कर उठ रहा है
नव
जन महासमर ।"

कहने की आवश्यकता नहीं है कि यदि नागार्जुन के हाथ इस कविता का निर्माण होता तो शायद इसे प्रशस्तिगान बनकर बालकृष्ण शर्मा नवीन और दिनकर ऐसे कवियों की परंपरा में बहुत पीछे रुकना पड़ता। शमशेर ने आज के बड़े विश्व राष्ट्रों की एक बड़ी शक्ति 'चीन' पर कविता लिखी है—निस्संदेह यह कविता नये चीन के संबंध में है। कवि ने अपने काव्य बिम्बों को चीनी लिपि में लिखे 'चीन' के संकेताक्षरों को कविता के अलग-अलग 'स्टांज़ा' (Stanza) के सामने हाशिये पर अंकित करते हुए अक्षरों के मूल अर्थों की भाव भूमि से लाभ उठाकर निर्माण किया है। 'नया चीन' प्रेरणा का प्रतीक है। कम-से-कम 'भारत' को इस राष्ट्र से प्रेरणा मिलती रहेगी। इसीलिए भारत का जनवादी कवि शपथ ग्रहण करता है—

"वह आकाश की मांग का फूल
जब तक मैं चूम न लूँगा
चैन से न बैठूंगा।"

नयी कविता और प्रयोगवाद के उन तथाकथित कवियों को शमशेर की इस १९५९ की आस्थापूर्ण कविता से अवश्य प्रेरणा लेनी चाहिए, जो अपनी अनास्था की पृष्ठभूमि का जाल द्वितीय विश्वयुद्ध एवं योरोप के मरणोन्मुख नीरस और आस्थाहीन कवियों के साहित्य तक फैलाते हुए अज्ञेय, टी० एस० इलियट तथा रूसी कवि पेस्तरनाक तक को अपना मसीहा मानते हुए अपने को अज्ञेय के शब्दों में 'मार्ग का अन्वेषक' बताना नहीं भूलते हैं।[1]

यह भी कहना अप्रासंगिक नहीं होगा कि नई कविता के नाम पर जो हज़ारों कविताएँ रोज़ प्रकाशित होती हैं, उनमें चमत्कार, शब्दों की काट-छाँट, तराश, बनाव-सिंगार, रोमांस और छुई-मुई लिक्विड (तरल) संवेदना ज़्यादा रहती हैं, जो कभी भी कविता का चिरंतन गुण नहीं होता है। इन बातों की पुष्टि के लिए मैं नई कविता के कुछ तथाकथित विशिष्ट कवियों के काव्य-संग्रहों का केवल नाम गिना देना उचित समझता हूँ ; उनके शीर्षक मात्र से ही संभवतः बहुत कुछ पुष्टि हो जायगी—

डा० जगदीश गुप्त—'शब्ददंश'
डा० धर्मवीर भारती—'सात गीतवर्ष'

१. देखें—धर्मयुग ४ अक्तूबर, ५९ में प्रकाशित आधुनिक कविता पर डा० धर्मवीर भारती की टिप्पणी।

अज्ञेय—'अरी ओ करुणा प्रभामय'
भारत भूषण अग्रवाल—ओ अप्रस्तुत मन
डा० धर्मवीर भारती—कनु प्रिया
नरेश मेहता—बनपाखी सुनो।

दोनों कवियों ने अपनी पुरानी कविताओं को भी काफी संख्या में इन संग्रहों में स्थान दिया है, जिनमें से कुछ कविताएँ शायद आधुनिक रुचि के पाठकों को अच्छी नहीं लगेंगी। नागार्जुन की चातकी, कालिदास, सिन्दूर तिलकित भाल, दंतुरित मुस्कान आदि कविताएँ और शमशेर के संग्रह की आधी से अधिक रचनाएँ पुरानी हैं। परन्तु ये सभी पुरानी रचनाएँ हृदय को छूती हैं या ऐसा कहा जाय कि इनमें मार्मिकता अधिक है। ऐसा भी कहा जा सकता है कि उनमें प्रौढ़ रोमांस का पुट है। किन्तु डा० रामविलास शर्मा ऐसे जनवादी आलोचकों को ऐसे मार्मिक प्रौढ़ रोमांस से विरोध है, अतएव वे शमशेर के काव्य संग्रह पर एक स्केची नोट, परिचय के रूप में, 'समालोचक' के अगस्त, १९५९ अंक में प्रस्तुत करते हैं—

"जवानी बीत गई। उम्र पचास के क़रीब पहुँची। जिंदगी का अकेलापन दूर न हुआ। मजदूरों से सहानुभूति, नये चीन से मुहब्बत है। लेकिन यह अकेलापन दूर नहीं होता। कवि ने शाम से पूछा। कवि ने शाम को देखा—एक पीली शाम, पतझर का ज़रा अटका हुआ पत्ता। कवि से पूछता है—मौन का एकान्त हाथ, कवि का प्रश्न—मौन। उत्तर—मौन।" यह विवशता, मौन में भी है, अथाह।" अकेलापन, पचास के क़रीब, मगर विवशता, बेचारा कवि, शमशेर बहादुरसिंह।

"कहता है," अकेला हूँ आओ। कोई नहीं आता। संगीत सुनता है। इस सुनने में क्या दिखाई आता है? "तू मेरी बेबस बाहों पर, सर रखकर, आह, न रो।" बाहें भी बेबस, रोने वाली भी बेबस। ख्वाब, सपने, बहुत परेशान करते हैं, इस उम्र में। भोर का नभ, नील जल में किसी की गोर झिलमिल देह, जैसे हिल रही हो।" वह सलोना जिस्म, "अधखुली अँगड़ाइयाँ, भीनी गंध में बेहोश मींरा।" कवि बेचारा। "कौन सहारा। मेरा कौन सहारा।"

अकेलापन, बेबसी, सपने—बात पुरानी है, फिर भी कविता नयी है, नहीं, नयी कविता है। "कृति" से प्रकाशित सचित्र विज्ञापन के अनुसार "नयी कविता के प्रथम नागरिक हैं" कवि शमशेर। नयी नागरिकता का सबूत यह है कि "सरलता का आकाश था जैसे त्रिलोचन की रचनाएँ। नींद ही इच्छाएँ।" और दिन ही मीठी चाय सी (या चा—सा), बातें चुस्की सी, अपनाव मुलायम बाहों सा और भाव पक्ष में अभिनव रहस्यवाद की उलटबाँसिया—

आतमा है भावः
भाव-दीठ
झुक रही है
अगम अन्तर में
अनगिनत सूराख सीकती।

"यह है शमशेर की कुछ कविताओं का कुछ परिचय, कुछ आलोचना।"

और नागार्जुन का रोमांस देखिए—छायावादी कवि भी मान रहे हैं—

तन गई रीढ़

शमशेर की तरह नागार्जुन भी पचास के होंगे किन्तु, हथेली का स्निग्ध स्पर्श पाकर मुर्दों में भी जान आ जाती है—

झुकी पीठ को मिला
किसी हथेली का स्पर्श
तन गई रीढ़·········
·························

"चितवन कौंध गई", "किसी के नाक की सहज उष्णता मालूम पड़ी," "खिलखिलाहट गूँजी", और प्रेयसी के अलकों के तेलन्त परिमल का झोंका सूँघकर रग-रग में बिजली दौड़ गई। सचमुच इस अवस्था में रीढ़ को तनना ही चाहिए—अवसर बार-बार नहीं आता।

जिन्दगी का अकेलापन दूर करने के लिए नागार्जुनजी दिन-दहाड़े अपनी रूठी हुई सिगरेट पीने वाली प्रेयसी को 'आओ प्रिय, आओ' कविता में बुलाते हैं और हारकर अन्त में पचास की उम्र का भी खयाल नहीं करते हुए कह ही देते हैं—

"लेकिन, अब तो भई रहा नहीं जाएगा मुझ से बहुत दिन हो गए।
आओ साथ-साथ बैठें"

"सिन्दूर तिलकित भाल" की याद आते ही नागार्जुन जी को विदेश में "सहवास याद आता है—चाहिए किस को नहीं सहवास"···अवश्य···काश, नागार्जुन जी के पास कोई साधन होगा। अतः चन्द सतरें लिखकर ही सन्तोष किया गया।

यह भी उल्लेखनीय बात है कि जनवादी कवि नागार्जुन के इस संग्रह में जनवादी कविताओं के बदले आधी से अधिक कविताएँ औरतों से सम्बन्धित हैं, ऐसी औरतों से सम्बन्धित जिनमें सदा एक को छोड़कर सभी सतरंगे पंखों वाली शहरी औरत कहलाती हैं, किन्तु उनमें भारतीयता का लेशमात्र भी नहीं है।

स्पष्ट है कि 'नयी कविता' के नये नागरिक बनने के लिए ऐसे कच्चे, 'नयी कविता' के रोमांस का कृत्रिम प्रयोग करना नागार्जुन ने अवश्य समझा—किन्तु ऐसा करने में उन्हें बड़ा मँहगा मूल चुकाना पड़ा, यानी अपनी मौलिकता की तिलांजलि दे देनी पड़ी।

हिन्दी के समर्थ जनवादी आलोचक डॉ० रामविलास शर्मा की दृष्टि इस ओर अवश्य पड़नी चाहिए थी। किन्तु शायद उनकी दृष्टि इस ओर नहीं गई और उन्होंने नागार्जुन के सतरंगे पंखों वाली पर अपनी एकांगी राय ज़ाहिर करते हुए उसे एक श्रेष्ठ जनवादी कृति माना है। हालाँकि नागार्जुन के पाठकों को उनके इस संग्रह से अत्यन्त निराशा हुई है।[1]

दोनों कवियों ने मन को सम्बोधित करते हुए कविताएँ लिखी हैं। दोनों

१. समालोचक—नवम्बर, १९५९।

कविताओं में शमशेर की कविता में मनोवैज्ञानिकता एवं सूक्ष्मता अधिक है, नागार्जुन की कविता में स्थूलता अधिक है। जब कि मन पर लिखी गई किसी भी कविता का शीर्षक भी ठीक नहीं चुना है—'और तू चक्कर लगा आया तमाम'। उनकी कविता से भारत के प्राचीन उपदेशक कवियों का स्वर सुनाई पड़ता है जिसका (justification) नागार्जुन के पास ही हो सकता है।

उत्कृष्ट कविता का गुण उसकी चित्रात्मकता (images) हुआ करती है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल एवं वेलिंशिसकी जैसे आलोचकों ने भी स्वीकार किया है कि काव्य में अर्थ ग्रहण मात्र से काम नहीं चलता, बिम्ब ग्रहण कराना आवश्यक होता है।

दोनों कवि चित्रों का प्रयोग करते हैं। किन्तु शमशेर ऐसा लगता है कि केवल चित्रों के सहारे ही सब-कुछ कहना चाहते हैं। जब कवि को शब्दचित्रों से सन्तोष नहीं होता तो वह 'घनीभूत पीड़ा' (एक सिंफनी) का रेखाचित्र भी बनाकर काव्य पुस्तक में प्रकाशित करवा देता है। 'घनीभूत पीड़ा' कविता के अन्तर्गत प्रकाशित चार रेखा-चित्र सचमुच कविता को समझने में बड़ी सहायता करते हैं। जिन्होंने महादेवी वर्मा की कविताओं अध्ययन किया होगा, उनसे छिपा हुआ नहीं है कि चित्रों के द्वारा कविता को स्पष्ट करने की यह परम्परा पुरानी है। किन्तु यहाँ बात थोड़ी भिन्न है—नये कवि की सृजन प्रेरणा को इन चित्रों ने मूर्त आकार दिया है। अतः ये कविताएँ केवल शब्दों का खेल नहीं हैं। निष्कर्ष यह है कि नागार्जुन का संग्रह आउट ऑफ डेट प्रतीत होता है परन्तु शमशेर की कविताएँ छायावादोत्तर आधुनिक हिन्दी कविता की नवीनतम प्रगति का प्रतिनिधित्व करती हैं, सचमुच में जिसका प्रथम नागरिक होने का अधिकार एकमात्र शमशेर को ही है।

नागार्जुन हिन्दी एवं मैथिली पर समान अधिकार रखते हैं और दोनों भाषाओं के श्रेष्ठ कवियों में अपना स्थान रखते हैं।[1] शमशेर हिन्दी, उर्दू और अंग्रेजी के विद्वान हैं और शायद इसीलिए वे अत्यधिक सचेतन कवि हैं। साथ ही उनका व्यंग्य इसीलिए काफी बारीक होता है, जबकि नागार्जुन आवश्यकता से अधिक खुल पड़ते हैं, जो कला की दृष्टि से दोष ही माना जायगा।

---

१. आलोचना—२२, अप्रैल, १९५९।

एग्नेस हेलर

शेक्सपियर और मानव-प्रकृति

शेक्सपियर इतिहास के ऐसे युग में पैदा हुआ था जब कि मानव-प्रकृति का अध्ययन एक नाज़ुक दौर में से गुज़र रहा था। सामंती युग का ढाँचा, और परम्परागत मानव-सम्बन्ध शिथिल हो रहे थे। पुरानी परम्पराओं और जीवन-मूल्यों को तोड़ा जा रहा था। शेक्सपियर के हर दुखान्त नाटक में "टाईम इज़ आउट ऑफ़ ज्वॉयन्ट" की ध्वनि है। 'रिचर्ड द्वितीय' में दिखाया गया है कि सिंहासन के उत्तराधिकार में प्राचीन परम्पराओं को किस प्रकार तोड़ा गया। 'हैमलेट' में भी हत्या द्वारा सिंहासन पर अधिकार किया गया। "किंग लियर" में परम्परागत पितृ-प्रेम तथा आदर-भाव को ठुकराया गया। परम्पराओं का हनन दोधारी तलवार की तरह है। कुछ हद तक यह हत्याओं का कारण है, लेकिन साथ ही यह नये गुणों को भी जन्म देता है, उदाहरण के लिए "मच एडो अबाऊट नथिंग" और "रोमियो एण्ड जूलियट" में। हम देखते हैं कि शेक्सपियर के नाटकों के नायक किस तरह नये यथार्थ के सन्मुख पेश आते हैं। पुरानी रूढ़ियों की तहों में से नये व्यक्ति का जन्म होता है। हर नाटक में ये सवाल उठते है—'मैं कौन हूँ ? समाज में मेरी स्थिति चाहे कुछ भी हो, लेकिन मेरे आस-पास के लोग कैसे इन्सान हैं ?' जूलियट कहती है—

"तेरा नाम ही मेरा दुश्मन है
हालांकि तू तो मोन्टेग्यू[1] नहीं है,
मोन्टेग्यू नाम में क्या रखा है ? न यह किसी इन्सान का हाथ है, न पैर है,
न बाँह है, न चेहरा है, न जिस्म का कोई और हिस्सा है।

उस युग में सामन्ती परम्पराएँ टूट रही थीं, जिसके करण मानव-मूल्यों और समस्त नैतिक सिद्धान्तों के लिये एक भारी खतरा पैदा हो गया था। इन्सान के बहुत-से कामों के पीछे पैसे की प्रेरणा होने लगी थी। शेक्सपियर के सबसे अधिक क्रियाशील पात्र रिचर्ड, एडमण्ड, इयागो, क्लॉडियस, प्रिंस जॉन जैसे बदमाश हैं जो नये युग के अवसरों से फ़ायदा उठाते हैं और व्यक्ति की बढ़ती हुई स्वतन्त्रता का दुरुपयोग करते हैं। 'किंग जोन' में फिलिप कड़ुवा व्यंग्य करता है—

जब तक मैं भिखारी हूँ मैं दूसरों की खिल्ली उड़ाऊँगा,
और कहूँगा कि अमीर होने से ज्यादा बड़ा गुनाह कोई नहीं है।
और जब मैं अमीर हो जाऊँगा तो मेरा गुण यह होगा कि—
मैं कहूँगा कि भिखारी होने से बड़ा गुनाह कोई नहीं है।

१. जूलियट के ख़ानदान की मोन्टेग्यू ख़ानदान से पुरानी दुश्मनी थी और रोमियो मोन्टेग्यू ख़ानदान का लड़का था।

चूंकि दौलत को देखकर बादशाह भी ईमान छोड़ देते हैं।
इसलिए मेरा मालिक मुनाफ़ा होगा; ऐ मुनाफ़ा ! मैं तेरी पूजा करूँगा !

पुराने अभिजात वर्ग के आत्मसम्मान और नेकी के सिद्धान्त उस ज़माने में बेमानी हो गये। फ़ाल्स्टॉफ़ के शब्दों में—"क्या आत्मसम्मान से टूटी टांग जुड़ सकती है ?··· नहीं···तो फिर आत्म सम्मान में शल्य-क्रिया करने की तमीज़ भी नहीं ? नहीं। तो फिर आत्म सम्मान क्या चीज है ? सिर्फ़ एक शब्द। यह शब्द क्या है ? हवा !"

आत्म सम्मान की जगह पैसे ने ले ली थी, जिसे टाईमन "मानवजाति की वेश्या" कहता है।

व्यक्तित्व के विकास ने, बुद्धि के प्रयोग के अवसरों ने यथार्थ और ऊपर से दिखने वाले रूप में, भीतर और बाहर में विरोधाभास पैदा कर दिये थे। मानव-प्रकृति व्यक्तित्व के विकास की कसौटी पर चढ़ने लगी थी और मानव-विषयक ज्ञान के नए, तीव्र विकास की आवश्यकता पैदा हो गई थी। एक ऐसी दुनिया में जहाँ हर काम पैसे और मुनाफ़े से संचालित होने लगा था, जहाँ बाहरी मुलम्मा असलियत को ढाँप सकता था, उन नायकों को, जिनका ज्ञान परम्परागत नैतिक मान्यताओं पर आधारित था, मानव-प्रकृति के सम्बन्ध में इसी स्थिति का सामना करना पड़ा था। इसीलिए शेक्सपियर के अनेक शानदार पात्र जीवन में असफल रहे हैं। यौवनकाल में ओथेलो, लियर, प्रॉस्पेरो बड़ी आसानी से ठगे गये थे, क्योंकि उनका जीवन-बोध सीमित था। हेनरी चतुर्थ के विरुद्ध षडयन्त्र करने वाले इसलिये नष्ट हो गये क्योंकि वे राजनैतिक मैकियाविलीवाद से अनभिज्ञ थे। लेन्कास्टर ने कहा कि अगर वे अपनी सेनाओं को तोड़ दें तो वह उन्हें सम्मानपूर्वक वापिस लौटने का मौक़ा देगा; लेकिन इस आश्वासन के फ़ौरन बाद ही बिना किसी संकोच के वह उनके सर काट लेता है—क्योंकि लेंकास्टर के मत में इन राजनैतिक वायदों का कोई मूल्य नहीं हुआ करता। षडयन्त्रकारी इस घटना का अनुमान भी नहीं लगा सकते थे—न ही उनके सामने ऐसी कोई मिसालें थीं। इसी तरह व्यक्तिगत जीवन में भी मेकियाविलीवाद का प्रारम्भ हुआ और इआगो जैसे पात्रों का जन्म हुआ। शेक्सपियर के नाटकों के खलनायक जानबूझकर यथार्थ और बनावटीपन के भेद का आश्रय लेते हैं। छल प्रपंच से राजगद्दी प्राप्त करने वाला हेनरी चतुर्थ भी राजा बनने से पहले भद्रता का परिचय देता है, लेकिन बाद में अपने समर्थकों का दुश्मन बन जाता है। फिर भी वह जानबूझकर उस तरह की आँखमिचौनी नहीं खेलता जैसी बिल्ली चूहे के साथ खेलती है। यहाँ तक कि यॉर्क में भी नये और पुराने गुणों का समन्वय है। वह अपने परिवार में कभी मैकियाविलीवादी आचरण नहीं करता। सफ़ोक, सोमरसेट, हेनरी छठे के अधिकांश दरबारियों का भी यही हाल है, इसी मिट्टी में से शेक्सपियर के खलनायक रिचर्ड तृतीय का जन्म हुआ है। रिचर्ड को अपने दानवीपन का पूरा एहसास है, वह जानता है कि वह अपनी पुरानी जिम्मेदारियों से नाता तोड़ चुका है। झूठ और फ़रेब उसके स्वभाव की विशेषता है।

"मैं मुस्करा सकता हूँ और मुस्कराकर क़त्ल भी कर सकता हूँ,
... ...

मैं अपने गालों को बनावटी आँसुओं से तर कर सकता हूँ
और हर मौक़े के अनुसार अपने चेहरे को बदल सका हूँ
... ...

मैं गिरगिट को भी मात दे सकता हूँ
... ...

और क़ातिल मेकियाविली मेरा शागिर्द बन सकता है !"

मज़े की बात यह है कि वह बार-बार अपनी ईमानदारी और मासूमियत पर ज़ोर देता है और मार्गरेट से कहता है—"इस दुनिया के मुक़ाबले में मैं एक बच्चे की तरह बेवकूफ़ हूँ ।" मार्गरेट उसके फ़रेब को समझ जाती है, लेकिन उसके साथी नहीं समझ पाते । रिचर्ड हेस्टिंग्ज़ के क़त्ल का हुक्म देता है । फिर भी हेस्टिंग्ज़ कहता है, "उसके चेहरे से फ़ौरन उसके दिल की बात का अन्दाज़ लग जाता है ।"

इसी प्रकार 'ओथेलो' नाटक का खलनायक इयागो अपने धूर्ततापूर्ण व्यक्तित्व के विषय में कहता है—

"मैं प्रेम और कर्तव्य भावना से प्रेरित होकर नहीं बल्कि अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिये ओथेलो की सेवा करता हूँ, मेरा उद्देश्य विलक्षण है, ऊपर से मैं कुछ और दिखाई देता हूँ और भीतर से कुछ और हूँ···मैं जैसा दीखता हूँ वैसा नहीं हूँ ।"

इन् बदमाशों को यह अच्छी तरह मालूम है कि इन्सान नेकी और बदी में से किसी एक का चुनाव करने के लिए आज़ाद है और अपनी विवेकशक्ति द्वारा ही इन्सान यह चुनाव करता है । इयागो के शब्दों में, "हमारे शरीर बाग़ों की तरह हैं जिन्हें हमारी इच्छाशक्ति मालियों की तरह सींचती है ।" इयागो, एडमण्ड या रिचर्ड केवल सत्ता या धन पाने की लालसा से अपने मित्रों के साथ विश्वासघात करते हैं तो उनका असली उद्देश्य कुछ और होता है । वे सोचते हैं कि उन्होंने संसार को और संसार के लोगों को अच्छी तरह परख लिया है और वे उन्हें खिलौना बनाकर मन-चाहा खेल खेल सकते हैं । उन्हें अपनी शक्ति और बुद्धि की आजमायश से सन्तोष प्राप्त होता है । इसी बिन्दु पर आकर नकारात्मक, अनैतिक विचारों द्वारा उनकी बुद्धि भ्रष्ट होती है, क्योंकि दूसरों को हानि पहुँचाने की इच्छा न भी हो तब भी दूसरों को खिलौना समझना एक नकारात्मक प्रक्रिया है, क्योंकि दूसरा इन्सान तब मात्र एक साधन बन जाता है । दूसरों की स्वतन्त्रता का अपहरण करके ही ऐसे व्यक्ति अपनी नैतिक स्वतन्त्रता क़ायम करते हैं । इयागो ओथेलो से कार्य की स्वतन्त्रता छीनता है और एडमण्ड, ग्लोसेस्टर की । दोनों कुछ समय के लिये व्यक्ति न रहकर 'वस्तु' बन जाते हैं ।

मानव प्रकृति की संश्लिष्टता बढ़ने के साथ-साथ हम देखते हैं कि कई बार शेक्सपियर के महान् और नैतिक दृष्टि से उदात्त नायक भी खलनायकों जैसे तरी

अपनाते हैं और वैसा ही आचरण करते हैं—दूसरे लोगों की परीक्षा लेने के लिए। दूसरों के दिल की तह तक पहुँचने के लिए शेक्सपियर के महानतम नायक भी बनावटी परिस्थितियों का आयोजन करते हैं। हेमलेट क्लॉडियस की और प्रोस्पेरो फ़र्डीनेन्ड की परीक्षा लेता है। लेकिन उनके आचरण में अभिनय और यथार्थ की सीमा स्पष्ट खिची रहती है। शेक्सपियर के नाटकों में यह बात भी स्पष्ट की गई है कि दूसरों की परीक्षा लेने के लिये अभिनय आवश्यक है, ताकि दूसरों को उसकी असली प्रकृति का पता न चल सके। इसीलिए हेमलेट असंतुलित मस्तिष्क वाले व्यक्ति का अभिनय करता है। प्रोस्पेरो लोगों के सामने यह ज़ाहिर करता है कि वह अत्याचारी है। फिर भी ये दोनों नायक नेक और पवित्र रहते हैं, अभिनय के बावजूद उनकी असली प्रकृति में कोई अन्तर नहीं आता। वे अभिनय करने की भरसक कोशिश करते हैं लेकिन कोई भी लज्जानक काम नहीं करते।

आईये सबसे पहले उन ट्रैजिक पात्रों पर ग़ौर करें जो इतने भोले और सीधे हैं कि उनका सरल विश्वास ही उनकी असफलता का कारण बन जाता है। रचना-काल के अनुसार ऐसे पात्रों में ग्लोसेस्टर, ओथेलो, लीयर और टाईमन प्रमुख हैं। अलग-अलग कारणों से उनके भीतर अंधा विश्वास पैदा होता है, लेकिन यही सरलता और अंधा विश्वास उनकी महानता का मूल कारण भी है। निःसन्देह शेक्सपियर ने बड़े स्नेह से इन पात्रों का चित्रण किया है, क्योंकि वे पवित्र हैं, उन्हें छल-कपट नहीं आता, अभी उनमें साज़िश करने वाली बुद्धि नहीं पैदा हुई, दूसरों की क़िस्मत से खेलने और दूसरों को परखने में भी वे असमर्थ हैं। लेकिन शेक्सपियर ने यह भी देखा कि इस तरह के पात्र अब इस संसार में सफल नहीं हो सकते, क्योंकि उनके अंधे, सरल विश्वास से दुष्टता को प्रश्रय मिलता है। खुद प्रोस्पेरो स्वीकार करता है कि अपने यौवन-काल में वह सांसारिकता से दूर हटकर, एकान्त में किताबों की दुनिया में खोया रहता था, जिसके परिणामस्वरूप उसके धोखेबाज़ भाई के मन में लालच जगा और उसने सारी सत्ता को हथिया लिया। शेक्सपियर के नाटकों में यह विचार स्पष्ट रूप से मिलता है कि सरल विश्वास स्वयं अपने विरोधी गुण—छल-कपट को पैदा करता है। ग्लोसेस्टर की सरलता की वजह से ही इंग्लैंड पर संकट आया, हालांकि वह खुद कोई बुरा काम नहीं करता और अन्त तक पवित्र रहता है। ओथेलो में भी यही दोष है। वह अपने सीधे मन के फलस्वरूप अपनी प्रिय पत्नी डेस्डीमोना की हत्या कर डालता है—हालाँकि इसमें इयागों की साज़िशों का पूरा हाथ है। इसीलिये ओथेलो की नैतिक ईमानदारी पर आँच नहीं आती। इसके विपरीत लीयर एक जिद्दी बूढ़ा है—उसे चेतावनी मिल चुकी है कि उसकी दोनों बड़ी बेटियाँ मक्कार हैं, लेकिन वह झूठी प्रशंसा के बहकावे में आकर इस चेतावनी पर ध्यान नहीं देता—यही उसके चरित्र का एक बड़ा दोष है, जिसकी वजह से वह अपनी छोटी बेटी कोरडीलिया की ईमानदारी को गुस्ताखी समझ बैठता है। शुरू से ही इस तरह की सरलता से पाठक के मन में कोई सहानुभूति नहीं जगती। अपनी ग़लती के बाद जब लीयर मानसिक यन्त्रणा झेलता है, तब शोक की अग्नि में तपकर उसका व्यक्तित्व निखरता है।

टाईमन में भी यही दोष है। उसे अपने मित्रों में अंधा विश्वास है। उसके सभी साथी जानते हैं कि टाईमन के मित्र विश्वासयोग्य नहीं हैं। उनकी चेतावनियों का टाईमन पर कोई असर नहीं पड़ता। वह जानता है कि लोग धोखेबाज़ होते हैं, लेकिन उसे पूरा यक़ीन है कि कोई उसे धोखा नहीं दे सकता। उसके मित्र क़ीमती उपहारों के लालच से उसके प्रति आकर्षित होते हैं, लेकिन वह सोचता है कि उसके व्यक्तित्व में कोई आकर्षण है। अन्त में जब उसकी आँखें खुलती हैं तो वह समस्त मानव-जाति से घृणा करने लगता है।

शेक्सपियर के इन सरल-हृदय पात्रों में एक और गुण भी है। जब उनके साथ विश्वासघात होता है तो उनका सारा संसार बर्बाद हो जाता है। डेस्डीमोना की बेवफाई की बात सोचकर ओथेलो अपने समस्त जीवन को, प्यार को, यहाँ तक कि लड़ाईयों और अपने पद को भी अलविदा कहा देता है। एक या दो व्यक्तियों से धोखा खाने के बाद ऐसे पात्र यह निष्कर्ष निकालते हैं कि सारा संसार ही दुष्ट है और एकदम वे अंधे विश्वास से अंधी घृणा पर आ जाते हैं। ज्यों-ज्यों उनकी समस्याएं जटिल होती जाती हैं, त्यों-त्यों उनकी निराशा तीव्र होकर मानवद्रोह का रूप धारण करती जाती है। विश्वसनीय व्यक्ति की बजाय ग़लत व्यक्ति पर विश्वास करने के बाद जब उन्हें चोट लगती है तो वे अपना संतुलन खो बैठते हैं। टाईमन घोषणा करता है, "इस क्षण से मैं हर इन्सान और पूरी मानव-जाति का कट्टर शत्रु हूँ!" और वह सबको कोसने लगता है।

ग्लोसेस्टर, ओथेलो, लीयर तथा टाईमन जैसे पात्र अपनी सरलता के कारण नष्ट हो जाते हैं लेकिन शेक्सपियर के सभी खलनायक मानव-प्रकृति और मनोविज्ञान को समझने की कोशिश करते हैं, हालाँकि रिचर्ड, इयागो और एडमण्ड-जैसे दुष्ट मानव-प्रकृति के इस ज्ञान को दुष्टता के लिए इस्तेमाल करते हैं। वे अच्छी तरह जानते हैं कि वे किसे धोखा देंगे। इयागो का विश्लेषण देखिये—

> **"ओथेलो खुले दिल और सरल स्वभाव का व्यक्ति है, वह लोगों की शक्ल देखकर उन्हें ईमानदार समझता है। उसे मैं नकेल डालकर आसानी से चराऊँगा, वह सब गधों की तरह बेवकूफ है।"**

लेकिन इस दृष्टिकोण में एक मनोवैज्ञानिक बाधा रह जाती है, क्योंकि यह दृष्टिकोण मानव-जाति के प्रति घृणा के भाव से पैदा होता है। चालाक और बदमाश आदमी दूसरे लोगों को या तो बदमाश या निरा बेवकूफ समझते हैं और उनका ख़याल है कि वे नेकी को बुराई में बदल सकते हैं। शेक्सपियर के ये पात्र निराशावादी दर्शन के वाहक हैं। जिस तरह सरल-हृदय पात्र चोट खाकर मानवद्रोही बन जाते हैं उसी तरह इन मक्कार पात्रों की घृणा के मूल में भी किसी अपमान की यातना होती है। उनकी शिकायत का गुरुत्व और औचित्य ही उनके चरित्र के पैमाने को निर्धारित करता है। इन दुरात्माओं में सबसे बड़ी चोट रिचर्ड को लगी है इसलिये उसकी दुष्टता का स्तर भी बड़ा है इयागो की शिकायत घटिया है, इसलिये वह निकृष्टतम अपराध करता है। ख़ैर, मानवद्रोह का चाहे कोई भी कारण हो, उसकी अभिव्यक्ति

एक ही है : धरती पर नेकी की शक्ति और मूल्य की अवहेलना करना।

सरल हृदय और बदमाश दोनों कोटि के पात्रों की मानवजाति के प्रति घृणा का सिर्फ़ एक सांझा आधार है—दोनों मानव-मूल्यों का महत्त्व कम समझते हैं, बदमाश यह सोचकर कि दुनिया में कोई नैतिक मूल्य नहीं है, मज़े में रहते है—उधर निराश सरल-हृदय व्यक्ति दुखी जीवन बिताते हैं। मानवद्रोह एक भावनारहित आवेग है जबकि घृणा दरअसल प्यार का उलटा चेहरा है। मानवद्रोही समझते हैं कि संसार में मात्र बुराई है इसीसे उनका आध्यात्मिक संतुलन बिगड़ जाता है, लेकिन शेक्सपियर के दुखान्त नाटकों में मानवद्रोहियों को इस अनुभव में से ज़रूर गुज़रना पड़ता है कि संसार में मानव मूल्यों का लोप नहीं हुआ और दुष्टता का सामना करने वाली शक्तियाँ मौजूद हैं। इयागो सपने में भी नहीं सोच सकता था कि उसकी पत्नी एमिलिया उसके ख़िलाफ़ गवाही देगी। न ही रिचर्ड सोच सकता था कि सामंत स्टेनले, हेनरी को जिताने के लिए अपना सब कुछ दाँव पर लगा देगा, न ही एडमण्ड जानता था कि उसका भाई उसके पिता के प्रति वफ़ादारी दिखायेगा। इसी तरह ओथेलो के लिए यह सबक़ सीखना ज़रूरी था कि डेस्डीमोना एक वफ़ादार पत्नी थी और लीयर के लिए यह सबक़ ज़रूरी था कि उसकी सबसे छोटी बेटी कॉर्डिलिया पितृभक्त है। टाईमन को यह मालूम हो गया कि उसके स्वामिभक्त सेवक फ़्लेवियस ने मुसीबत में उसका साथ नहीं छोड़ा। ये नैतिक मूल्य, मानवजाति से घृणा करनेवालों के निराशावादी जीवन-बोध के ऊपर प्रबल प्रहार करते हैं। ऐसे लोगों को जीवन में दुगुनी निराशा होती है। वे अपने दिल में संसार के लिए शत्रुता की भावना लेकर मरते हैं, और बाज़ी हार जाते हैं, लेकिन सरल हृदय पात्र इस दूसरी निराशा में फिर अपने को पा लेते हैं, उनका अस्तित्व फिर अर्थपूर्ण हो जाता है, विनाश के क्षणों में भी उन्हें गौरवमंडित किया जा सकता है। तो फिर क्या हम कह सकते हैं कि सरल हृदय पात्रों की अपेक्षा बदमाश और मक्कार पात्र मानवजाति के बेहतर दृष्टा हैं? शेक्सपियर के नैतिक जगत में तो यह आभास नहीं मिलता। अंधविश्वासी, भोले लोग दुष्टता की शक्तियों से अपरिचित रहते हैं और एक ऐसे संसार में जहाँ बुराई बढ़ती जा रही हो, वे नहीं खप सकते। दूसरी तरफ़ मक्कार और बदमाश पात्र नेकी की शक्तियों से अपरिचित रहते हैं। वे इस संसार में ख़ूब फलते-फूलते हैं, लेकिन उनका अन्त बुरा होता है। ऐसा लगता है कि इन महान् दुखान्तकी नाटकों को लिखते समय शेक्सपियर ने यही विश्लेषण किया था कि मानवजाति में आस्था रखने वाले ही सही हैं।

यह सही है कि अपने जीवन के अन्तिम काल में शेक्सपियर के विचारों में परिवर्तन हुआ था। केवल टाईमन ही ऐसा पात्र है, जिसका विरेचन नहीं हो सका और वह अन्त तक मानव जाति से घृणा करता रहा। अपने सेवक की वफ़ादारी के बावजूद उसे अपनी यन्त्रणा की एकांगिता का आभास नहीं हुआ।

क्या इन सीधे-नेक-अन्धे और चालाक-दुष्ट-जानकार श्रेणियों से अलग भी मानवजाति की कोई श्रेणी है? शेक्सपियर के नाटकों में यह सवाल बार-बार उठता है ऐसे पात्र भी हैं जो अपने कटु अनुभवों द्वारा संसार को पहचान लेते हैं, जो विवेकपूर्ण

ढंग से रहते हैं, न मानवजाति से घृणा करते हैं न मानवद्रोही बनते हैं, क्योंकि वे नेकी और बदी दोनों को पहचानते हैं। ऐसे पात्रों में हेनरी पंचम, हेमलेट और प्रोस्पेरो प्रमुख हैं। 'हेनरी पंचम' नाटक में फ़ालस्टॉफ़ और हॉटस्पर दो परस्पर-विरोधी प्रवृत्तियों को व्यक्त करते हैं। हॉटस्पर में शौर्य की उदात्त भावनाएँ हैं लेकिन वह बदलती हुई दुनिया और लोगों को बिल्कुल नहीं पहचानता। इसलिए उसका उत्साह मूढ़ता की सीमा तक जा पहुँचता है। दूसरी तरफ़ फ़ालस्टॉफ़ समझता है कि पुराने जीवन-मूल्य सापेक्ष हो उठे हैं। हेनरी पंचम संसार से परिचित है, लेकिन संसार के अनुकूल अपने को ढालना नहीं जानता। इसीलिए वारविक कहता है कि राजकुमार के लिए उसके साथी एक विदेशी भाषा के समान हैं और किसी भी भाषा को सीखने के लिए ज़रूरी है कि उस भाषा के घटिया से घटिया शब्दों पर भी ध्यान दिया जाए और उन्हें सीखा जाये।

शेक्सपियर ने हेनरी पंचम के रूप में पहली बार एक ऐसे नायक की सृष्टि की है जो न केवल जीत के क्षण में, बल्कि जीवन-भर अनास्था और अन्धे सरल विश्वास के बीच संतुलित रास्ते पर चल सकता है। फोर्टिनब्रास के शब्दों में हेमलेट बहुत शानदार राजा बन सकता था किन्तु उसे असफलता मिली।

हेमलेट अपने इर्द-गिर्द की ज़िन्दगी को अच्छी तरह पहचानता है। उसकी विटनबर्ग की तालीम और अपने परिवार में पनपते हुऐ पाप ने (उसके पिता की हत्या करके उसे राज्याधिकार से वंचित किया गया था) उसे यह सिखाया था कि "समय विश्रृंखलित हो रहा है।" नाटक के आरम्भ से ही दिखाया जाता है कि उसे अपने आसपास के लोगों पर सन्देह है, सीधे-सादे नायकों के मन में इस तरह का सन्देह नहीं उठता, न ही उन्हें कभी यह आभास होता है कि "समय विश्रृंखलित हो रहा है।" अगर उनके मन में सन्देह उठता भी है तो बहुत देर के बाद, तब भी असली कारण की तरफ उनका ध्यान नहीं जाता। लेकिन हेमलेट हमेशा असली कारणों के प्रति सशंकित रहता है—वह मानवप्रकृति का अत्यन्त सूक्ष्म प्रेक्षक है। नेकी और बदी दोनों की तरफ़ उसका ध्यान जाता है। दूसरे दृश्य में वह होरेशियो से पूछता है कि वह एलसीनोर किले में क्यों लौटकर आया? होरेशियो के इस उत्तर से हेमलेट को बिल्कुल संतोष नहीं होता कि वह अपनी आवारागर्दी की आदत से लाचार होकर आया है। मानव जाति का ज्ञान प्राप्त करने के लिए हेमलेट सीधे सवाल करता है, सवालों के जवाबों का विश्लेषण करता है, दूसरे व्यक्तियों की आँखों का भाव पढ़ने की कोशिश करता है और "मुझे मालूम है" वाले दृष्टिकोण पर जोर देता है। पहले दृश्य में वह अपने दोस्तों रोज़ेनक्रेन्डा और गिल्डनस्टर्न को बड़े विश्वास के साथ मिलता है, लेकिन फ़ौरन उसके दिल में सन्देह पैदा हो जाता है, और वह उनसे साफ़ साफ़ सवाल पूछ लेता है और उसे यह समझने में देर नहीं लगती कि वे उसके प्रच्छन्न शत्रु हैं।

"क्या तुम्हें यहाँ भेजा नहीं गया था? ··· तुम्हें भेजा गया था। तुम्हारे चेहरे से ऐसा लगता है कि तुम किसी गुनाह को कबूल कर रहे हो, शराफ़त की वजह से

तुममें इतनी चालाकी नहीं कि तुम इसे छिपा सको : मुझे मालूम है कि नेक बादशाह और मलिका ने तुम्हें यहाँ भेजा है।"

इसी प्रकार हेमलेट को अपनी प्रेमिका ओफ़ीलिया पर सन्देह होता है और वह सीधा सवाल पूछता है, "तुम्हारे पिता कहाँ हैं ?" "वे घर पर हैं मेरे स्वामी", ओफ़ीलिया उत्तर देती है। अचानक हेमलेट की नज़र पर्दे के पीछे छिपे ओफ़ीलिया के पिता पोलोनियस और बादशाह पर चली जाती हैं।

हेमलेट की बौद्धिकता के कारण दुष्ट लोग उसे खिलौना नहीं बना सकते। "क्या तुम सोचते हो कि तुम मुझे बांसुरी से भी ज़्यादा आसानी से बजा सकते हो ?" मानव स्वभाव का ज्ञाता होने के कारण हेमलेट भी बदमाशों और चापलूसों के साथ खेल खेलता है। लेकिन उसके अभिनय में भी न्यायभावना रहती है।

अब सवाल उठता है कि अपनी समस्त बौद्धिकता के बावजूद हेमलेट अपने विरुद्ध की गई साज़िशों को क्यों न देख सका ? बादशाह का ख्याल है कि हैमलेट के दिमाग में गड़बड़ है। चूँकि वह खुद बदमाश है इसलिए वह ईमानदारी को बुद्धूपन समझता है। उसे यह नहीं पता कि अब हेमलेट पुराना हेमलेट नहीं रहा। नया हेमलेट अपनी असलियत को छिपाने के लिए अभिनय करता है। लेकिन द्वन्द्वयुद्ध के समय वह छुरों की धारों का निरीक्षण नहीं करता। यहाँ आकर उसका ज्ञान असफल हो जाता है और यही ट्रैजेडी का मूलकारण है। अन्धेपन में आकर वह फ़ौरन द्वन्द्वयुद्ध के लिए राज़ी हो जाता है।

लेकिन हम यह कह सकते हैं कि हेमलेट ने 'विश्रृंखालित समय' को सुधारने की पूरी कोशिश की, जिसमें वह असमर्थ रहा।

'टेम्पेस्ट' नाटक में प्रोस्पेरो ने कटु अनुभवों के बाद यह सबक़ सीखा कि दुष्टों पर विश्वास करने से मुसीबतें आती हैं। इस ज्ञान के बल पर प्रोस्पेरो दुष्टों को अंकुश में रखने की शक्ति प्राप्त करता है, लेकिन सिर्फ़ कला के संसार में। ज्यों ही वह अपनी जादू की छड़ी तोड़ देता है, उसकी सारी शक्ति समाप्त हो जाती है। वह प्रत्यक्ष को यथार्थ में बदल सकता है, लेकिन यथार्थ को प्रत्यक्ष रूप नहीं दे सकता। न ही हेमलेट की तरह वह 'विश्रृंखलित समय' को सुधारना चाहता था। प्रोस्पेरो के इर्द-गिर्द दुष्टता का साम्राज्य था, नेकी सिर्फ़ गोन्ज़ेलो और युवक फ़र्डीनेन्ड मे बच रही थी। दुष्टों को सुधारना प्रोस्पेरो के बस की बात नहीं थी। जब दुष्टों के मन में पश्चाताप की अनुभूति जगती है तो प्रोस्पेरो कहता है, "अब मेरा काम पूरा हो गया। इससे आगे जाने की मुझे कोई इच्छा नहीं।" 'विंटर्ज़ टेल' नाटक में लियोन्तीज को क्षमा पाने के लिए पूरे सोलह बरसों तक इन्तजार करनी पड़ी थी। लेकिन टेम्पेस्ट के दुष्टों को तत्काल ही क्षमा मिल गई। शायद शेक्सपियर का मन्तव्य यह है कि जब संसार में इतनी दुष्टता है तो फिर हमारे पास दुष्टों को क्षमा करने के सिवा चारा भी क्या है।

शेक्सपियर के सरल हृदय पात्र 'विश्रृंखलित समय' की पृष्ठभूमि में मानव-स्वभाव को समझने में असमर्थ हैं, वरना उनमें क्षमताओं और योग्यता की कोई कमी

नहीं होती। लियर क्षण-भर में भाँप लेता है कि भेस बदलने वाला केंट उसका साथ देगा क्योंकि लियर सेवकों के गुणों का पारखी है। एक जेनरल के रूप में ओथेलो को सफलता मिली थी। शेक्सपियर के नाटकों से यह सिद्ध होता है कि इन्सान सर्वज्ञ नहीं हो सकता। 'जूलियस सीज़र' नाटक में यह बात बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है। सीज़र तथा केसियस राजनैतिक चरित्र के पारखी हैं, किन्तु ब्रूटस अपने विरोधियों को राजनैतिक दृष्टि से परखने में असमर्थ है। जब केसियस और उसके साथी सीज़र की हत्या के बाद सीज़र के साथी एन्टोनियस की भी हत्या करना चाहते हैं तो ब्रूटस उन्हें रोक देता है। केसियस ब्रूटस को समझाता है कि जैसे भी हो एन्टोनियस को सीज़र के जनाज़े पर भाषण देने से रोकना चाहिए, लेकिन ब्रूटस कहता है, "इससे हमें नुक़सान की बजाय फ़ायदा होगा।" ब्रूटस की इसी ग़लती से उनके पक्ष की हार हुई।

वैसे देखा जाय तो ब्रूटस, सीज़र और केसियस से कहीं ज़्यादा मानव-प्रकृति को समझता है, वह जानता है कि कौन ईमानदार है, कौन बदमाश है, कौन सच्चा दोस्त है और कौन मित्र-द्रोही है। उधर सीज़र ब्रूटस को अपना दोस्त और बेटा समझता है, उसे यह मालूम नहीं कि एक वीतराग व्यक्ति अपनी भावनाओं पर क़ाबू पाकर कुछ भी कर सकता है। इसीलिए मरने से पहले सीज़र कहता है, "अरे तुम भी।" केसियस सबसे पहले जिस सेवक से कहता है, "मुझे मार डालो," वह सेवक फ़ौरन राज़ी हो जाता है। केसियस ज़िन्दगी-भर लोगों को पैसे से खरीदता रहा है (उसे हर इन्सान की क़ीमत मालूम थी), लेकिन कोई भी सेवक ब्रूटस की छाती में छुरा भोंकने के लिए राजी नहीं होता इसीलिए ब्रूटस इस नतीजे पर पहुँचता है—

"ऐ देशवासियो, मुझे इस बात की ख़ुशी है कि ज़िन्दगी-भर मुझे एक भी ऐसा आदमी नहीं मिला, जिसने मेरे साथ विश्वासघात किया हो।" ब्रूटस राजनैतिक दृष्टि से भले ही लोगों को परखने में असमर्थ रहा हो, किन्तु नैतिक दृष्टि से वह लोगों को अच्छी तरह जाँच-परख सकता है।

शेक्सपियर ने मानव-प्रकृति के बारे में यह मालूम करके कि मानव प्रकृति का समूचे चरित्र, विश्व-बोध और नैतिकता के साथ क्या सम्बन्ध है, मानव-जाति के ज्ञान के द्वन्द्वात्मक स्वरूप का कलात्मक चित्रण किया है और अपने युग-दर्शन के आन्तरिक विरोधाभासों को अभिव्यक्ति दी है।

जयकुमार 'जलज'

भवभूति

भवभूति के नाटकों के क्रम के सम्बन्ध में विवाद है। इस सम्बन्ध में प्रायः किसी एक नाट्य तत्त्व के आधार पर उनके एक नाटक को किसी दूसरे नाटक से पहले या बाद का सिद्ध करने की सामान्य तर्क-पद्धति का आश्रय लिया जाता है। इस तर्क-पद्धति से तो भवभूति के किसी भी नाटक को सहज ही उनके किसी अन्य नाटक के बाद का सिद्ध किया जा सकता है। उदाहरण के लिए डॉ० भोलाशंकर व्यास 'मालती माधव' को भवभूति की पहली रचना और 'महावीर चरित' को उसके बाद की रचना मानते हैं। इसके लिए वे 'मालती माधव' की अपेक्षा 'महावीर चरित' की वस्तु-योजना का प्रमाण उपस्थित करते हैं।[1] किन्तु यदि चरित्र-चित्रण की श्रेष्ठता के आधार पर निर्णय दिया जाए तो निश्चय ही 'मालती माधव' 'महावीर चरित' की अपेक्षा बाद की रचना सिद्ध होगा और यह भी सच है कि कथावस्तु की अपेक्षा चरित्र-चित्रण अधिक सूक्ष्म तत्त्व है। अतः उसकी श्रेष्ठता अधिक प्रौढ़ हाथों की देन होगी। वास्तव में सम्पूर्ण नाटक की श्रेष्ठता के आधार पर ही उसका क्रम निर्णीत किया जाना चाहिए और इस निर्णय का समर्थन अन्य प्रमाणों से भी होना चाहिए।

भवभूति स्वभाव से अत्यन्त गम्भीर, मर्यादावादी और आदर्शवादी प्रतीत होते हैं। पाण्डित्य और भाषा पर अधिकार उन्होंने परम्परा से भी पाया था[2] और स्वयं भी अर्जित किया था।[3] काव्य-सृजन उनके लिए इतना सम्मानपूर्ण है और कविकर्म के प्रति वे इतने सचेतन हैं कि उत्तर रामचरित के नान्दीपाठ में वे अन्य संस्कृत नाटककारों की तरह किसी देवता को नहीं बल्कि अपने पूर्ववर्ती कवियों को प्रणाम अर्पित करते हैं।[4] ऐसे स्वभाव की अनुकूलता रामकथा से ही भली प्रकार बैठती है। इसलिए कोई आश्चर्य नहीं यदि भवभूति ने राम की कथा को ही अपने पहले नाटक का विषय बनाया हो और 'महावीर चरित' की रचना की हो। यह नाटक सम्भवतः असफल सिद्ध हुआ। 'मालती माधव' का निम्नलिखित छन्द उनके पहले नाट्यप्रयत्न

१. सम्भवतः 'मालती माधव' ही पहली रचना है। 'मालती माधव' की वस्तुयोजना की अधिक विशृङ्खलता भी इसका संकेत कर पाती है। वैसे तो भवभूति के सभी रूपक नाटकीय संविधान की दृष्टि से शिथिल जान पड़ते हैं किन्तु इनमें भी 'मालती माधव' अधिक शिथिल है।
— संस्कृत कवि दर्शन, पृ० ३८५

२. 'मालती माधव', प्रस्तावना।
३. 'उत्तर रामचरित', १।२।
४. वही, १।१।

को असफलता की ओर ही संकेत करता प्रतीत होता है—

ये नाम केचिदिह न प्रथन्त्यवज्ञां
जानन्ति ते किमपि तान्प्रति नैष यत्नः
उत्पत्स्यतेऽस्ति मम कोऽपि समानधर्मः
कालो ह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी ।

'मालती माधव' में इस छन्द का आना स्वयं इस बात का प्रमाण है कि उसके पूर्व कोई नाटक लिखा जा चुका था और यह नाटक 'उत्तर रामचरित' नहीं है इस बात पर सभी विद्वान् सहमत हैं। स्पष्ट है कि वह नाटक 'महावीर चरित' ही होगा। 'महावीर चरित' के बाद 'मालती माधव' की रचना एक स्वाभिमानी नाटककार ने अपने स्वभाव से कुछ हटकर सम्भवतः प्रथम नाटक की प्रतिक्रियास्वरूप ही की होगी। श्रृङ्गार तथा अन्य अनेक रस, कुतूहल, साहसपूर्ण कृत्य आदि से युक्त नाटक के द्वारा जनरुचि को सन्तुष्ट करने की चेष्टा ही परिलक्षित होती है। इस नाटक को, जैसा कि स्वाभाविक है, सफलता मिली। परिणामस्वरूप भवभूति फिर अपने पुराने विषय पर लौट आए और उन्होंने 'उत्तर रामचरित' की रचना की।

फिर यह प्रमाण भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है कि 'महावीर चरित' की अपेक्षा 'मालती माधव' में भवभूति की भाषा अधिक सरल है। सरलता का यह क्रम बढ़ता गया है। 'उत्तर रामचरित' की भाषा सरलतम है। कथावस्तु के अतिरिक्त अन्य सभी तत्त्वों की दृष्टि से या समूचे नाटक के रूप में 'महावीर चरित' की अपेक्षा 'मालती-माधव' अधिक श्रेष्ठ है। इसलिए 'महावीर चरित', 'मालती माधव' और 'उत्तर रामचरित' भवभूति की रचनाओं का यह क्रम ही उचित प्रतीत होता है। संस्कृत नाटकों पर काम करने वाले अधिकांश विद्वानों में भवभूति के नाटकों का अब यही स्वीकृत क्रम भी है।

यद्यपि भवभूति की नटों से मित्रता थी[1] और भगवान् कालप्रियानाथ की यात्रा के अवसर पर उनके नाटक अभिनीत भी हुए थे[2] फिर भी लगता है कि जैसे रंगमंच की संस्था भारतवर्ष में उनके समय तक शिथिल पड़ गई थी और नाटककारों का सम्पर्क जनसामान्य से नहीं रह गया था। या तो वे राजदरबारों में सीमित हो चले थे या फिर पाण्डित्य में। सम्भवतः ज्ञान-विज्ञान की सुदीर्घ परम्परा का यह स्वाभाविक परिणाम हुआ कि व्यक्ति अधिक शास्त्रवादी हो गया। काव्य में पाण्डित्य-प्रदर्शन जितना सहज है नाटक में उतना नहीं। नाटक में इसके लिए अवकाश ही नहीं होता। फिर नाटक जन-सम्पर्क की कला है और जे० बी० प्रीस्टले के शब्दों में उसके सम्बन्ध में सदैव यह समस्या उठती है कि उसके लिख चुकने के पश्चात् उसका क्या किया जाए।[3] अर्थात् रंगमंच से नाटक का अनिवार्य सम्बन्ध है। ऐसी परिस्थिति में

---

१. निसर्ग सौहृदेन भरतेषु—'मालती माधव', पृ० ३।
२. 'उत्तर रामचरित', पृ० ३।
३. What to do with your play when you have written it?
—The Art of Drama, Page 90.

या तो लोग काव्य-सृजन में लग गए या यदि नाटक लिखते भी रहे तो उसे काव्य के निकट ले गए। भवभूति के पश्चात् तो यह स्थिति हो गई कि नाटक बहुत-कुछ गीति-नाट्य-सा हो गया और फिर धीरे-धीरे काव्य के विशाल आयाम उसमें ऐसे प्रकट हुए कि नाटक के नाम पर किनारे की ओर पात्रों के नाम-भर रह गए और सब-कुछ काव्य हो गया।

भवभूति के नाटकों के वस्तुविधान में ही काव्य का प्रभाव दिखाई देने लगता है। उनके तीनों नाटकों में से किसी में भी समय तथा स्थान के संकलन की रक्षा नहीं दिखाई देती। 'महावीर चरित', 'मालती माधव' और 'उत्तर रामचरित' की कथा-वस्तु क्रमशः १५ वर्ष, ३ माह और १२ वर्ष का समय घेरती हैं। तीनों में ही स्थान के सम्बन्ध में कोई सीमा नहीं है। कथावस्तु को घटित करने के लिए केवल पृथ्वी के स्थानों को ही नहीं, कभी-कभी आकाश को भी केन्द्र बनना पड़ा है। कहीं-कहीं कथा-वस्तु अत्यन्त शीघ्र स्थान परिवर्तित करती है। शीघ्र स्थान-परिवर्तन काव्य में तो सम्भव है, नाटक में नहीं।

भवभूति के नाटकों में सूच्य कथावस्तु का अंश पूर्ववर्ती नाटककारों की अपेक्षा अधिक है। इसलिए उन्होंने अपने नाटकों में अर्थोपक्षेपकों—मुख्य रूप से प्रवेशक और विष्कम्भक-का प्रयोग अधिक किया है। इन्हीं की सहायता से वे भावी या अतीत के कथांशों की सूचना देते हैं। अकेले 'मालती माधव' में ही पहले, पाँचवें और नवें अंक में विष्कम्भक और दूसरे, तीसरे तथा सातवें अंक में प्रवेशक का उपयोग किया गया है। नेपथ्य से जो सूचनाएँ दी गई हैं वे अलग हैं।

सूच्य कथावस्तु की अधिकता किसी भी नाटक को अनिवार्यतः वर्णनात्मक बना देगी और जैसे ही वर्णनात्मक अंशों की प्रधानता हुई नाटक नाटक कम काव्य अधिक हो जाएगा।

काव्यात्मकता का प्रभाव भवभूति पर इतना है कि उनके पात्र प्रायः कथावस्तु को स्थगित-सा करके प्राकृतिक पदार्थों या मनोभावों के वर्णन में उलझ जाते हैं। इस प्रकार केवल सूच्य कथावस्तु में ही नहीं दृश्य कथावस्तु में भी वर्णनात्मकता भर गई है। 'मालती माधव' के तीसरे अंक में लवंगिका का संवाद चार पृष्ठों तक चला है और भाषण का रूप ले बैठा है। 'महावीर चरित' के चौथे अंक में भी युद्धक्षेत्र के वर्णन से सम्बन्धित इन्द्र और चित्ररथ के लम्बे भाषणों की योजना है। इसी प्रकार उसमें मलयवन्त और शूर्पणखा, जटायु और सम्पाति, अलका और लंका के संवाद भी सर्वथा अनाटकीय हैं। एक ही विषय पर 'किंच'[1] 'अथवा'[1] 'तथा हि'[1] 'अपि च'[2] ऐसे शब्दों का प्रयोग कराकर पात्र के द्वारा छन्द-पर-छन्द प्रस्तुत करवाते जाना भवभूति में अनेक स्थानों पर देखा जा सकता है। उनके छन्द भी भास की तरह छोटे नहीं हैं। शार्दूल विक्रीडित, वसन्ततिलका, शिखरिणी, स्रग्धरा आदि लम्बे छन्द उन्हें विशेष प्रिय हैं। वर्णन के योग्य विषय पाकर भवभूति रुकना नहीं जानते और यही

१. 'मालती माधव', पृ० ५७।
२. 'उत्तर रामचरित', पृ० ११२।

उनकी दुर्बलता है। कहीं-कहीं कोई छन्द मात्र इसलिए भी पात्र के मुख में रख दिया गया है कि वह अत्यन्त कवित्वपूर्ण है। 'एकः रसः करुण एव' यह छन्द कितना ही सुन्दर हो पर सच तो यह है कि तमसा के द्वारा इसके कथन की कोई आवश्यकता या अनुकूलता वहाँ है ही नहीं। तृतीय अंक के उक्त छन्द के बाद का सारा अंश भी सर्वथा निरर्थक है।

सर्वाधिक सुलझी हुई और सरल कथावस्तु 'महावीर चरित' की है। इसके लिए भवभूति को प्रचलित रामकथा में पर्याप्त परिवर्तन और सुधार करना पड़ा है। पात्रों के दो दल हैं—एक राम का और दूसरा रावण का। राक्षस-दल का सूत्र-संचालन उसके मन्त्री मलयवन्त के हाथ में है। वह कूटनीति से राम पर विजय पाना चाहता है। राम का अपराध यही है कि सीता ने उन्हें वरण किया है और इससे रावण का अपमान हुआ है क्योंकि रावण ने अपने दूत को अपनी ओर से स्वयंवर में भेजा था। मलयवन्त की ओर से सबसे पहले परशुराम को राम के विरुद्ध उकसाया गया है। फिर शूर्पणखा को मन्थरा का रूप धारण करके राम के अयोध्या पहुँचने से पूर्व ही अयोध्या पहुँचाया जाता है। वहाँ वह कैकेयी की ओर से राम को वन-गमन का आदेश देती है। राम वन के लिए गमन करते हैं और वहाँ सीता-हरण होता है। पर राम नष्ट नहीं होते। मलयवन्त बालि को राम के विरुद्ध लड़ाता है। बालि मृत्यु को प्राप्त होता है। फिर राम-रावण-युद्ध होता है और विजयी राम सीता को लेकर अयोध्या लौटते हैं। भवभूति ने प्राचीन कथावस्तु में दो महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किये हैं—दण्डकारण्य के बहुत पूर्व शूर्पणखा की योजना और बालि से राम का निश्छल युद्ध। शूर्पणखा की उक्त योजना कर देने से कैकेयी की कथा बच गई है और कुछ पात्रों की भी बचत हो गई है। दूसरे, राम के वनगमन का रावण तथा मलयवन्त के षड्यन्त्र से सीधा सम्बन्ध हो गया है। फलस्वरूप कथा में अधिक अन्विति आ गई है। रामकथा के इस नूतन वस्तुविधान में विशाखदत्त के 'मुद्राराक्षस' नाटक का प्रभाव दिखाई देता है। कम-से-कम मलयवन्त का कार्यव्यापार अवश्य ही राक्षस के कार्यव्यापार से प्रभावित है।

'महावीर चरित' अपने कुछ दोषों—मुख्य रूप से निर्जीव चरित्र-चित्रण और लम्बे वर्णनों के कारण असफल सिद्ध हुआ। भवभूति ने सम्भवतः इसे कथावस्तु की असफलता समझा और 'महावीर चरित' की-सी सुलझी हुई तथा सर्वथा मानवीय कथावस्तु को उन्होंने सदा के लिए छोड़ दिया। 'महावीर चरित' के ठीक बाद के नाटक 'मालती माधव' में उक्त असफलता की प्रतिक्रिया अत्यन्त तीखी है। फलस्वरूप 'मालती माधव' में आकस्मिकता, काल्पनिकता, अनावश्यक उलझाव, घटनाबहुलता आदि का सहारा लिया गया है और योग, सिद्धि आदि की सहायता से कथावस्तु के सूत्र सुलझाये गए हैं। 'मालती माधव' के प्रकरण होने के कारण भवभूति को कथावस्तु के सम्बन्ध में पर्याप्त छूट भी थी क्योंकि प्रकरण में कथावस्तु कविकल्पित होती है।[1] मात्र कुतूहल-वर्द्धन या वर्णनात्मकता के लिए उन्होंने कथावस्तु को खींचकर आगे बढ़ाया है। 'मालती माधव' की कथावस्तु को स्वाभाविक रूप से आठवें अंक में ही

१. भवेत्प्रकरणे वृत्तं लौकिकं कविकल्पितम्—साहित्यदर्पण, ६।२२४।

नायक-नायिका मिलन के रूप में समाप्त हो जाना चाहिए था। पर कपाल कुण्डला के द्वारा अनावश्यक रूप से मालती का हरण करवाकर भवभूति ने नवें अंक के विरह-वर्णन के लिए अवकाश निकाला है जो 'विक्रमोर्वशी' के चौथे अंक के विरह-वर्णन से मिलता-जुलता है। दसवाँ अंक नवें के बाद आना ही था। कपाल कुण्डला के द्वारा मालती का हरण विरह-वर्णन के हेतु अवकाश निकालने के लिए ही नहीं बल्कि कुतूहल वर्द्धन के लिए भी है। केवल विरह-वर्णन तो मालती और माधव के प्रथम विछोह के समय भी किया जा सकता था। कुतूहल-वर्द्धन की उक्त चेष्टा नितान्त अस्वाभाविक और ऐयारी कहानियों जैसी लगती है।

महावीरचरित की कथावस्तु में संयोग और आकस्मिकता को कहीं भी स्थान नहीं मिला है। किन्तु मालतीमाधव में मालती को बचाने के लिए दो बार संयोग की विधि का सहारा लिया गया है। एक बार माधव (अंक ५) और दूसरी बार सौदामिनी (अंक ९) उसे आकस्मिक रूप से बचाती है। इस प्रसंग में भवभूति के पक्ष में श्रीपाद कृष्ण बेलवलकर का कथन, कि संसार में संयोग और आकस्मिकताएँ घटित होती ही हैं और इसलिए नाटककार को अपनी रचना से इनका बहिष्कार करने का कोई अधिकार नहीं है,[1] उचित नहीं प्रतीत होता। संयोग और आकस्मिकता जीवन में भले ही कितनी ही सत्य हो पर साहित्य में हम केवल सत्य का नहीं सम्भाव्य सत्य का आश्रय लेते हैं। इसलिए इस प्रकार के संयोगों से कथा के सूत्र सुलझाना एक अविश्वसनीय पद्धति है जो नाटककार की नाट्यक्षमता में सन्देह उत्पन्न कराती है। भवभूति स्वयं संयोग की इस असम्भाव्यता से नहीं तो कम-से-कम उसकी विचित्रता से तो अवश्य ही परिचित प्रतीत होते हैं। इसीलिए मालती के वध के लिए अघोर घण्ट के प्रवृत्त होने के पूर्व बिलकुल ठीक समय पर पहुँचे हुए माधव के मुख से वे कहलाते हैं—**'अहो नु खलु भोस्तदेतत्काकतालीयं नाम।'**

उत्तर रामचरित के लेखन-काल तक भवभूति में प्रथम नाटक की असफलता की प्रतिक्रिया सम्भवतः कम हो गई। फलस्वरूप उसमें वस्तुविधान-सम्बन्धी वे दोष नहीं हैं जो मालतीमाधव में दिखाई देते हैं। वर्णन का मोह यद्यपि छूटा नहीं है फिर भी अब कथा की गति उससे अधिक बाधित नहीं होती। वर्णन अत्यन्त कवित्वपूर्ण हो गए हैं। इसलिए यदि कथा की गति कहीं बाधित भी होती है तो उच्च कवित्व के द्वारा कुछ-न-कुछ क्षतिपूर्ति होती चलती है। उत्तर रामचरित के वर्णनात्मक छन्दों की एक विशेषता और है। वे कथावस्तु की घटनाओं के लिए आवश्यक पृष्ठभूमि उपस्थित करके वस्तु में आवश्यक या कम-से-कम कुछ उपयोगी बन गए हैं। उदाहरण के लिए द्वितीय अंक में दण्डकारण्य तथा जनस्थान के वर्णन-सम्बन्धी छन्द जिनसे सीता-वियोग की घटना और अधिक गम्भीर तथा भयंकर प्रतीत होती है। फिर भी यह सही है कि अंक ५ और ६ के युद्ध-वर्णन-सम्बन्धी छन्दों को कुछ कम किया जा सकता था।

उत्तर रामचरित की कथा बहुत कुछ महावीरचरित की तरह ही सुलझी हुई

1. Rama's Later Life, Introduction—Page 73.

है। राम द्वारा सीता के निर्वासन से कथावस्तु आरम्भ होती है। सीता को दोहद पूर्ण करने के बहाने से निर्वासित किया गया है। इसलिए स्वाभाविक है कि सीता के मन में राम के प्रति मलिनता उत्पन्न हो जाय। सीता की मानसिक मलिनता का निराकरण और राम से पुनर्मिलन यह नाटक का उद्देश्य है। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए रामकथा में सबसे महत्त्वपूर्ण परिवर्तन भवभूति ने यह किया है कि शम्बूक के वध के लिए उन्होंने राम को दण्डकारण्य भेजा है और वहाँ छाया रूप में विद्यमान सीता की उपस्थिति में उन्हें अपना हृदय उद्घाटित करने दिया है। कथावस्तु की दृष्टि से दूसरे अंक का महत्त्व इसलिए है कि इसकी घटना राम को दण्डकारण्य में पहुँचा देती है। पुनर्मिलन के लिए केवल सीता को राम के हृदय का सही परिचय ही आवश्यक नहीं है अपितु कुटुम्ब और नगर तथा जनपद के निवासियों को सीता की पवित्रता भी हृदयंगम कराना आवश्यक है। इसलिए चौथे अंक में कुटुम्ब के लोग सीता की पवित्रता को स्वीकार करते हैं। कुटुम्ब के सभी बड़े लोग यहाँ एकत्र हैं और सीता के पिता जनक की उपस्थिति ने वातावरण को अत्यन्त गम्भीर और करुण बना दिया है। सीता की पवित्रता और उनके प्रति राम के अनुराग में तो सन्देह का प्रश्न ही नहीं है। जनक को केवल एक ही दुःख है कि रामभद्र ने निर्वासन का निर्णय करने में जल्दबाज़ी से काम लिया।[1] पाँचवें और छठवें अंक में लव और कुश का चन्द्रकेतु तथा राम आदि से परिचय होता है। उनमें जृम्भकास्त्र सिद्ध होने का प्रमाण मिलता है और उनकी वीरता को देखने का अवसर प्राप्त होता है। इन बातों से उनके रामपुत्र होने की दिशा में लोग सोचना आरम्भ करते हैं। सातवें अंक में वाल्मीकि एक नाटक का आयोजन करते हैं और उसमें सीता-निर्वासन के बाद की घटनाओं को प्रदर्शित किया जाता है। नाटक के द्वारा नगर तथा जनपद निवासियों के हृदय-परिवर्तन का प्रयोग सर्वथा अनूठा और स्वाभाविक है। यह बात फिर भवभूति के साहित्य-कर्म के प्रति सचेतन होने का प्रमाण उपस्थित करती है। उद्देश्य की प्राप्ति के साथ कथावस्तु समाप्त हो जाती है। नाटक का सुखान्त होना भारतीय परम्पराओं के अनुकूल है। किन्तु उसका यह अन्त सम्पूर्ण कथावस्तु के विकास का सहज परिणाम ही है। यह प्रचलित कथन कि भवभूति ने उत्तर रामचरित को प्रयत्नपूर्वक सुखान्त बनाया है, इस बात का द्योतक है कि यह निर्णय हम प्रचलित रामकथा के आधार पर कर रहे हैं, उस कथावस्तु के आधार पर नहीं जिसे भवभूति ने अपने नाटक में प्रस्तुत किया है। वास्तव में किसी नाटक के अन्त की स्वाभाविकता-अस्वाभाविकता का निर्णय किसी बाह्य-मानदण्ड से नहीं अपितु उस नाटक की ही कथावस्तु के आधार पर होना चाहिए।

भवभूति के आरम्भिक नाटकों की कथावस्तु में एक दोष यह दिखाई देता है कि सारी कथावस्तु का निर्धारण आरम्भ में ही हो गया है और उसे स्वयमेव विकसित नहीं होने दिया गया है। जी० के० भट ने इसका उल्लेख एक अच्छाई के रूप में

---

१. अहो रामभद्रस्यक्षिप्रकारिता।—उत्तर रामचरित, चौखम्बा, पृष्ठ २४७।

किया है।[1] लेकिन सावधानी से विचार करें तो यह स्थिति नाटक-लेखन के क्षेत्र में नवागन्तुक व्यक्ति की हीं सूचक सिद्ध होगी। आरम्भ में ही वस्तु के मोड़ों और अन्त की सूचना दे देने से कुतूहल की तीव्रता भी कम हो जाती है। कथावस्तु के पूर्व निर्धारण का दोष मालतीमाधव में सर्वाधिक स्पष्ट है। उसमें पहले अंक के मिश्र-विष्कम्भक में ही कथा के खूंटे गाड़ लिए गए हैं। शेष सारे नाटक में केवल ताने-बाने ही बुने गए हैं। जहाँ कथा में उद्देश्य पहले से निश्चित कर लिया गया हो और पात्रों को केवल उसकी प्राप्ति के लिए एक योजनाबद्ध ढंग से चलना भर हो वहाँ न तो चरित्र का विकास सम्भव है और न कथावस्तु की स्वाभाविकता तथा कुतूहलोत्पादकता।

भवभूति के समय तक वर्ण-व्यवस्था अत्यन्त रूढ़ हो गई थी और यदि इस व्यवस्था में यह चिन्तन पल्लवित हुआ हो कि व्यक्ति के चरित्र में परिवर्तन नहीं होता तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। समाज की व्यवस्था को जैसे स्थिर सत्य के रूप में माना गया था वैसे ही सम्भवत: व्यक्ति के मन को भी स्थिर सत्य मान लिया गया। ऐसी परिस्थिति में चरित्र-चित्रण की वह पद्धति पनपी जिसमें पात्रों के दो दल बना दिए जाते हैं—एक में सब-कुछ अच्छा होता है और दूसरे में सब-कुछ बुरा तथा एक सदा के लिए अच्छा होता है और दूसरा सदा के लिए बुरा। भवभूति के महावीर-चरित में इसी प्रकार का चरित्र-चित्रण है। राम में प्रत्येक अच्छाई को दिखाया गया है और रावण आदि से अन्त तक बुरा है। लगभग सभी पात्र स्थिर हैं और उनमें कोई परिवर्तन नहीं होता। जिसे चरित्र का विकास कहते हैं वह महावीरचरित में नहीं है। हाँ, जैसा कि बेलवलकर ने संकेत किया है[2] यदि हम परशुराम के मन:-स्थिति-परिवर्तन को ही चरित्र का विकास न मान बैठें। भवभूति ने अपने अच्छे पात्रों को एक खोखले आदर्शवाद के अधीन कर दिया है। परिणाम यह हुआ है कि ये पात्र अत्यन्त निर्जीव और काल्पनिक-से लगने लगे हैं। इस दृष्टि से उनके बुरे और अच्छे पात्र में कोई अन्तर नहीं है। एक में अगर लोहे की जड़ता है तो दूसरे में सोने की। बस। जड़ या निर्जीव दोनों ही हैं।

मालतीमाधव में भी एक सीमा तक यही स्थिति बनी रहती है किन्तु साथ ही भवभूति इससे ऊपर उठते हुए भी प्रतीत होते हैं। प्रकरण के अन्त तक कम-से-कम नन्दन और महाराज के हृदय-परिवर्तन का समाचार हमें मिल जाता है। कामन्दकी जो अत्यन्त तटस्थ भाव से मालती के हित-साधन में लगती है अन्त तक तटस्थ नहीं रह पाती। धीरे-धीरे मालती के प्रति उसके मन में अपत्य-स्नेह जाग उठता है। वह उसके लिए रोती है। उसके वियोग में मूर्च्छित होती है और आत्मघात तक करना चाहती है। अपनी इस मानवीय दुर्बलता के कारण ही वह अत्यन्त महान प्रतीत होती है। आरम्भ में वह भूरिवसु की मित्रता के कारण ही मालती और माधव का विवाह

1. Bhavabhuti drops rich suggestions about the future development of action from the prologue itself to the end of the first act.
—Uttar Ram Charit, 1953, Introduction, Page 7.
2. Rama's Later Life, Introduction, page 66.

कराने का कार्य हाथ में लेती है किन्तु क्रमशः उसे इस कार्य से मोह हो जाता है और मालती की सहायता करते-करते उसके प्रति इस वृद्ध, कूटनीतिज्ञा तथा तटस्थ भिक्षुणी के भीतर की माँ जाग उठती है।

मालतीमाधव में कामन्दकी की भूमिका इतनी केन्द्रीय हो गई है कि मालती, माधव तथा अन्य पात्र उसके हाथ के मुहरे-भर बनकर रह गए हैं। उनका चरित्र अधिक उभर नहीं पाया है। मुद्राराक्षस में जैसे चाणक्य के कारण चन्द्रगुप्त का चरित्र नहीं उभर पाया है वैसे ही इस प्रकरण में कामन्दकी के कारण माधव तथा अन्य पात्रों का भी। फिर भी पात्रों की अपनी विशेषताएँ हैं और एक-सी भूमिकाओं में काम कराते हुए भी उन सभी में पर्याप्त अन्तर बनाए रखने में नाटककार को सफलता मिली है। माधव अधिक आदर्शवादी, कल्पनाशील और भावुक है। इसके विपरीत मकरन्द में व्यावहारिकता और क्रियाशीलता अधिक है। इसी प्रकार मालती लज्जालु, कुल की मर्यादा समझने वाली, विनीत और चुप रहने वाली है। मदयन्तिका संकोच-रहित, अधिक चिन्तन न करने वाली और चपल तथा मुखर है। उसका जीवन और आकांक्षाएँ अधिक माँसल हैं। मालती के रूप में मध्ययुगीन हिन्दू कुलवती कन्या का सच्चा चित्र मिलता है। कामन्दकी के सारे प्रतत्न उसे अपने पिता के सर्वथा विरुद्ध नहीं ले जा पाते। कपालकुण्डला और अघोरघण्ट के हाथ में पड़ी हुई मालती अपनी एक पंक्ति में ही अपने पिता के प्रति प्रेम और अपने विवाह-सम्बन्धी उनके निर्णय के प्रति विवश उलहना भर देती है—'हे निष्करुण पिता! वह जिसे तुम राजा को प्रसन्न करने का साधन बना रहे थे मृत्यु को प्राप्त हो रही है।'

उत्तर रामचरित में चरित्र-चित्रण और भी सूक्ष्म और मनोवैज्ञानिक हो गया है। यद्यपि इस नाटक में भी सभी (लगभग २५) पात्रों के साथ न्याय नहीं हो सका है। फिर भी राम और सीता इन दो मुख्य पात्रों के साथ न्याय हुआ है और जनक, कौशल्या आदि की चरित्र रेखाएँ संक्षिप्त होती हुई भी गहरी हैं। वसिष्ठ की ओर से अष्टावक्र राम के नाम सन्देश लाते हैं कि आप प्रजा को प्रसन्न रखने में तत्पर रहें। राम आवेश में प्रतिज्ञा करते हैं कि प्रजा की प्रसन्नता के लिए प्रेम, दया, सुख और यहाँ तक कि सीता को भी छोड़ने में मुझे व्यथा नहीं होगी। इसके तुरन्त बाद ही सीता के लोकापवाद का समाचार राम सुनते हैं: वे जानते हैं कि सीता पवित्र हैं।[1] किन्तु दोहद पूर्ण करने के बहाने से उन्हें निर्वासित कर देते हैं। सीता को निर्वासित करने से पूर्व राम के अन्तर के विस्तृत द्वन्द्व का चित्रण भवभूति ने नहीं किया है। सम्भवतः इसी बात से जनक ने राम पर शीघ्र निर्णय का आरोप लगाते हुए प्रकारान्तर से कहा है। लेकिन निर्णय के तुरन्त बाद सभी आत्मीय जनों को, विशेषकर उनको जिन्होंने रावण के साथ युद्ध में राम का साथ दिया था, राम के द्वारा कातर होकर पुकारा जाना और यह कहा जाना कि राम के द्वारा उनका तिरस्कार हुआ है राम के हृदय का उद्घाटन करता है—

हा माता अरुन्धति! भगवान् वसिष्ठ और विश्वामित्र! भगवान् अग्नि-

१. उत्तर रामचरित १।१३

देव ! हा देवि पृथिव ! हा पिता ! हा जनक ! हा माता ! हा प्रिय मित्र महाराज सुग्रीव ! सौम्य हनुमान ! महान उपकार करने वाले लंकापति विभीषण ! हा सखि त्रिजटे ! तुम सब हतप्राय राम से परिहृत और तिरस्कृत हुए हो।

निर्णय करने से पूर्व के अन्तर्द्वन्द्व की अपेक्षा निर्णय कर चुकने के बाद का अन्तर्द्वन्द्व और पश्चाताप अधिक मानवीय है। राम में हमें यही मिलता है। पश्चाताप के द्वारा राम के चरित्र को ऊपर उठाया गया है। प्रथम अंक के मिलन की पृष्ठभूमि में आगे के अंकों का रामसीता-विरह और भी मार्मिक बन गया है। सीता-निर्वासन की बात सम्भवतः मर्यादा पुरुषोत्तम राम के लिए इतनी व्यक्तिगत थी कि उसको लेकर उन्होंने अपने हृदय को तनिक भी तर्क-वितर्क नहीं करने दिया।[1] इस अभाव की कुछ पूर्ति भवभूति ने शम्बूक का प्रसंग लाकर अत्यन्त कलात्मक ढंग से की है। शम्बूक का वध भी लोक की प्रसन्नता के लिए है। अन्यथा राम जानते हैं कि वह दोष-रहित है। इस प्रकार उसकी स्थिति बहुत कुछ सीता की तरह है। लोक का कथन है कि ब्राह्मण कुमार के मरण का कारण शूद्र तपस्वी शम्बूक की तपस्या है और राम शम्बूक का वध करके केवल एक ही प्रश्न पूछते हैं—क्या वह ब्राह्मण कुमार जीवित हो जायगा ?[2] दूसरी ओर इसकी ध्वनि यह है कि क्या सीता के निर्वासन से लोक का हित-साधन होगा ? और दोनों ही प्रश्नों के उत्तर नकारात्मकता के अतिरिक्त और क्या हैं ? यही कारण है कि भवभूति ने ब्राह्मणकुमार के पुनर्जीवित होने की कोई सूचना किसी भी बहाने से उत्तर रामचरित में नहीं दी है। राम का चरित पर्याप्त सजीव है। लोक के प्रति उनके मन में रोष है। पर वे मर्यादाओं से बंधे हुए हैं। इसलिए उनके रोष के ऊपर आवरण है। फिर भी उसके दर्शन हमें तीसरे अंक में और फिर अन्तिम में वहाँ होते हैं जहाँ गंगा और पृथ्वी दोनों ही सीता की प्रशंसा करती हैं—

> **दोनों देवियाँ (गंगा और पृथ्वी)**—(हे सीते) जगत के कल्याण स्वरूप तुम अपने को क्यों तिरस्कृत करती हो ? तुम्हारे सम्पर्क से हम दोनों की भी पवित्रता उत्कर्ष को प्राप्त कर रही है।
>
> **लक्ष्मण**—आर्य सुनिए।
>
> **और राम का उत्तर है**—लोक सुने।

राम का सम्पूर्ण अन्तर्द्वन्द्व राजा राम और मनुष्य राम का अन्तर्द्वन्द्व है।

सीता समर्पिता पत्नी हैं। वे इतनी स्नेहमयी हैं कि रोष उनमें ठहर ही नहीं पाता। उनके रोष की सीमा इतनी ही है कि वे निर्वासन के पश्चात् राम को आर्यपुत्र न कहकर राजा कहकर सम्बोधित करती हैं। पर इस एक शब्द में उनके हृदय की सारी व्यथा भरी हुई है। राम के पश्चाताप से उनके मन का मैल धुल जाता है और वे वासन्ती द्वारा की गई राम की आलोचना को अनुचित अनुभव करने लगती

१. तत्किमद्य मन्दभाग्यः करोमि (विमृश्य सकरुणम्) अथवा किमेतत्।
—उत्तर रामचरित, पृष्ठ ६७।

२. वही, पृष्ठ १०२।

हैं। राम के प्रति सीता का असीम अनुराग समझने के लिए केवल एक पंक्ति ही पर्याप्त होगी। तीसरे अंक में मूर्च्छित हुए राम के फिर चेत में आने पर सीता के मुँह से निकलता है—'लगता है, तीनों लोकों का जीवन फिर लौट आया है।' राम की आज्ञापालन के उनके संस्कार इतने गहरे हैं कि राम के लिए अदृश्य होने पर भी वे तमसा से कह बैठती हैं—'भगवति तमसे! हम लोग हट जाएँ मुझे देखकर बिना आज्ञा की उपस्थिति के कारण महाराज बहुत क्रोध करेंगे।' सीता को केवल अपना ही दुख नहीं है बल्कि अपने पुत्रों के लिए भी वे दुखी हैं। पुत्रों के लिए भी उनका दुख राम के प्रसंग से है—

'ऐसे पुत्रों के जन्म से क्या जिनके विरले, सफेद तथा पुष्प की कलियों के समान दाँतों से उज्ज्वल, निरन्तर असम्बद्ध मनोहर अस्पष्ट मधुर शब्द और हास्य से युक्त तथा नित्य उज्ज्वल सफेद कमलों के सदृश मुखों को आर्यपुत्र ने नहीं चूमा।'

भवभूति के प्रायः सभी पात्र भावुक हैं। बार-बार मूर्च्छित होना, आत्मघात की सोचना और यहाँ तक कि सामूहिक मूर्च्छा का दृश्य तथा सामूहिक आत्मघात की योजना बनाना उनके लिए सहज बात है। उदाहरण के लिए उत्तर रामचरित के अकेले तीसरे अंक में ही वासन्ती एक बार, मर्यादा पुरुषोत्तम राम दो बार, और सीता चार बार मूर्च्छित होती हैं। मालती माधव में मकरन्द जैसा व्यावहारिक बुद्धि का पात्र भी नदी में कूदकर आत्मघात करना चाहता है। कारण मात्र यह है कि उसका मित्र माधव अपनी प्रिया मालती से बिछुड़ गया है। कामन्दकी जैसी कूटनीतिज्ञा भी इतनी भावुक चित्रित की गई है कि वह सामूहिक रूप से आत्मघात की बात सोचती है। भूरिवसु मन्त्री भी अपने-आपको अग्नि में जलाने के लिए प्रस्तुत दिखाए गए हैं। एक अन्य स्थल पर कामन्दकी, माधव और मकरन्द सामूहिक रूप से मूर्च्छित होते हैं। साधारण से कष्ट में भी फूटकर रोना और जीवन-मरण के समस्त प्रश्नों को भावुकतापूर्वक सोच डालना भवभूति के पात्रों की आदत बन गई है। मालती माधव के नवें अंक में माधव का प्रलाप इसी कोटि का है। चरित्र-चित्रण की यह अतिभावुकता भवभूति से बंगाल के नाटककार द्विजेन्द्रलाल राय और फिर उनसे हिन्दी के छायावादी नाटकों में पहुँची।

भवभूति के सम्वाद प्रायः लम्बे हैं। कहीं-कहीं वे सर्वथा निरर्थक-से हैं। क्योंकि न तो वे चरित्र का उद्घाटन करते हैं और न कथा की गति को आगे बढ़ाते हैं। ऐसे स्थलों पर या तो वे लम्बे वर्णनात्मक पद्यों के रूप में आकर स्वतन्त्र पद्य-खण्ड हैं या फिर गद्यात्मक भाषणों के रूप में हैं। भवभूति की रचनाओं में इस दोष का परिमार्जन क्रमशः होता गया है। उत्तर रामचरित के चतुर्थ अंक में हमें उच्च-कोटि के सम्वाद मिलते हैं। इस अंक में वे अत्यन्त संक्षिप्त और चुटीले हैं।

कहीं-कहीं केवल एक शब्द के प्रयोग से ही भवभूति ने कथोपकथन की स्वाभाविकता निर्मित कर दी है। दशरथ के समय के सेवक कंचुकी के मुख से नए राजा राम के लिए शीघ्रता में 'रामभद्र' सम्बोधन निकलता है। फिर सुधार कर वह 'महाराज' कहना चाहता है। राम से वियुक्ता सीता अपने पोषित हाथी पर संकट पड़ने

पर शीघ्रता में पुकारती हैं—'आर्य पुत्र ! मेरे पुत्र को बचाइए।' फिर उन्हें अपनी भूल समझ में आती है और वे मूर्च्छित हो जाती हैं। राम के वियोग से दुखी सीता अपने द्वारा पाले हुए हाथी के बच्चे को आशीर्वाद देती हैं—'यह अपनी प्रियदर्शिनी भार्या के वियोग से मुक्त रहे।' कहीं-कहीं राम के सम्वादों में भी चोट करने की भारी शक्ति भरी हुई है। इस प्रकार सम्वादों में लक्षणा और व्यंजना शक्तियों का सहयोग भवभूति ने लिया है। राम और लव के दो सम्वाद-अंश यहाँ उद्धृत हैं—

राम—नगर और देश में रहने वालो हे महात्माओ ! सीता का घर में रहना आप लोगों को अभीष्ट न हुआ। इसलिए उसको तृण की तरह शून्य वन में छोड़ दिया और शोक भी नहीं किया। बहुत काल से परिचित ये पदार्थ अनिर्वचनीय रूप से मुझसे विलाप करवाते हैं। इसलिए अशरण होकर मैं रो रहा हूँ। आप प्रसन्न हों।

लव—रामचन्द के चरित्र की महिमा को कौन नहीं जानता ? कुछ कहने के योग्य भी हो। अथवा नहीं कहना चाहिए। हाँ, बूढ़े वे आलोचनीय चरित्रवाले नहीं हैं। सुन्द की स्त्री (ताड़का) को मारने में भी अप्रतिहत यश वाले वे लोक में श्रेष्ठ ही हैं। खर के साथ युद्ध में तीन पग पीछे हटे थे। बलि को मारने में जो निपुणता उन्होंने की थी उसे भी लोग जानते हैं।

भवभूति के सम्वादों में कहीं-कहीं गार्हस्थिक विनोदों को भी स्थान मिला है। ऐसे स्थल विशेष आकर्षक बन गए हैं। उर्मिला का चित्र देखकर सीता द्वारा लक्ष्मण से 'वच्छ इअं वि अवरा का' पूछना ऐसा ही स्थल है। मालती माधव के सातवें अंक में लवंगिका, बुद्धरक्षिता और मदयन्तिका के मध्य का वार्तालाप अपनी हल्की-सी अश्लीलता के बावजूद इसी प्रकार का एक अन्य स्थल है। किन्तु इस प्रकार के स्थलों की संख्या अधिक नहीं है। इतना अवश्य है कि यदि भवभूति वर्णनात्मकता में न उलझते तो सम्वादों की दृष्टि से, उन्हें पर्याप्त सफलता मिली होती। भास, कालिदास आदि की तरह उनके नाटकों में भी सुभाषितों की एक बड़ी संख्या है। पर उनमें जीवन का गहन अनुभव कम पांडित्य, कवित्व और भावोच्छ्वास अधिक है।

निबन्ध के आरम्भ में ही संकेत किया जा चुका है कि भवभूति का युग पांडित्य का युग था और व्यक्ति शास्त्रवादी हो चला था। स्वाभाविक है कि इस युग की उपज भवभूति ने अपने पांडित्य को सम्वादों में भरने की चेष्टा की। उनके अधिकांश सम्वाद विभिन्न विषयों के विशिष्ट शब्दों से भरे हुए हैं। केवल इतना ही नहीं। कठिन और अप्रचलित शब्दों का प्रयोग करके उन्होंने अपने सम्वादों को अपने शब्दकोष को प्रदर्शित करने का साधन भी बनाया है। सी० आर० देवधर ने अपने मालती माधव के संस्करण में ऐसे शब्दों की एक सूची प्रस्तुत की है।[1] ए० बी० कीथ भवभूति की इस भाषा-शैली को गौडी शैली कहते हैं और नाटक के लिए इसकी अनुपयुक्तता बताते हैं। उनका कथन है कि सम्भवतः बाण की प्रसिद्ध के प्रभाव से भवभूति ने इसे

1. Appendix-B.

स्वीकार किया ।[१] पर सच तो यह है कि बाण और भवभूति दोनों ही लगभग एक ही समय की समाज-व्यवस्था की उपज होने के कारण स्वाभाविक रूप से ही गौडी रीति में रुचि रखते रहे होंगे ।

भवभूति के सम्वादों में एक और विशेषता परिलक्षित होती है । उन्होंने एक ही पात्र से जिसे नियमतः प्राकृत में बोलना चाहिए था एक ही स्थान पर संस्कृत का भी प्रयोग करा दिया है । उदाहरण के लिए मालती माधव की मालती प्राकृत में सम्वाद आरम्भ करती है । गद्य भाग प्राकृत में ही है । पर पद्य भाग को संस्कृत में रखा गया है । इसके लिए भवभूति 'संस्कृतमाश्रित्य' लिखकर अलग से संकेत भी देते हैं । दूसरी बार जब फिर मालती प्राकृत गद्य खण्ड के बाद संस्कृत का पद्य खण्ड बोलती है तो वे फिर संकेत देते हैं—'भूयः संस्कृतमाश्रित्य ।' मृच्छकटिक में भी यही स्थिति है जहाँ वसन्तसेना गद्य के लिए प्राकृत और पद्य के लिए संस्कृत का प्रयोग करती है । इन संस्कृत नाटकों में गद्य के लिए बोलचाल की और पद्य के लिए प्राचीन साहित्यिक भाषा का प्रयोग बहुत कुछ हिन्दी-साहित्य के भारतेन्दु-काल में हुए दो भाषाओं के प्रयोग की तरह है । आगे चलकर सर्वभाषा चतुर राजशेखर ने कर्पूरमंजरी सट्टक को सम्पूर्णतः प्राकृत में लिखा ।

भवभूति न केवल अपने पद्यांशों को वल्कि कभी-कभी गद्यांशों को भी अपने नाटकों में दुहराते हैं । कहीं-कहीं पूरा छन्द भी दुहराया गया है । ऐसी आवृत्तियों की एक विस्तृत सूची टोडरमल के द्वारा महावीर चरित की भूमिका में प्रस्तुत की गई है ।[२]

भवभूति मुख्यरूप से पारिवारिक वातावरण, दाम्पत्य प्रेम और करुण रस के नाटककार हैं । किन्तु वीभत्स, भयानक और वीर रसों में भी उन्हें सफलता मिली है । मालतीमाधव के पाँचवें अंक के श्मशान-वर्णन और उत्तर रामचरित के दूसरे अंक के दण्डकारण्य-वर्णन तथा पाँचवें और छठे अंक के युद्ध-वर्णन में उक्त रसों के अनेक उदाहरण ढूंढ़े जा सकते हैं । वात्सल्य रस के वर्णन भी उनमें हैं और भवभूति की दृष्टि में सन्तान का असीम महत्त्व है ।[३] गार्हस्थिक चित्रों को प्रस्तुत करने में वे सर्वाधिक सफल हैं । इस प्रसंग के उनके कुछ छन्द पर्याप्त लोकप्रिय हुए हैं ।[४] अपने नाटकों में उन्होंने एक पत्नी-व्रत का आदर्श चित्रित किया है । राम, माधव, मकरन्द सभी एक पत्नी या प्रिया में ही अनुरक्त हैं । यह भवभूति का व्यक्तिगत आदर्श प्रतीत होता है । वे मध्यम वर्ग के थे । कालिदास की तरह उच्च वर्ग के नहीं । मध्यम वर्ग में बहुपत्नीवाद उस सीमा तक नहीं आ पाया था जिस सीमा तक उच्च वर्ग में । इसलिए मध्यम वर्ग के भवभूति का उक्त आदर्श बन पाना असम्भव नहीं रहा होगा। यही कारण है कि उनकी दृष्टि मांसल और बाह्य सौन्दर्य पर नहीं सूक्ष्म और आन्त-

1. The Sanskrit Drama, Page 202.
2. Mahavircharit, introduction, Page 40.
३. उत्तर रामचरित—३।१७ ।
४. वही—१।३७, १।३७ ।

रिक सौन्दर्य पर स्थिर होती है। भोग की अपेक्षा त्याग उनके लिए अधिक महत्वपूर्ण है। उनके प्रिय नायक राम आत्मत्याग की ही तो प्रतिमूर्ति हैं। नारी-रूप-दर्शन के आधार पर भवभूति की कालिदास से तुलना करते हुए द्विजेन्द्रलाल राय ने भवभूति की इसी आन्तरिक सौन्दर्यप्रियता को स्पष्ट किया है—'कालिदास और अन्यान्य बहुत से संस्कृत कवियों के नारी-वर्णन में लालसा का भाव भरा हुआ है। किन्तु भवभूति कृत रूप वर्णन सर्वत्र ही पहाड़ी झरने के समान निर्मल और पवित्र है। कालिदास रमणी के बाहरी रूप में ही मस्त हैं, पर, भवभूति की दृष्टि स्त्री के अन्तःकरण के सौन्दर्य पर है। यदि नारी 'तुङ्गस्तनी', 'श्रेणीभारादलसगमना', 'बिम्बाधरा' हुई तो बस कालिदास को और कुछ न चाहिए। अपने काव्यों में जगह-जगह पर रमणी के अंगों का वर्णन करने में कालिदास को बड़ा ही आनन्द आता है। किन्तु भवभूति की दृष्टि में नारी 'गेहेलक्ष्मीः' है, उसके वचन 'कर्णामृतानि' हैं, उसका स्पर्श 'संजीवनौषधरसः', 'स्नेहार्द्रशीलः' है, उसका आलिंगन 'सुखमिति वा दुःखमितिवा' है।[1]

स्वभाव से अत्यन्त गम्भीर होने के कारण भवभूति के नाटकों में हास्यरस का अभाव-सा है। जनरुचि का रूपक लिखकर सफलता प्राप्त करने के लिए उन्होंने प्रकरण तो लिखा पर उसमें भी वे गणिका को नायिका नहीं बना सके। मालतीमाधव की नायिका कुलजा कन्या ही है। गणिका के नायिका न होने से द्यूत, विट, चेट आदि जो हास्यरस के लिए सफल आलम्बन हो सकते थे भवभूति के वर्णन-क्षेत्र के बाहर जा पड़े। फिर भी यह आरोप कि उनमें हास्यरस का सर्वथा अभाव है या वे विनोद करना ही नहीं जानते सही नहीं है। उत्तर रामचरित के चतुर्थ अंक का मिश्रविष्कम्भक, चतुर्थ अंक का सोलहवाँ छन्द, मालतीमाधव का सप्तम अंक जहाँ लवंगिका मदयन्तिका से पूछती है कि तुम्हारा समय कैसे बीतता है।[2] आदि भवभूति की हास्यरस सम्बन्धी सम्भावनाओं की सूचना देते हैं।

नाटककार के रूप में भवभूति की श्रेष्ठता के सम्बन्ध में दो विरोधी मत हैं। कीथ के अनुसार उनका उत्तर रामचरित भी नाट्यकला की ऊँचाई को स्पर्श नहीं करता। कथावस्तु बारह वर्ष का समय घेरती है। इतने लम्बे समय में फैली हुई कथावस्तु में अन्विति लाना किसी भी नाटककार के लिए कठिन है। अन्विति लाने के लिए भवभूति ने कोई गम्भीर प्रयत्न भी नहीं किए हैं।[3] यह सच है कि उत्तर रामचरित में स्थान और समय के संकलन नहीं हैं। पर यह भी सच है कि इन दो संकलनों के न रहने पर भी कार्य का संकलन उसमें कहीं भी बाधित नहीं होता। कथावस्तु में पर्याप्त अन्विति है और भवभूति ने इस अन्विति को लाने के लिए ही प्रचलित रामकथा में पर्याप्त परिवर्तन किए हैं। सारे नाटक में एक भी घटना ऐसी नहीं है जो व्यर्थ की हो और मुख्य कथावस्तु को आगे न बढ़ाती हो। इस सबसे हमारा यह अभिप्राय कदापि नहीं है कि उत्तर रामचरित में कार्य की त्वरा भी है। सम्वादों

१. कालिदास और भवभूति, पृष्ठ ११३।
२. मालतीमाधव, पृष्ठ ८८—९१, सी० आर० देवधर का संस्करण, १९३५।
3. The Sanskrit Drama, Page 194.

की भरमार, वर्णनात्मक छन्दों की अपेक्षाकृत अधिकता आदि के कारण कार्य की गति मन्द है। नाटक में नायक की ओर से फल की प्राप्ति के लिए कुछ भी प्रयत्न नहीं हुए हैं। राम सर्वथा निष्क्रिय हैं। यह गंगा की महिमा है कि दण्डकारण्य में सीता छाया रूप में विद्यमान हैं और वे अपने निर्वासन के सम्बन्ध में राम के सर्वथा निर्दोष होने का प्रमाण पा लेती हैं और फिर वाल्मीकि के नाट्यप्रदर्शन से राम को सीता की प्राप्ति हो जाती है। अन्यथा राम पश्चाताप के अतिरिक्त और करते क्या हैं? उन्होंने समूचे नाटक में दुःख को मूक, निश्चल और समर्पित भाव से झेला है। उनकी मान्यताएँ भले ही कुछ और हों लेकिन दुःख के सम्मुख यह समर्पित भाव और निष्क्रियता बहुत कुछ जैनेन्द्रकुमार के त्यागपत्र की मृणाल की तरह है। इसलिए इस प्रकार का कथन भी कि कवि के रूप में कालिदास भले ही श्रेष्ठ हों पर नाट्यकला की दृष्टि से उत्तर रामचरित में भवभूति कालिदास के समकक्ष हो गए हैं[1] अतिरंजित ही समझना चाहिए। वास्तविकता इन दो विरोधी मतों के मध्य ही है।

---

1. A New History of Sanskrit Literature, by Krishna Chaitanya Page 335.

कुँवरजी अग्रवाल

रंग-मंच : एक माध्यम

प्रत्येक कला अपने माध्यम की सीमाओं से बंधी रहती है। कला का रूप-निर्माण उसके माध्यम की आधारशिला पर ही होता है। माध्यम ही सौन्दर्य-सृष्टि का मूर्त आधार है और वही कलाकार की भावनाओं को आकार देता है। कला की उत्कृष्टता का एक प्रमुख प्रभाव उसके माध्यम की सम्भावनाओं का पूर्ण और सफल उपयोग है। किसी भी कला की प्रकृति को समझने के लिये उसके माध्यम की सीमाओं और शक्तियों से पूर्ण परिचय आवश्यक है। चित्रकला को समझने के लिए रंगों, रेखाओं और आकारों के ऐन्द्रिक और अभिव्यंजनात्मक प्रभाव को जानना आवश्यक है : संगीत के रसास्वादन के लिए ध्वनि की सम्भावनाओं से परिचय आवश्यक है ; और मूर्ति कला को परखने के लिए प्रस्तर मिट्टी, धातु आदि की सीमाओं और शक्तियों का ज्ञान आवश्यक है। प्रत्येक वर्ग का कलाकार अपनी सर्जनात्मक कल्पना की अभिव्यक्ति के लिये अपने माध्यम के साथ घनिष्ठता स्थापित करता है, उसमें डूबता है, उसका अन्वेषण करता है, और उसकी सम्भावनाओं के नये द्वार खोलता है। इस प्रकार वह अपने माध्यम के प्रति अत्यधिक संवेदनशील हो उठता है और उसमें पत्थर जैसे कठोर माध्यम के द्वारा भी कोमलतम भावनाओं की अभिव्यक्ति करने की क्षमता उत्पन्न हो जाती है।

नाटक भी सर्जनात्मक कला है। यहाँ नाटक से मेरा तात्पर्य केवल उसके छपे हुए शाब्दिक रूप से नहीं बल्कि उसके अभिनीत रूप से है। अतः इस कला की प्रकृति और विशेषताओं को समझने के लिए इसके माध्यम के स्वरूप और इसकी सीमाओं को समझना आवश्यक है। उपन्यास और महाकाव्य की भाँति नाटक को भी साहित्य की एक विधा के रूप में स्वीकार कर उसी परम्परा में उसका विवेचन होने के कारण नाटक और रंच-मंच के सम्बन्ध में बहुत-सी भ्रान्तियाँ उत्पन्न हो गई हैं और अक्सर नाटककार और नाट्य-प्रयोक्ता एक-दूसरे को ललकार उठते हैं। नाटककार कहता है कि मैं तो अपनी इच्छा के अनुसार ही नाटक का निर्माण करूँगा। यह प्रयोक्ता का काम है कि वह उसके अनुसार रंग-मंच की व्यवस्था करे। दूसरी ओर प्रयोक्ता कहता है कि नाटककार न केवल दृश्यपीठों आदि बल्कि उपलब्ध अभिनेताओं को भी ध्यान में रखते हुए नाटक की रचना करे अन्यथा अनभिनेय कहकर वह उसका तिरस्कार करेगा। नाटककार हैं कि अभिनयन के लिए अपनी रचना में एक भी शब्द का परिवर्तन बर्दाश्त नहीं कर सकते और प्रयोक्ता हैं कि रंग-मंचीय अनुकूलता के नाम पर पूरे नाटक को फिर से लिख डालने के लिए कमर कसे बैठे रहते हैं। अभिनेय

नाटकों का एक विलक्षण वर्गीकरण कर लिया गया है।

इन सबका एक बहुत बड़ा कारण यह है कि नाटक कला की उचित मीमांसा नहीं की गई और माध्यम के रूप में रंगमंच का विश्लेषण नहीं किया गया। लिखित नाटक अपने-आपमें स्वतंत्र कृति नहीं है। पर भ्रमवश अधिकांश नाटककार ऐसा ही समझ बैठे हैं। समझते हैं कि उनका काम नाटक लिखना है और प्रयोक्ता का यथा-संभव उनका हू-ब-हू चित्रण (Illustration) करना। किन्तु हेराल्ड क्लरमैन के मतानुसार रंगमंच पुस्तक पढ़ने का दीपक नहीं है। (Theatre is not a lamp by which a text may be read.) वे कहते हैं कि 'अनुकूल परिस्थितियों में नाटक सृजनात्मक कला है।'

किन्तु नाटक एक जटिल कला है। इसकी जटिलता ही इसके वास्तविक स्वरूप को समझने में बाधा डालती है। अन्य कलाओं में स्वयं कलाकार अपने माध्यम पर काम करता है और अपनी कल्पना को मूर्त स्वरूप प्रदान करता है। चित्रकार के मन में सृजनात्मक प्रेरणा के फलस्वरूप किसी बिम्ब का उदय हुआ और उसने तुरंत अपने माध्यम रंगों-रेखाओं और आकारों के रूप में उसकी अभिव्यक्ति कर डाली। वस्तुतः मानसिक प्रक्रिया तो यह होती है कि उसकी कल्पना का बिम्ब अपने माध्यम से संयुक्त होता है। माध्यम से स्वतंत्र उसकी कल्पना सामान्यतया जाती ही नहीं। किन्तु नाटक के साथ यह बात नहीं। नाटक में कई कलाओं का उपयोग होता है। किन्तु यह उनका समन्वय है, संग्रह नहीं। यह समन्वय उसे मौलिकता और स्वतंत्र कला की सत्ता प्रदान करता है। किन्तु साथ ही यही समन्वय उसके कलाकारों के सामने एक जटिल समस्या भी उत्पन्न कर देता है। नाटक के प्रत्येक कलाकार को दो-दो माध्यमों पर काम करना पड़ता है। एक ओर तो उसे अपनी विशिष्ट कला के माध्यम से आत्माभिव्यक्ति करनी होती है दूसरी ओर उसे नाटक की स्वतंत्र कला को समझकर उसके साथ अपनी कला का समन्वय करना होता है। नाटककार, अभिनेता संगीतज्ञ, नर्तक, दृश्य-सज्जाकार, रंगदीपक (लाइट्समैन) सबके साथ यही समस्या है। नाट्य-प्रयोगों की असफलता का एक बहुत बड़ा कारण यह भी है कि बहुत से कलाकार अपने इस दुहरे दायित्व को संभाल नहीं पाते। कितनी बार यह देखने में आता है कि प्रथम श्रेणी के संगीतकार भी रंगमंच पर असफल हो जाते हैं। दूसरे कलाकारों के साथ भी प्रायः ऐसी ही घटना देखने में आती है। ये कलाकार अपने माध्यम के तो विशेषज्ञ होते हैं किन्तु नाटक के माध्यम को ठीक से समझ नहीं पाते।

नाटक का माध्यम रंगमंच है। नाटककार को इसी रंगमंच के आधार पर अपने नाटक की रूपरेखा बनानी पड़ती है। उसकी चेतना में रंगमंच की सम्भावनाओं और शक्तियों का स्पष्ट रूप रहना आवश्यक है अन्यथा वह भाषा को ही अपना माध्यम समझकर प्रस्तुतीकरण की दृष्टि से शक्तिहीन रचना कर बैठेगा। रंगमंच की स्पष्ट परिकल्पना के अभाव में लिखे गये नाटक को रंगमंच पर प्रस्तुत करने का प्रयास वैसा ही है जैसे किसी गद्य खंड को सुमधुर लय में गाने का प्रयत्न करना।

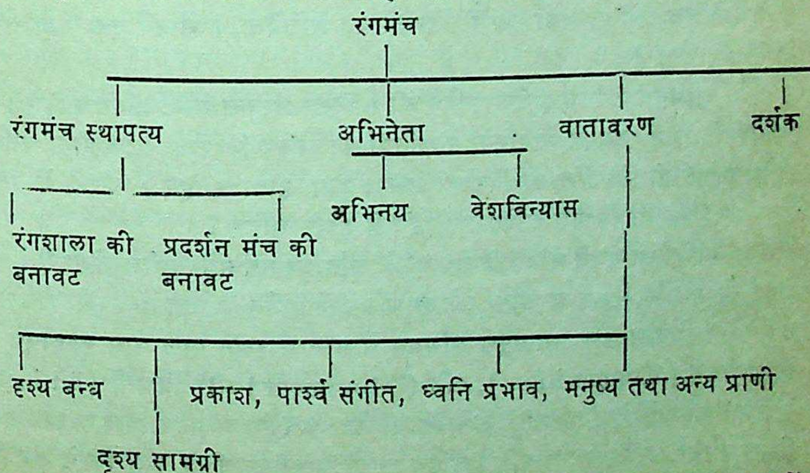
किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि रंगमंच नाटककार का निरंकुश नियन्ता है

और उसकी कल्पना-शक्ति को एक कठघरे में डाल देना चाहता है। वस्तुतः नाटककार नाट्य-कलाकारों की सर्वोच्च सत्ता है और नाटकीय अनुभूति का मूल सूत्र उसकी कल्पना की स्वच्छन्दता में ही निहित है। वह रंगमंच की परिकल्पना में परिवर्तन, परिवर्धन और विकास कर सकता है। विश्व-रंगमंच के इतिहास पर दृष्टि डालने से यह स्पष्ट हो जाता है कि रंगमंच के अद्यतन विकास में नाटककारों की नवनवोन्मेषशालिनी कल्पना का बहुत बड़ा हाथ रहा है।

फिर भी रंगमंच नाटककार का अनिवार्य साधन है वह उसकी तनिक भी उपेक्षा नहीं कर सकता। वास्तव में भ्रम का मुख्य कारण 'रंगमंच' के अर्थ के विषय में अस्पष्टता तथा भ्रामकता है। प्रायः रंगमंच का अर्थ बहुत संकीर्ण रूप में लगाया जाता है। इसका तात्पर्य केवल दृश्यबन्ध की किसी विशिष्ट शैली के रूप में लिया जाता है। इस अर्थ में रंगमंच निश्चय ही नाटककार के लिए अनिवार्य नहीं होना चाहिये अन्यथा वह सृजनशील कलाकार न रहकर मात्र कारीगर हो जायगा। अनिवार्य रूप में रंगमंच का अर्थ नाटककार के लिए वह शक्ति और तत्व है जिनके द्वारा नाटक मूर्त और जीवन्त रूप धारण करता है और जो रंगमंच की सभी शैलियों में निश्चित रूप से वर्तमान रहता है। इस अर्थ में रंगमंच नाटककार के लिए उतना ही आवश्यक है जितना चित्रकार के लिए रंग और रेखायें तथा शिल्पी के लिए त्रिआयात्मक सामग्री जैसे प्रस्तर, धातु या मिट्टी आदि।

माध्यम के रूप में रंगमंच का अर्थ अत्यन्त विस्तृत है। इसमें नाटक के प्रस्तुतीकरण से सम्बन्ध रखने वाले सभी तत्व सम्मिलित हैं—जैसे अभिनेता, वेशभूषा, दृश्यबन्ध; संगीत, प्रकाश, मंचस्थापत्य तथा दर्शक आदि।

नाटककार को इन सबकी शक्तियों से घनिष्ठ परिचय रखना पड़ता है। इन सभी तत्वों का सम्यक् विश्लेषण करने के लिए इनका वैज्ञानिक वर्गीकरण कर लेना आवश्यक है। रंगमंच की परिकल्पना को हम इस प्रकार उपस्थित कर सकते हैं:—



इन तत्वों में सर्वाधिक महत्व अभिनेता का है। जिस प्रकार नाट्य-रचना में

सर्वाधिक महत्व चरित्रों का होता है उसी प्रकार रंगमंच की प्रक्रिया में अभिनेता का। अभिनेता रंगमंच का प्राण है। नाटककार के लिए माध्यम के रूप में अभिनय की प्रकृति, शैलियों तथा तकनीकों को अच्छी तरह से समझना आवश्यक है क्योंकि उन्हीं के अनुसार उसे अपने चरित्रों की रूपरेखा तथा उनका विकास निर्धारित करना पड़ता है। किन्तु यह आवश्यक नहीं है कि वह सदैव अभिनेता की सुविधा का ध्यान रखते हुए परम्परित मार्ग पर ही चले। बर्नार्ड शा ने अपने नाट्य-रचना कौशल के सम्बन्ध में बतलाते हुए एक स्थान पर लिखा है : "अभिनेता के सम्बन्ध में मैं अधिक उदार रहा हूँ। उसे अपनी तकनीकी पद्धतियों का सफलतम उपयोग करने में सक्षम बनाने के लिए मैंने अपना समस्त कौशल-चातुर्य लगा दिया है। लेकिन कभी-कभी उसकी बुद्धि की कठोरतापूर्वक परीक्षा लेने में भी हिचकिचाया नहीं हूँ..."

नाट्य-रचयिता के लिए अपने माध्यम के रूप में अभिनय की प्रकृति और आवश्यकताओं को समझना सरल नहीं है। इसके लिए उसे वर्षों तक प्रतिभावान अभिनेताओं की कला को परखना और उसका विश्लेषण करना पड़ता है। स्वयं शा नाटक लिखने से पहले अभिनीत नाटकों के आलोचक का कार्य किया करते थे।

माध्यम के रूप में अभिनेता की एक मुख्य समस्या यह है : नाटक में व्यक्तियों के चरित्र को उनके जीवन की कुछ विशिष्ट घटनाओं के द्वारा ही व्यक्त किया जाता है। नाटककार उनके जीवन के कुछ टुकड़े उपस्थित करता है। अभिनेता को उन टुकड़ों के ही माध्यम से सम्पूर्ण चरित्र की अनुभूति और अभिव्यक्ति करनी पड़ती है। यह एक अत्यंत कठिन कार्य है। इसके लिए नाटककार को विशेष ध्यान रखना पड़ता है। उसे जीवन के उन टुकड़ों का चयन करते समय तार्किक और मनोवैज्ञानिक विकास-सरणि के साथ-साथ अभिनेता की क्षमता और आवश्यकताओं का भी ध्यान रखना आवश्यक है। यदि नाटककार अपने नायक को मनमाने और कृत्रिम ढंग से एक के बाद दूसरी परिस्थिति में डालता चलता है जिसे मनोवैज्ञानिक और तर्कसंगत रूप से न्यायोचित नहीं ठहराया जा सकता तो वह अभिनेता के सामने एक बड़ी समस्या खड़ी कर देता है।

अभिनय के लिए प्रत्येक चरित्र की रूपरेखा अत्यन्त स्पष्ट होनी चाहिए। सभी परिस्थितियों में उसकी मानसिक स्थितियों का चित्र बिल्कुल साफ होना चाहिए। विभिन्न चरित्रों के बीच का विरोध उभरा हुआ होना चाहिए। चरित्रों में निहित द्वन्द्व या संघर्ष का विकास शक्तिशाली ढंग से होना चाहिए।

अभिनेता अपने चरित्र के संवादों के प्रति अत्यन्त संवेदनशील होता है। अभिनेता की दृष्टि से संवाद के सबसे बड़े दुर्गुण उसकी निर्वैयक्तिकता तथा संवेगहीनता हैं।

अभिनेता और प्रभावपूर्ण अभिनय से सम्बन्ध रखने वाले अन्य महत्वपूर्ण तत्व हैं, संयोजन (Composition), गति (Movement) और क्रियायें (Business)। संयोजन का अर्थ है रंगमंच पर अभिनेताओं का अर्थपूर्ण और कलात्मक रूप से उपस्थित करना। रंगमंच पर अभिनेता इस ढंग से संघटित किये जायँ कि वे सब मिलकर चित्रात्मक सौन्दर्य की सृष्टि करें और साथ ही उससे नाटकीय अर्थ और उसके

संवेगात्मक प्रभाव में अभिवृद्धि हो। नाटक इस प्रकार के कलापूर्ण चित्रों का सतत प्रवाह है।

नाटक में एक संयोजन से दूसरे संयोजन के बीच की स्थिति को गति कहते हैं। इस स्थिति में एक या अनेक अभिनेता प्रवेश या प्रस्थान करते हैं या मंच पर अपना स्थान बदलते हैं। इस गति का भी सौन्दर्यात्मक और मनोवैज्ञानिक प्रभाव पड़ता है। यह दर्शकों के ध्यान परिचालन पर प्रत्यक्ष प्रभाव डालती हैं; इससे पात्रों के चरित्र पर प्रभाव पड़ता है; यह संवादों को प्रभावित करती है तथा इसी प्रकार के अन्य कई कार्य करती है। अतः अभिनयन में गति का महत्त्वपूर्ण स्थान है और इसका प्रयोग सोद्देश्य और सुनियोजित रूप से होना चाहिए।

रंगमंचीय कार्य व्यापार के अन्तर्गत अभिनेता की वे सब दृश्य-क्रियायें आती हैं जिन्हें वह अपने स्थान पर बना रहकर सम्पादित करता है। ये कार्य व्यापार कई उद्देश्यों से संकलित किये जाते हैं। कुछ का उद्देश्य चरित्र-चित्रण होता है, कुछ कथा को आगे बढ़ाते हैं, कुछ नाटक के किसी खंड पर जोर देने के लिए संकलित किये जाते हैं, और कुछ केवल वास्तविकता का भ्रम उत्पन्न करते हैं। नाटक में कार्य-व्यापार का बहुत बड़ा महत्त्वहै। इससे नाटक में सजीवता और स्वाभाविकता आती है। ऐसे नाटक बड़े निर्बल होते हैं जिनमें पात्र अपने-अपने संवादों को कहने के अलावा कठपुतली की तरह खड़े रहते हैं।

यद्यपि संयोजन, गति और क्रियाओं को प्रभावपूर्ण रूप से सृजित करने का उत्तरदायित्व निर्देशक पर है फिर भी यदि नाटककार इनके प्रति संवेदनशील रहता है तो इनके लिए अनुकूल पृष्ठभूमि तैयार कर सकता है। असावधान रहने पर वह अनेक कठिनाइयों का कारण भी बन सकता है।

अभिनय के सम्बन्ध में माध्यम के रूप में नाटककार के सामने सबसे बड़ी समस्या यह है कि चरित्र निर्माण में अभिनेता की शक्तियाँ तथा सीमाएँ क्या हैं और उसका अपना उत्तरदायित्व कितना है। किन प्रभावों का निर्माण उसे करना है और किनके लिए उसे अभिनेताओं पर निर्भर रहना है। इस प्रसंग में अठारहवीं शताब्दी के प्रसिद्ध फ्रान्सीसी विद्वान दिदरो का मत विचारोत्तेजक है। उसके मतानुसार नाटक के तात्विक भाग का सृजन नाटककार द्वारा न होकर अभिनेता द्वारा ही होता है। "रंगशाला में जो चीजें हमें वास्तव में प्रभावित करती हैं वे हैं—भाव-भंगिमाएँ, मुद्राएँ, अस्पष्ट चीत्कार, मुखमंडल की अभिव्यंजनाएँ, शारीरिक गतियाँ, तथा होठों से सहसा निकल पड़ने वाली एक-स्वरी ध्वनियाँ।" वह कहता है कि यह बात इतनी अधिक सत्य है कि वास्तव में नाटककार का काम केवल सिनेरियों लिखना भर रह जाता है; "उसे दृश्य, शब्द बल्कि विचारतत्त्व को भी अभिनेता पर छोड़ देना चाहिए, वह जैसे चाहे उन्हें घटाये, बढ़ाये अथवा बदले।"

माध्यम के रूप में रंगमंच का दूसरा महत्त्वपूर्ण पहलू वातावरण है। मनुष्य की क्रियाएँ नितान्त शुन्य में नहीं सम्पन्न हो सकतीं। उसके लिए स्पष्ट स्थान या वातावरण की आवश्यकता पड़ती है। नाटक का निर्माण करते समय प्रत्येक नाटक-

कार को अपने चरित्रों और उनकी क्रियाओं के लिए विशिष्ट वातावरणों की योजना करनी पड़ती है। अतः उसके मन में इस बात की स्पष्ट धारणा होनी चाहिये कि वातावरण निर्माण के लिए रंगमंच की क्षमता कितनी है।

वातावरण निर्माण की रंगमंचीय क्षमता में निरन्तर परिवर्तन होता रहा है। इसके साथ ही वातावरण की धारणा में भी निरन्तर परिवर्तन होता रहा है। रंगमंच के इतिहास को सर्वाधिक मोड़ देने वाला तत्त्व यही वातावरण है।

वातावरण का निर्माण करने के लिए आधुनिक रंगमंच में मुख्यतया छः साधनों का प्रयोग किया जाता है। (१) दृश्य बन्ध (२) दृश्य सामग्री (३) मनुष्य तथा अन्य प्राणी (४) ध्वनियाँ (५) प्रकाश (६) और पार्श्व संगीत।

वातावरण के प्रयोग के उद्देश्य अनेक होते हैं। कहीं तो इसका उपयोग केवल पृष्ठभूमि के रूप में किया जाता है और कहीं यह अभिनय के लिए भौतिक आधार प्रस्तुत करता है। कभी तो वातावरण नाटक से व्यंजित भावों की अभिवृद्धि करता है और कभी चरित्रों और नाटक के मूल उद्देश्यों की व्याख्या। कभी वातावरण नाटकीय क्रिया का अनिवार्य अंग बनकर उसे आगे बढ़ाता है और कभी अभिनय के केन्द्रीकरण का काम देता है। नाटक की रचना करते समय लेखक के मन में इस बात की स्पष्ट धारणा होनी चाहिए कि वह वातावरण का उपयोग किन उद्देश्यों के लिए कर रहा है।

नाटक और रंगमंच में आधुनिकता का सूत्रपात वातावरण के महत्त्व की स्वीकृति के साथ-साथ हुआ। सन् १८७३ ई० में ही प्रकृतिवाद के महान उन्नायक एमिल ज़ोला ने घोषणा की थी कि आधुनिक नाटक को वातावरण और चरित्र के जीवन की दुहरी गहराइयों में प्रवेश करना पड़ेगा। इस घोषणा के साथ वातावरण की वैज्ञानिक धारणा का विकास हुआ और चरित्र को उसका परिणाम माना गया। नाटकों में वातावरण को एक ऐसे नियन्त्रक तत्त्व के रूप में उपस्थित किया जाने लगा जिसके साथ व्यक्ति समन्वय करता हो, या जिसका विरोध करता हो या जिसे बदल डालता हो। वातावरण को संघर्ष के स्रोत के रूप में उपस्थित किया गया और उसे प्रतिनायक का स्थान प्राप्त हुआ।

वातावरण की इस वैज्ञानिक धारणा ने रंगमंच पर यथार्थवाद को आमंत्रित किया और उस पर स्थान और परिस्थिति के सूक्ष्मतम विवरण उपस्थित किए जाने लगे। पूर्ण स्थानिकता की अभिव्यक्ति नाट्य प्रयोगों का चरम लक्ष्य बन गयी।

किन्तु वस्तुतः रंगमंच की सामग्री इस प्रकार के विवरणयुक्त यथार्थ के अनुकूल नहीं है। यह अत्यन्त व्ययसाध्य और अपरिवर्तनशील है तथा इससे नाटककार और नाट्य प्रयोक्ता की कल्पना अवांछनीय रूप से नियन्त्रित हो जाती है। रंगमंच के सौन्दर्य-शास्त्र की प्रकृति भी इस प्रकार के वाह्य यथार्थ के प्रतिकूल है।

यथार्थवाद की इन असफलताओं ने रंगमंच पर संकेतात्मक वातावरण निर्माण की पद्धतियों का विकास किया। प्रतीकवाद, अभिव्यंजनावाद, रूपवाद, निर्माणवाद और नाटकीयतावाद जैसी शैलियाँ रंगमंच पर अवतीर्ण हुई। इन शैलियों ने रंगमंच

माध्यम की नयी-नयी शक्तियों का अन्वेषण किया और नाटक रचना को नया आयाम प्राप्त हुआ।

रंगमंच वातावरण निर्माण की मुख्य समस्या उसे परिवर्तनशीलता, नमनीयता तथा तरलता प्रदान करना है और इसीलिए आज इन गुणों से सम्पन्न वातावरण निर्माण के साधनों—प्रकाश, संगीत और अन्य ध्वनियों की शक्तियों का अन्वेषण और अधिकतम प्रयोग हो रहा है।

नाटक के रचना-तन्त्र पर सर्वाधिक स्पष्ट और प्रत्यक्ष प्रभाव रंचमंच की वातावरण-निर्माण शैली का पड़ता है। विश्व नाटक के इतिहास पर एक दृष्टि डालने से यह बात स्पष्ट हो जायगी। पश्चिम के प्राचीन यूनानी, रोमन, मध्यकालीन, शेक्सपीयर कालीन और आधुनिक तथा पूर्व के प्राचीन भारतीय, चीनी और जापानी नाटकों में जो इतना अन्तर दीख पड़ता है उसका एक मुख्य कारण वातावरण सम्बन्धी इनकी विभिन्न धारणाएँ और प्रयोग हैं।

रंगमंच और रंगशाला के स्थापत्य का भी सम्बन्ध नाट्यरचना के साथ है इस सम्भावना पर अभी बहुत कम विचार किया गया है। किन्तु विभिन्न प्रकार के स्थापत्यों वाले रंगमंचों के लिए अलग-अलग प्रकार के नाटकों की आवश्यकता का अनुभव आज योरोप और अमेरिका में गम्भीरता से किया जा रहा है। इस तथ्य का महत्त्व उस समय सामने आया जब अन्य परिस्थितियाँ समान होने पर भी एक नाटक एक विशेष प्रकार के स्थापत्य से युक्त रंगमंच पर सफल और दूसरे पर असफल पाया गया। उदाहरण के लिए शेक्सपीयर के नाटक 'चबूतरे वाले रंगमंच पर जितने सफल हो सकते हैं चौखटे वाले रंगमंच पर उतने नहीं', किन्तु इबसन के नाटक चबूतरे वाले रंगमंच पर कभी सफलतापूर्वक खेले नहीं जा सकते। इसी प्रकार खुले रंगमंच की भी अपनी-अपनी विशेषताएँ हैं जिनका प्रभाव नाट्य-रचना पर पड़ता है। इस सम्बन्ध में भरत द्वारा वर्णित रंगशाला के रूपों जैसे विकृष्ट, चतुरस्र तथा त्र्यस्र पर भी गम्भीर अनुसन्धान-कार्य की आवश्यकता है।

अपने महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'ललित-कला दर्शन' में हीगेल ने लिखा है : "कवि जनता के लिए, विशेष रूप से अपने राष्ट्र और अपने युग की जनता के लिए सृजन करता है। अतः कलाकृति ऐसी होनी चाहिए कि वे उसे बुद्धिमत्तापूर्वक समझ सकें और उसमें अपनापन अनुभव कर सकें।" उसका यह कथन सर्वाधिक नाटक पर लागू होता है। नाटक निश्चित रूप से दर्शकों के लिए लिखा जाता है। सामान्यतया सफल नाटक की दर्शक संख्या पाठक-संख्या से कई गुनी अधिक होती है और प्रत्येक दर्शक नाटक देखने का मूल्य पुस्तक के मूल्य से अधिक देता है। उस मूल्य के बदले दर्शक कोई भौतिक वस्तु नहीं पाता, पाता है केवल एक अनुभूति। अतः दर्शकों में अनुभूति की सृष्टि करना ही नाटककार का उद्देश्य है। किन्तु यही उद्देश्य उसके माध्यम का एक अनिवार्य अंग भी बन जाता है। माध्यम के रूप में दर्शकों की अपनी समस्याएँ, शक्तियाँ और सीमाएँ हैं। जो नाटककार की रचना-प्रक्रिया को अत्यधिक प्रभावित करती हैं। चित्रकार, या प्रगीतकार भले ही ग्राहकों की उपेक्षा करते हुए नितान्त

वैयक्तिक कृतियों का निर्माण कर दे, किन्तु यदि नाटककार यह प्रवृत्ति अपनाता है तो मानो वह उसी माध्यम को अस्वीकार करता है जिसमें वह काम करना चाहता है। अतः सफल नाट्य-रचना के लिए यह आवश्यक है कि नाटककार अपने माध्यम के इस तत्त्व का भी निश्लेषण करे।

इस सम्बन्ध में पहली आवश्यकता दर्शकों की अनुभूति प्रक्रिया का विश्लेषण है। नाटककार को इस बात का स्पष्ट ज्ञान होना चाहिए कि नाटक किस प्रकार दर्शकों के मन में उन प्रिय अनुभूतियों को जगा देता है जिनके लिए दर्शक अपनी गाढ़ी कमाई का अंश त्याग करने के लिए तैयार हो जाता है। इस अनुभूति प्रक्रिया का विश्लेषण संसार के अनेक कला एवं साहित्य-मनीषियों ने किया है और इस सम्बन्ध में अनेक धारणाएँ प्रस्तुत की गई हैं। रस और साधारणीकरण, विरेचन (कैथार्सिस) तदाकार परिणति (एम्पैथी) रसान्तर्य (ईस्थेटिक डिस्टेन्स) एवं तादात्मीकरण (आइडेण्टीफिकेशन) की धारणाएँ इस दिशा की महत्त्वपूर्ण उपलब्धियाँ हैं। हीगेल ने सामान्य मानवता के उस नित्य तत्त्व को जिसके प्रति दर्शक प्रतिक्रिया करता है और जो अनिवार्य रूप से नाटक में उपस्थित रहता है 'इच्छा' कहा है। सुश्री गैलावे ने दर्शकों की अनुभूति प्रक्रिया के क्रमिक चरणों का बड़ा सरल विवेचन प्रस्तुत किया है : दर्शकों के मन में सर्वप्रथम नाटक के किसी एक या अनेक चरित्रों के प्रति 'दिलचस्पी' पैदा होती है। फिर यह दिलचस्पी सहानुभूति में बदल जाती है, सम्भवतः उन क्षणों में जिनमें नायक किसी गहरी इच्छा या आवश्यकता की अभिव्यक्ति शक्तिशाली ढंग से कराता है। जब इस इच्छा की पूर्ति बाधित होती है तो रंग प्रक्रिया में एक तनाव आ जाता है जो क्रमशः बढ़ता जाता है। इसी बीच दर्शकों की व्यक्तिगत इक्छाओं का 'सब्लिमेशन' होता है अर्थात् अपने उद्देश्य को पाने की नायक की इच्छा में दर्शकों की इच्छाओं की परिणति और उसका केन्द्रीकरण होता है। इस प्रकार दर्शकों का नायक के साथ कम-से-कम उसकी इच्छा के साथ तादात्मीकरण हो जाता है और अन्त में जबकि नायक अपने उद्देश्यों को पाने में सफल या असफल होता है तो दर्शकों को 'क्लाइमेक्स' जनित सन्तोष की गहरी अनुभूति होती है। अनुभूति की इस प्रक्रिया के साथ आरम्भ 'प्रयत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति और फलगम' के रूप में भरत द्वारा प्रस्तुत कार्यावस्थाओं के विश्लेषण की तुलना महत्त्वपूर्ण है। निष्कर्ष के रूप में गैलावे ने दर्शकों के दृष्टिकोण से नाटक के तीन अनिवार्य तत्त्व बतलाए हैं। रंगस्थल में दर्शकों को अभिभूत कर देने वाली पहली वस्तु विचार नहीं है, उद्देश्यहीन क्रियाएँ नहीं हैं। संवेगों और भावों की उमड़न-घुमड़न मात्र भी नहीं है, वह है इच्छा, अपने व्यक्तित्व को प्रतिष्ठापित करने के लिए लिए व्यक्ति का प्रयत्न और इस प्रतिष्ठापन द्वारा अपने परिवेश (milieu) में अपने संगतिपूर्ण स्थान की प्राप्ति। दूसरी वस्तु, इसे करने के लिए वह जिन क्रियाओं को अपनाता है यह नाटकीय क्रिया है। तीसरी वस्तु जो कि नाटककार की उद्दिष्ट कृति है 'नाटकीय अनुभूति (क्लाइमेक्स) है। यह नाटकीय अनुभूति (क्लाइमेक्स) अभिनयन के मध्य भंग की गई संगति के रंगमंच पर पुनर्स्थापन द्वारा दर्शकों के मन में उत्पन्न सन्तोष की गहरी अनुभूति है।

दर्शकों से सम्बन्ध रखने वाली दूसरी समस्या सामूहिक आदर्शन की है। नाटक को दर्शकों का एक समूह देखता है। यह समूह एक नियत समय के लिए एक समान उद्देश्य को लेकर संघटित होता है। अत: दर्शकों की प्रतिक्रिया व्यक्तिगत न होकर सामूहिक रूप से होती है। व्यक्तिगत की अपेक्षा समूह के सदस्य के रूप में दर्शकों की मन:स्थिति बहुत अलग हो जाती है। समूह के सदस्य के रूप में व्यक्ति अपेक्षाकृत बौद्धिक कम और संवेगात्मक अधिक हो उठता है। दर्शक समूह की ग्रहण-शीलता, उत्सुकता, सहनशीलता और निर्देश ग्रहण करने की क्षमता बहुत बढ़ जाती है। उसके सदस्यों का सामान्यीकरण भी होता है अर्थात् दर्शकों की व्यक्तिगत विभिन्नताओं की मात्रा कम और समानताओं की मात्रा अधिक हो जाती है। समाज द्वारा मान्य स्थापनाओं का दबाव बढ़ जाता है। ऐसी स्थिति में दर्शक उन तत्त्वों का विरोध कर सकता है जिन्हें व्यक्तिश: वह पसन्द करता है। किन्तु साथ ही व्यक्ति जब किसी समूह का अंग बनता है तब उसकी व्यक्तिगत सत्ता का अधिकांश लुप्त हो जाता है। उसके अवचेतन में यह धारणा बन जाती है कि कोई उसे अकेला नहीं देख सकता। फलस्वरूप समूह की प्रतिक्रियाएँ अधिक तीव्र हो उठती हैं। समूह में व्यक्ति की सामाजिक गुमनामी का नतीजा यह होता है कि समूह यदि किसी प्रतिबन्धित (tabooed) क्रिया में संलग्न होता है तो फिर होता चला जाता है, बिना किसी हिचकिचाहट या भय के सामूहिक आदर्शन की प्रक्रिया का नाटक की रचना पर काफी प्रभाव पड़ता है। जो नाटककार इस तत्त्व की उपेक्षा करता है वह यह नहीं समझ पाता कि कभी-कभी पढ़ने पर बहुत अच्छा लगने वाला नाटक भी दर्शकों के बीच इतना असफल क्यों हो जाता है। सामूहिक आदर्शन की समस्याओं पर, सामाजिक मनोविज्ञान के क्षेत्र में बहुत से अनुसन्धान किये गए हैं।

दर्शकों से सम्बन्ध रखने वाली तीसरी समस्या युग-रुचि की है। जैसा कि पहले संकेत किया जा चुका है, नाटक का निर्माण मुख्य रूप से देश और युग-विशेष की जनता के लिए किया जाता है। यह जनता दर्शकों के रूप में उसी नाटक के लिए प्रत्यक्ष मूल्य देना चाहती है जो उसकी रुचियों और माँगों को सन्तुष्ट कर सके और चूँकि सामान्यतया नाटक अभिनीत करने में काफी लम्बी रकम खर्च होती है तथा इसीलिए इसने व्यवसाय का रूप ग्रहण कर लिया है; पूंजी लगाने वाला स्वाभाविक ही ज्यादा-से-ज्यादा मुनाफा वसूल करना चाहता है। फलत: नाटककार के ऊपर इन माँगों का गहरा दबाव पड़ता है और उसे कुछ निश्चित फार्मूलों के अनुसार रचना करने के लिए विवश होना पड़ता है। फार्मूलों का यह जाल इतना जटिल और कुटिल होता है कि साधारणतया अच्छे-अच्छे नाटककारों की प्रतिभा भी उसी में उलझकर रह जाती है। यही कारण है कि साहित्य की अन्य विधाओं की अपेक्षा नाटक के क्षेत्र में संसार भर में महान प्रतिभाओं की बड़ी कमी रही है। किन्तु शेक्सपियर जैसा विलक्षण प्रतिभाशील नाटककार तो इन फार्मूलों को भी अपनी प्रतिभा के स्पर्श से महान कला के रूप में परिणत कर देता है। आज हिन्दी में व्यावसायिक रंगमंच के विकास की बड़ी चिन्ता की जा रही है किन्तु इस बात पर गम्भीरता से विचार करना

होगा कि क्या इससे हमारे रंगमंच का अपेक्षित स्वस्थ विकास हो सकेगा। पारसी रंगमंच और वर्तमान हिन्दी फिल्मों की गवाही हमारे सामने है।

रंगमंच के विभिन्न तत्त्वों की विशेषताओं का संक्षिप्त विश्लेषण अलग-अलग कर लेने के बाद यह देखना भी आवश्यक है कि अपने समग्र रूप में इस माध्यम की मूल प्रकृति क्या है। नाटक की ही भाँति रंग प्रक्रिया का भी मूलाधार 'द्वन्द्व' है, किन्तु यह द्वन्द्व कथातत्त्व प्रसूत न होकर सौन्दर्यशास्त्रीय है। यह द्वन्द्व लोक-धर्मिता या भ्रमवाद (illusionism) और नाट्य-धर्मिता या नाटकीयतावाद (Theatricalism) का है, यथार्थ (Reality) और शैलीकरण (Stylisation) का है। रंग प्रक्रिया में एक ओर तो यथार्थ लाने का, वास्तविकता का भ्रम पैदा करने का प्रयत्न किया जाता है, दर्शक यह बिल्कुल भूल जायँ कि वे रंगशाला में बैठे हुए हैं और कोई नाटक देख रहे हैं। जैसा कि प्रकृतिवादियों ने कहा है नाटक-नाटक न होकर 'जीवन का एक टुकड़ा' (a slice of life) हो। दूसरी ओर रंगमंच दर्शकों के मन में यह विश्वास पैदा करना चाहता है यह उसे धोखा देना नहीं चाहता, कि जीवन जीवन है और रंगमंच रंगमंच, कि फिर भी रंगमंच अपनी क्षमताओं का उपयोग करके जीवन की झलक देना चाहता है, जिससे दर्शकों के मन में वांछित संवेग और विचार उत्पन्न हो जायँ। रंगमंच चाहता है कि दर्शक संवेगों की अनुभूति करने के साथ ही कलाकारों के अस्तित्व की भी अनुभूति करते रहें कि लेखक, निर्देशक, अभिनेता, दृश्यकार, संगीतज्ञ आदि उसके समक्ष अपनी प्रतिभा और कौशल क्षमताओं की अभिव्यक्ति कर रहे हैं और अपना अभिशंसन (appreciation) चाहते हैं।

भ्रमवाद और नाटकीयतावाद का यह द्वन्द्व रंगमंच की प्रक्रिया में सदा से रहा है। यह नाट्यरूढ़ियों से बोझिल १८वीं शताब्दी तक की रंगमंचीय परम्परा में भी रहा है और १९वीं शताब्दी में ह्यूगो, ज़ोला, अन्तोइन और स्तानिस्लावस्की द्वारा विकसित चतुर्थ दीवाल की धारणा से युक्त प्रकृतिवादी यथार्थवादी परम्परा में भी रहा है। क्रेग, अप्पिया, मायरहोल्ड, बख्तानगाव, पिस्केटर तथा ब्रेख्ट आदि द्वारा विकसित प्रतीकवादी, अभिव्यंजनावादी, निर्माणवादी आदि अनेक शैलियों में भी यही द्वन्द्व प्रतिफलित हो रहा है। वस्तुतः सत्य तो यह है कि रंगमंच कभी इस द्वन्द्व से मुक्त नहीं हो सकता। उसे मुक्त करना वांछनीय भी नहीं है, हालांकि प्रकृतिवादी आन्दोलन के पीछे यही प्रकृति काम कर रही थी। दूसरे छोर पर क्रेग भी कुछ ऐसा ही करना चाहता था। किन्तु रंगमंच चाहे जितना प्रकृतिवादी हो जाय उससे नाटकीयता का निष्कासन पूर्ण रूप से कभी नहीं किया जा सकता, क्योंकि चाहे जितने सूक्ष्म रूप में ही क्यों न हो उसमें कुछ-न-कुछ नाट्यरूढ़ियाँ ज़रूर मौजूद रह जायँगी। उसी प्रकार नाटक से यथार्थवाद का भी पूर्ण बहिष्कार नहीं किया जा सकता, क्योंकि अन्य सभी तत्त्वों को चाहे जितना भी कृत्रिम क्यों न कर दिया जाय अभिनेता के त्रिआयात्मक शरीर और उनकी मानवीय वाणी को कृत्रिम नहीं बनाया जा सकता। सम्भवतः यही कारण था कि क्रेग रंगमंच पर अभिनेताओं के रूप में मनुष्यों के बदले पुतलियों को प्रतिष्ठापित करना चाहता था।

रंगमंच की इस द्वैधता का एक मनोवैज्ञानिक कारण भी है। दर्शक रंगशाला में दुहरी चेतना लेकर जाता है। एक ओर तो वह नाटकीय अनुभूति के प्रति अपने-आप को समर्पित करना चाहता है किन्तु दूसरी ओर वह उसमें पूर्ण निमग्नता से बचना भी चाहता है। वह अपने को कुछ दूरी पर रखना चाहता है जिससे उसकी आलोचनात्मक शक्ति, भौतिक सुरक्षा और आत्मसम्मान की भावना नष्ट न हो जाय। इसीलिए जहाँ वह क्षण-भर के लिए अभिनेता में वास्तविक जीवन की क्रियाओं में संलग्न वास्तविक व्यक्ति का भ्रम करके तुष्टि पाता है वहीं उसे इस अनुभूति से भी कलात्मक आनन्द प्राप्त होता है कि मंच पर कुछ अभिनेता उसके समक्ष अपने अभिनय कौशल का प्रदर्शन कर रहे हैं। रंगशाला में अनुभूति की प्रक्रिया की तुलना करघे की ढरकी (शटल) से की गई है जो वास्तविकता और नाटकीयता के ताने-बाने के बीच निरन्तर आगे-पीछे घूमती रहती है।

रंग-प्रक्रिया में इस द्वैधता को स्वीकार कर लेने के पश्चात् इसके कलाकारों के समक्ष सृजन करते समय इनके सफल समन्वय की समस्या खड़ी होती है—ऐसा समन्वय जिससे दोनों बिना एक-दूसरे को शक्तिहीन या अस्तव्यस्त किये नाटकीय अनुभूति की पूर्णता और प्रगाढ़ता में योग दे सकें। नाट्य-लेखन और अभिनयन में जब इस सफल समन्वय की उपलब्धि होती है तभी ऐसी रंग अनुभूति का जन्म होता है जिसमें सर्वाधिक नाटकीयता तब प्राप्त होती है जब सर्वाधिक वास्तविकता हो और सर्वाधिक वास्तविकता तब प्राप्त होती है जब सर्वाधिक नाटकीयता हो। सोफोक्लीज़, शेक्सपियर, इबसन, स्ट्रिन्डबर्ग, शा और चेखव-जैसे महान नाटककारों की कृतियाँ इस समन्वय की सफल उदाहरण हैं।

इस द्वैधता के फलस्वरूप रंग-प्रक्रिया में एक और नियम क्रियाशील हो उठता है। यह परिवर्तन का नियम है। कभी-कभी जिन साधनों द्वारा अत्यन्त यथार्थवादी या प्रकृतिवादी प्रभाव उत्पन्न करने की चेष्टा की जाती है वे प्रतीकात्मक या प्रहसनात्मक के रूप में अपने से विपरीत प्रभाव उत्पन्न करने लग जाते हैं। इसी प्रकार प्रतीकात्मक और अयथार्थवादी प्रभाव बदलकर यथार्थ या प्रकृतिवादी प्रभाव उत्पन्न करने लग जाते हैं। वस्तुत: रंगप्रक्रिया में आत्यान्तिक प्रभावों की प्रवृत्ति अपने विरोधी प्रभावों के रूप में बदल जाने की होती है। अमेरिका के रंगमंच के केन्द्र ब्राडवे में एलमर व्राइस का नाटक 'स्ट्रीट सीन' खेला गया। इसमें एक दृश्य गन्दी बस्ती के एक ऐसे मकान का था जिसकी कोठरियों को किराये पर दिया जाता था। इस दृश्य को रंगमंच पर यथार्थ और सूक्ष्म विवरणों से युक्त करके प्रकृतिवादी ढंग से उपस्थित किया गया। किन्तु आदर्शन प्रक्रिया में उसका प्रभाव बदल गया। जान गेसनर ने इस परिवर्तन की प्रक्रिया का विश्लेषण इस प्रकार किया है। (१) दृश्यबन्ध पर पहली दृष्टि पड़ने पर हम यह अनुभव करते हैं कि कैनवस और चौखटों की सहायता से इस कृत्रिम दृश्यबन्ध का निर्माण हुआ है जिसका उद्देश्य भूरे पत्थर से बने हुए किराये के मकान का भ्रम उत्पन्न करना है। (२) इसका पहला प्रभाव यह पड़ता है कि क्षण-भर के लिए इसमें मकान का प्रकृतिवादी भ्रम उत्पन्न होता है, गन्दे तथ्य

की रूखी समानता का। (३) किन्तु फिर पुनः हम इस दृश्यात्मक निर्माण की अनुभूति वास्तविक तथ्य के रूप में करने की अपेक्षा उसे प्रतीक और नाटकीय कौशल के रूप में समझने लग जाते हैं। गोरेलिक ने इसे इस प्रकार प्रस्तुत किया है—"यद्यपि प्रथम दृष्टिपात में 'स्ट्रीट सीन' का दृश्यपीठ बेलास्को की शैली का प्रतीक होता है, पर तुरंत ही यह बात स्पष्ट हो जाती है कि मकान का यह प्रतिरूप एक रंगमंचीय रूढ़ि है जिसका उद्देश्य नाटक को नवीन और आकर्षक रूप से उपस्थित करना है। जितनी ही अधिक देर तक दृश्यबन्ध रंगमंच पर रहता है उतना ही कम दर्शक उसमें वास्तविकता के भ्रम की अनुभूति करते हैं। (इस नाटक में यह शुरू से अन्त तक रहता है।) दर्शक इसे मात्र रंगमंचीय कौशल के रूप में देखते और स्वीकार करते हैं।)"

नाटककार की कल्पना में रंगमंच का एक-न-एक स्वरूप अवश्य विद्यमान रहता है। उन नाटककारों की कल्पना में भी जिनके नाटक बिलकुल अनभिनेय और मात्र पाठ्य (closet) करार दे दिये जाते हैं, रंगमंच का एक रूप रहता ही है जिसके लिए उन्होंने नाटक की रचना की होती है। कुछ नाटककारों की कल्पना में रंगमंच के उन मूलभूत तत्वों का प्रत्यय रहता है जिसके अनुसार रचना करने के कारण उनके नाटक युग-युग के लिए अनेक रंगमंचीय शैलियों में अभिनेय बन जाते हैं। कुछ नाटककार युग-विशेष और रंगमंच की शैली-विशेष से इतनी अधिक कठोरता के साथ बँधे रहते हैं कि अन्य युगों के लिए उनके नाटक नितान्त अनभिनेय बन जाते हैं। कुछ ऐसे नाटककारों की रचनाएँ भी अनभिनेय मानी जाने लगती हैं जिनकी रंगमंचीय कल्पना परम्परा से विच्छिन्न, मौलिक और नितान्त वैयक्तिक होती हैं। लेकिन ऐसे नाटककार भी काफ़ी बड़ी संख्या में होते हैं जिनकी रंगमंचीय कल्पना अस्पष्ट, अधूरी, अविकसित और ग़लत होती है। किसी नाटक को अभिनेयता अथवा अनभिनेयता का फतवा देने के पहले इस तथ्य पर भलीभाँति विचार कर लेना चाहिये और इस बात का स्पष्ट उल्लेख कर देना चाहिए कि यदि कोई नाटक अभिनेय अथवा अनभिनेय है तो किस दृष्टिकोण से ? इसके लिए रंगमंच के इतिहास और उसकी विविध शैलियों से घनिष्ट परिचय आवश्यक है। हिन्दी आलोचना के क्षेत्र में अभिनेयता और अनभिनेयता का जो विवाद खड़ा किया गया है वह मनमाना, आधार-रहित और अवैज्ञानिक है। एक ही नाटक को कोई अभिनेय कहता है कोई अनभिनेय और कोई तो उसे नाटक मानने को ही तैयार नहीं है। प्रायः नाटक की भाषा, गीतों के प्रयोग, नाटक की लम्बाई, अंकों, दृश्यों, तथा पात्रों की संख्या आदि के आधार पर ही अभिनेयता का निर्णय किया जाता है जबकि रंगमंचीय प्रक्रिया के साथ इनका सम्बन्ध नगण्य है।

रंगमंचीय प्रत्यय के विकास में वैयक्तिक भेद के मूलकारण, रंगमंच के प्रति नाटककार की संवेदनशीलता, रंगमंचीय वातावरण, और रंग-विश्लेषण की सुविधाएँ हैं। कुछ नाटककार रंगमंच के प्रति बहुत संवेदनशील होते हैं। उसके मूलतत्त्वों और उसकी बारीकियों को वे स्वाभाविक और प्रायः अवचेतन से आत्मसात कर लेते हैं। कुछ लोगों में यह संवेदनशीलता अल्पमात्रा में होती है। रंगमंचीय संवेदनशीलता विकासशील है। इसका विकास रंगमंचीय वातावरण और रंग-विश्लेषण की सुविधाओं

के ऊपर निर्भर करता है। रंगमंचीय कल्पना के विकास में रंगमंचीय वातावरण का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। जिन नाटककारों को विभिन्न प्रकार से बहुत-से नाटक अनेक शैलियों के रंगमंच पर अभिनीत देखने का, रंगमंचीय प्रक्रिया में क्रियात्मक सहयोग देने का, तथा अपने ही नाटकों को विभिन्न शैलियों में और विभिन्न संस्थानों द्वारा अभिनीत देखने का अवसर मिलता है उनकी कल्पना उन नाटककारों की अपेक्षा अधिक सम्पन्न हो सकती है जिनको पुराने और समकालीन नाटकों को पढ़कर ही उनके अनुकरण पर लिखना पड़ता है। किन्तु रंगमंचीय वातावरण से सही और पूरा लाभ उठाने के लिए रंग-विश्लेषण बहुत आवश्यक है। रंग-विश्लेषण में रंगमंच के उन विभिन्न पहलुओं, तकनीकों और सौन्दर्यशास्त्र का अध्ययन वैज्ञानिक ढंग से किया जाता है जिनका प्रभाव प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्षरूप से नाट्य-रचना पर पड़ता है। वस्तुत: रंग-विश्लेषण माध्यम-अन्वेषण है। हिन्दी नाटककारों को रंगमंचीय वातावरण और रंग-विश्लेषण की सुविधा नहीं के बराबर प्राप्त हुई और इसीलिए उनकी रंगमंचीय संवेदनशीलता का अपेक्षित स्वाभाविक विकास न हो सका। फिर भी हिन्दी-नाटककारों के लिए यह गौरव की बात है कि इस प्रकार की प्रतिकूल परिस्थितियों में भी कुछ ऐसे नाटकों की रचना हो सकी जो रंगमंचीय कल्पना की समृद्धि से परिपूर्ण हैं।

इस निबन्ध में माध्यम के रूप में रंगमंच का जो स्वरूप सामने रखा गया है वह नाटक में अभिनेयता लाने का कोई 'प्रेसक्रिप्शन' नहीं हैं। यह रंग प्रक्रिया का विवरणयुक्त पूर्ण चित्र भी नहीं है। इस निबन्ध का उद्देश्य उन आयामों की ओर संकेत-भर करना है जिन्हें दृष्टि-पथ में रखने से रंग-विश्लेषण में सुविधा हो सकती है और जिनके सहारे रंग-चेतना का विकास किया जा सकता है।

डॉ० गोपाल राय

साहित्य-सर्जन और पाठक वर्ग की रुचि का पारस्परिक सम्बन्ध

साहित्य के इतिहास की विभिन्न धाराओं और प्रवृत्तियों के विकास तथा उनमें परि-लक्ष्य परिवर्तनों या मोड़ों को समझने, साथ ही, उनके कारणों के अनुसन्धान तथा परिशंसन के लिए साहित्यिक इतिहासकारों ने अनेक पद्धतियों का आविष्कार और उपयोग किया है, पर दुर्भाग्यवश इतिहास लेखकों की दृष्टि मुख्यतः लेखक और उसकी कृति पर ही केन्द्रित रह जाने के कारण साहित्यिक विकास की समुचित व्याख्या नहीं हो पाती। प्रायः लेखक और उसकी रचना पर पड़ने वाले सामाजिक, आर्थिक, राज-नैतिक, धार्मिक आदि परिवर्तनों का प्रभाव दिखाकर साहित्य का इतिहास लिखने वाले मोटा-मोटी रूप में, साहित्यिक धाराओं और प्रवृत्तियों को समझने का प्रयास करते हैं। यही कारण है कि अतीत और वर्तमान साहित्य में घटित होने वाले अनेक परिवर्तन आज भी असमाधेय बने हुए हैं। हिन्दी-साहित्य के इतिहास में आदि काल, भक्तिकाल, रीतिकाल और आधुनिक काल के आविर्भाव के कारणों की सम्यक् व्याख्या न हो पाने का कारण यह एकांगी दृष्टिकोण ही है। वस्तुतः साहित्यिक इतिहास की विभिन्न धाराओं और प्रवृत्तियों की समुचित व्याख्या के लिए लेखकों और उनकी रचनाओं के साथ-साथ उनके पाठकों की रुचियों पर भी विचार करना आवश्यक है।

ध्यानपूर्वक विचार किया जाए तो साहित्य-निर्माण एक द्विकूलीय सृजन-प्रक्रिया है जिसके एक छोर पर लेखक और दूसरे छोर पर उसका पाठक विद्यमान रहता है। जिस प्रकार नदी के दो छोर अलग-अलग होते हुए भी धारा के द्वारा परस्पर सम्बद्ध होते हैं उसी प्रकार लेखक और पाठक एक-दूसरे से अपरिचित होते हुए भी पुस्तक के माध्यम से एक सम्बन्धसूत्र में गुथ जाते हैं। जिस प्रकार नदी की धारा उसके दोनों कूलों द्वारा नियंत्रित होती है, उसी प्रकार साहित्यिक कृति भी लेखक और पाठक दोनों की रुचियों द्वारा नियंत्रित होती है। विचारणीय प्रश्न यह है कि साहित्यरचना और पाठकों की रुचि में परस्पर सम्बन्ध किस प्रकार का और किस सीमा तक होता है। पुस्तकरचना में लेखक की रुचि और प्रतिभा प्रत्यक्षतः सक्रिय होती है, यह तो एक स्पष्ट तथ्य है, पर पाठकों की रुचियाँ भी अन्तर्धाराओं के रूप में ग्रन्थ रचना को न्यूनाधिक, पर निश्चित रूप में, प्रभावित करती हैं। संस्कृत, हिन्दी और अंग्रेज़ी साहित्य के इतिहास से—विश्वसाहित्य की बात मैं अपनी सीमाओं को ध्यान में रखकर नहीं कर रहा हूँ—इस कथन के प्रमाण में अनेक उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं।

वस्तुत: साहित्य का कोई भी इतिहास पाठकों और लेखकों पर युगपत रूप से विचार किये बिना पूर्ण और निर्दोष नहीं हो सकता। यह दावा करना कि यदि साहित्य के पाठक नहीं होते तो लेखकों का अस्तित्व भी नहीं होता, सिद्ध तथ्यों की सीमा से बाहर जाना नहीं है। रचनात्मक साहित्य के निर्माण के लिए पाठक समूह का होना अनिवार्य है। साहित्य की रचना शून्य में नहीं की जा सकती। महान जर्मन कवि और नाटककार गेटे ने एक स्थान पर लिखा है—

> "तुम न होते यदि हमारी पुस्तकों के सुहृद् पाठक
> तो भला मैं कहाँ होता।
> भावनाएँ सभी मेरी स्वगत भाषणमात्र होतीं
> और मेरे हर्ष मौनालाप होते"।[1]

यद्यपि अनेक लोगों के लिए यह कल्पना करना कठिन प्रतीत होता है कि हमारे साहित्य के महान स्रष्टा किसी भी परिस्थिति में अपनी आत्मा की अभिव्यक्ति करने में असफल होते, पर साहित्य का इतिहास बार-बार हमारे समक्ष ऐसे उदाहरण प्रस्तुत करता है, जिनसे उक्त स्थापना की पुष्टि होती है। यह निश्चित है कि बहुत-सी पुस्तकें ऐसी होती हैं जिनका प्रणयन, यदि पाठकों का एक समूह उन्हें ग्रहण करने के लिए प्रतीक्षा न करता होता, नहीं हुआ होता। यहाँ तक कि महान् लेखकों की कृतियाँ भी उन पाठकों की भावनाओं और विचारों से, जिनके हाथों से उनके गुज़रने की सम्भावना रहती है, प्रभावित हुई हैं तथा कभी-कभी उनके द्वारा उनका रूप निश्चित हुआ है। डॉ० जानसन ने तो, शायद चिढ़कर, यहाँ तक लिख दिया है कि 'किसी कुन्द मस्तिष्क (ब्लॉक हेड) व्यक्ति के अतिरिक्त अन्य किसी ने भी कभी धन के अतिरिक्त अन्य कारण से नहीं लिखा होगा, और पाठकों के बिना धन की प्राप्ति नहीं हो सकती"।[2] स्पष्टवक्ता डॉ० जान्सन ने यह बात इस सिद्धान्त के विरोध में कही थी कि 'लेखन एक दिव्य आह्वान का परिणाम है।' डॉ० जॉन्सन ने यदि भारतीय साहित्य का, विशेषकर तुलसी, कबीर जैसे भक्तों द्वारा रचित साहित्य और उनके जीवन का, अध्ययन किया होता तो शायद उन्हें अपने कथन की उग्रता कम करने को बाध्य होना पड़ा होता। पर डॉ० जॉन्सन की यह धारणा काफ़ी दूर तक सही है कि साहित्य पर उसके पाठकों की रुचि का प्रभाव पड़ता है। शेक्सपीयर के, जो संसार के प्रथम पंक्ति के लेखकों में परिगणनीय है, साहित्य से इस कथन की पुष्टि होती है। शेक्सपीयर ने अर्ल आफ़ साउदम्टन को 'अपनी 'रेप ऑफ़ लूक्रिस' नामक पुस्तक समर्पित करते हुए लिखा था, "मैंने जो भी किया है वह आपका है, मुझे जो भी करना है, वह आपका है।"[3] इसे देखते हुए यह कहना दुस्साहस होगा कि शेक्सपीयर अपने आश्रयदाता और सामन्तीय समाज की रुचियों द्वारा निर्देशित नहीं हुआ होगा। शेक्सपीयर की रचनाओं के प्रथम सम्पादकों जॉन हेमिंगे (John Heminge) और हेनरी कोण्डेल

---

१. दि सोशिऑलॉजी ऑफ़ लिटरेरी टेस्ट, पृ० ३९ से उद्धृत।
२. दि इंगलिशमैन एण्ड हिज बुक्स, इन्ट्रोडक्शन।
३. दि सोशिऑलॉजी ऑफ़ लिटरेरी टेस्ट, द्वितीय परिच्छेद।

(Henrie Condell) ने अपनी प्रस्तावना में नाना प्रकार के पाठकों को सम्बोधित करते हुए लिखा था। "सभी पुस्तकों का भाग्य आपकी क्षमता पर निर्भर करता है, न केवल आपके मस्तिष्क की क्षमता पर, वरन् आपके बटुए की क्षमता पर भी। अब यह प्रकाशित हो गई। आप अपने विशेषाधिकार के लिए खड़े होंगे, यह हम लोग जानते हैं; पढ़ना या निन्दा करना। आप ऐसा करें, किन्तु पहले इसे खरीदें।" शेक्सपीयर यदि अपनी कृतियों के प्रथम सम्पादित संग्रह को देखने के लिए जीवित होते, तो वे भी अपने सम्पादकों से कदाचित् पूर्णतः सहमत होते। क्योंकि उनके नाटकों में ऐसे बहुत से संकेत विद्यमान हैं जिनसे सिद्ध होता है कि वे लिखते समय अपने युग के पाठकों का—या प्रेक्षकों का ध्यान रखते थे।[1]

पाठकों की रुचि का प्रभाव साहित्य पर प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से अवश्य पड़ता है, और इसे बहुत से लेखकों ने स्वीकार भी किया है। शेक्सपीयर के समसामयिक चर्चयार्ड ने एक समर्पण में चिड़चिड़ाहटभरी स्पष्टता से लिखा है कि उसका आदर्श मछली है—वह धारा के साथ तैरता है।[2] आधुनिक काल का लेखक इस बात को स्वीकार करने को कतई तैयार नहीं हो सकता, पर व्यवहार में यह काफ़ी दूर तक सत्य है। आर्नल्ड बेनेट ने लिखा था, "सत्य यह है कि एक कलाकार जो पाठकों से अपनी शर्त पर, और केवल अपनी शर्त पर प्रशंसा की माँग करता है, वह या तो देवता है अथवा एक अभिमानी और अव्यावहारिक मूर्ख, और उसके पूर्वोक्त से अधिक उत्तरोक्त होने की सम्भावना है। वह आवश्यकता से अधिक चाहता है। प्रत्येक सौदे के, जिसमें कलात्मक सौदा भी सम्मिलित है, दो पक्ष होते हैं। अत्यन्त उर्वर और शक्तिशाली कलाकार इस तथ्य को मानने के लिए प्रस्तुत रहते हैं, क्योंकि उनका अनुपात ज्ञान सुविकसित होता है। अनुपात के ज्ञान का अभाव अहं-प्रदर्शन-प्रिय व्यक्ति का लक्षण है। विवेक-सम्पन्न कलाकार अपने सम्मान की रक्षा करते हुए, जनसमूह की भावनाओं और विचारों का भी सम्मान करता है। एक ही साथ दोनों बातें बिलकुल सम्भव हैं।"[3] आर्नल्ड बेनेट ने शेक्सपीयर और सेमुएल रिचार्डसन का उल्लेख वैसे महान् कलाकारों के रूप में किया है, जो जनता की रुचियों द्वारा निर्देशित हुए थे। इस प्रसंग में हम बायरन को नहीं भूल सकते, जिसने अपनी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के पूर्ण प्रदर्शन के बावजूद, अपने पाठकों को हमेशा ध्यान में रखा।

परम्परागत साहित्येतिहास विभिन्न युगों में विभिन्न प्रकार के साहित्यों और उनके लेखकों की लोकप्रियता के कारणों को तत्कालीन पाठकवर्ग की रुचियों में ढूंढ़ने का प्रयत्न नहीं करता। वह इस प्रश्न पर ध्यान नहीं देता कि क्यों शिलर-जैसे महान् आलोचक ने फीलिंडग-जैसे उपन्यासकार की गणना महत्तम श्रेण्य लेखकों में की; क्यों बायरन की वर्णनात्मक कविता, जो आज बिलकुल लोकप्रिय नहीं, प्रकाशन के दिन ही हज़ारों की संख्या में बिक जाती थी; क्यों गेटे के समय में ज्याँ पॉल इतना लोकप्रिय

१. दि इंगलिशमैन एण्ड हिज बुक्स; पृ० ६।
२. सोशियालॉजी ऑफ़ लिटरेरी टेस्ट, पृ० ३६।
३. उपरिवत्।

था कि यदि उसका एक केशगुच्छ किसी को प्राप्त हो जाता था, तो वह अपने को भाग्यवान् समझता था[1]; क्यों एक समय सर्वत्र रीति-कालीन कविताओं की धूम थी, जबकि आज वैसी कविताएँ बिलकुल ही पसन्द नहीं की जातीं; क्यों देवकीनंदन खत्री की चन्द्रकन्ता के फरमें जब छपते होते थे तो प्रेस के दरवाजे पर पाठकों की भीड़ जमा रहती थी और पाठकों को सन्तुष्ट करने के बाद ही उनका प्रूफ देखना सम्भव हो पाता था।[2] कुछ लोग कभी-कभी, इन लेखकों की कला को ही दोषपूर्ण सिद्ध करके, कि अपने आद्य मनोविज्ञान तथा आनुभूतिक गहराई की कमी के कारण अब लोकप्रिय नहीं रह गये हैं, इस प्रश्न को संक्षेपतः टाल देने के प्रयत्न करते हैं, पर यदि प्राचीन-साहित्य के पाठकों को आज का साहित्य दिखाया जाना सम्भव होता, तो वे कदाचित् इसे विकसित मानने को तैयार नहीं होते। वे अपने समकालीन लेखकों की कृतियों के दुर्बल स्थलों का समर्थन न भी करते फिर भी वे अपनी समकालिक कृतियों के उन स्थलों की तरफ हमारा ध्यान अवश्य आकृष्ट करना चाहते जो उनके लिए आज की समस्त कृतियों से अधिक मूल्यवान् मालूम पड़ते। संक्षेपतः वे हेतु जो साहित्यिक परिशंसन में प्राचीनतर पीढ़ी को वर्तमान पीढ़ी से भिन्न करते हैं, मुख्यतः पाठकों की रुचि पर आधारित होते हैं।

यह बात केवल साधारण कृतियों पर ही नहीं, वरन् जिन्हें हम श्रेण्य रचनाएँ कहते हैं, उन पर भी समान रूप से लागू है। कोई भी श्रेण्य कृति विवाद से बिलकुल परे रही हो, ऐसा दावा नहीं किया जा सकता। जिस कालिदास को किसी ने कभी 'पुराकवीनांगणनाप्रसंगे कनिष्ठिकाधिष्ठित कालिदासः' कहा उसी कालिदास को किसी दूसरे ने केवल उपमा का धनी, भारवि को अर्थगौरव का स्वामी, दण्डी को पदलालित्य में पटु और माघ को तीनों गुणों से युक्त बताया। कारण जो भी रहा हो, 'रामचरित मानस' की काशी के समकालीन पण्डितों द्वारा उपेक्षा और विरोध एक स्वीकृत तथ्य है। बिलकुल हाल की घटना लें, तो छायावाद के प्रति उसके समकालीनों का विरोध-भाव कितना उग्र था? प्रेमचन्द के कुछ उपन्यासों की कुछ आलोचकों ने ऐसी निन्दा की थी, जिसकी आज कल्पना भी नहीं की जा सकती। गेटे-जैसे महान् लेखक की लोकप्रियता भी सदा समान नहीं बनी रही। शेक्सपियर जिसकी गणना विश्व के मूर्धन्य लेखकों में होती है, शताब्दियों तक अनादृत रहा। एलिज़ाबेथ-कालीन जनता—सामान्य जनता, साहित्यिक नहीं—शेक्सपियर की महत्ता से निश्चय ही अवगत थी, पर यह स्पष्ट है कि वह शेक्सपियर की कला की प्रशंसा आज की अपेक्षा सर्वथा भिन्न कारणों से करती थी। चित्रकला के क्षेत्र से उदाहरण चुना जाए तो चित्रकार ब्लेशेन (Blechen) की बेट्टिंड फान आर्निन्त्स कृत प्रशंसात्मक आलोचना पढ़कर कोई भी चकित हुए बिना नहीं रह सकता, कि आज का आलोचक जिन गुणों के लिए उपर्युक्त चित्रकार को महान् मानता है, उनकी चर्चा वहाँ गौण रूप में ही हुई है।[3] चेस्टर-

१. सोशियालाजी ऑफ लिटरेरी टेस्ट, प्रथम परिच्छेद।
२. गिरीश चन्द्र त्रिपाठी।
३. सोशियालाजी ऑफ लिटरेरी टेस्ट, प्रथम परिच्छेद।

फिल्ड-जैसे परिष्कृत रुचिसम्पन्न व्यक्ति के एक पुत्र ने उनसे पूछा कि क्या वह रेम्ब्रान्ट के कुछ चित्र सस्ते मूल्य पर खरीद ले, तो उन्होंने उत्तर दिया—"नहीं यह समझदारी का काम नहीं होगा, क्योंकि उसने व्यंग चित्रों के अतिरिक्त अन्य कुछ चित्रित नहीं किया है"—और आज रेम्ब्रान्ट विश्व का एक श्रेष्ठ चित्रकार माना जाता है।[1] इन उदाहरणों से यह प्रमाणित होता है कि किसी विशेष काल में किसी विशेष रुचि का प्रभुत्व रहता है। ललित कलाओं की, विशेषकर चित्रकला की, बदलती हुई शैलियों में यह तथ्य अत्यन्त सरल रूप में दीख पड़ता है, पर साहित्यिक शैलियों के परिवर्तन में भी, कम स्पष्ट होने के बावजूद, रुचि का महत्त्वपूर्ण स्थान होता है।

पाश्चात्य साहित्य के इतिहास में लेखकों पर उनके पाठकों या श्रोताओं की रुचि के प्रभाव के कुछ बड़े ही मनोरंजक उदाहरण प्राप्त होते हैं। कवियों की रचनाओं में आश्रयदाता प्रत्यक्ष रूप से अपने सुझावों द्वारा कोई परिवर्तन कराते हों, इसके उदाहरण प्राचीन संस्कृत या हिन्दी साहित्य में उपलब्ध नहीं होते—कम-से-कम मुझे कोई ऐसा उदाहरण नहीं मिला है—पर यूरोपीय साहित्य में ऐसे प्रत्यक्ष हस्तक्षेपों के अनेक प्रमाण प्राप्त होते हैं। उदाहरणार्थ अलेक्जांडर पोप अठारहवीं शताब्दि में इंगलैण्ड का एक मूर्धन्य कवि माना जाता था। पोप ने जब अपनी प्रमुख कृति, होमर का अनुवाद, प्रस्तुत किया तो उसे उन्होंने सर्वप्रथम अपने आश्रयदाता लार्ड हेलिफॉक्स को सुनाया। सेमुअल जॉन्सन का कहना है कि लार्ड महाशय बीच-बीच में पोप को टोकते थे और अपने सुझाव देते थे। यूरोप में शताब्दियों तक कलाकार बिना किसी आपत्ति के इस प्रकार के हस्तक्षेप सहते रहे। चॉसर का प्रसिद्ध शिष्य लिडगेट अपने आश्रयदाता ड्यूक हम्फ्रे ऑफ ग्लोसेस्टर द्वारा अपनी पाण्डुलिपि के शुद्ध किये जाने को सर्वथा स्वाभाविक मानता था। स्पेंसर के सम्बन्ध में भी, जो शेक्सपियर का समकालीन था, ऐसी ही बात कही जाती है।[2] फ्रान्स में तो अठारहवीं शताब्दि तक ऐसी स्थिति विद्यमान थी। वोल्तेर एक विशेष वर्ग का लेखक था। उसने अपना 'इदिपू' नामक ग्रंथ डचेस ऑफ़ मेन को सुनाया और उस वर्ग में की गई आलोचना तथा उनकी सलाह को ध्यान से सुना।[3] इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि प्राक् आधुनिक युग के यूरोपीय साहित्य पर तत्कालीन पाठकों का, जो अक्सर लेखक के आश्रयदाता भी होते थे, कितना प्रबल और प्रत्यक्ष प्रभाव था। स्पेंसर ने अपनी महत्तम कृति 'दि फेयरी क्वीन' के सम्बन्ध में लिखा है कि इसका उद्देश्य एक सज्जन या अभिजात वर्गीय व्यक्ति को सद्गुण और सभ्य अनुशासन की शिक्षा देना है।[4]

अंग्रेजी साहित्य पर अभिजात वर्ग की रुचि और सामाजिक शक्ति का प्रभाव अठारहवीं शताब्दी तक दिखाई पड़ता है। उसके बाद ही वहाँ बड़े पैमाने पर वास्तविक पाठक वर्ग का विकास हुआ और इसका प्रभाव वहाँ के साहित्य पर दिखाई

---

१. सोशिआलोजी आफ लिटरेरी टेस्ट (७) प्रथम परिच्छेद।
२. अरिवत् पृ० २२।
३. सोशियालाजी आफ़ लिटरेरी टेस्ट, पृ० २२।
४. उपरिवत्

पड़ता है। इंगलैंड के साहित्यिक इतिहास का विवेचन करते हुए विद्वानों ने अठारहवीं शताब्दी के अंग्रेज़ी साहित्य में घटित परिवर्तनों का, जिनके कारण इस काल का साहित्य तत्कालीन साहित्यिक परम्परा से अलग और विशिष्ट जान पड़ता है, श्रेय उस काल के पाठक समुदाय में होनेवाले परिवर्तनों को दिया है।[1] लेस्ली स्टीफेन ने बहुत पहले 'इंगलिस लिटरेचर एण्ड सोसाइटी इन दि एटीन्थ सेंचुरी' नामक ग्रंथ में लिखा था कि पाठक-वर्ग की क्रमिक अभिवृद्धि ने तत्कालीन साहित्य के विकास को प्रभावित किया।[2] उन्होंने उपन्यास और पत्रकारिता के विकास का मुख्य कारण तत्कालीन पाठक-वर्ग में हुए परिवर्तन को ही बताया है।

यद्यपि पाठक वर्ग की रुचि के आलोक में संस्कृत और प्राचीन हिन्दी साहित्य का सांगोपांग अध्ययन अद्यावधि नहीं हुआ है, पर संस्कृत और हिन्दी साहित्येतिहासों के अवलोकन से साहित्य का पाठकों की रुचि द्वारा प्रभावित होना एक सिद्ध तथ्य के रूप में दिखाई पड़ता है है। संस्कृत साहित्य में जहाँ एक ओर वाल्मीकि, भास, अश्वघोष, कालिदास और भवभूति जैसे महान् कवि और नाटककार अपनी मार्मिक कृतियों के साथ विराजमान हैं वहाँ दूसरी तरफ़ इस साहित्य में चित्रकाव्य और प्रहेलिकाओं की भी, भरमार दिखाई पड़ती है। दण्डी, माघ, भारवि और हर्ष जैसे रससिद्ध कवियों तक ने प्रहेलिका जैसी निरर्थक वस्तु, जिसमें बौद्धिक व्यायाम के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता, लिखने में आसमान ज़मीन के कुलावे मिलाये हैं। केवल चित्रकाव्य और प्रहेलिकाओं की रचना सिखाने के लिए संस्कृत में अनेक ग्रन्थ लिखे गये हैं। जिस चित्रकाव्य और प्रहेलिका को काव्यशास्त्रियों ने अधम काव्य की संज्ञा दी, उसका प्रचलन एक विशेष युग में क्यों दिखाई पड़ता है, इसका सम्यक् उत्तर तब तक नहीं दिया जा सकता, जब तक, हम इस बात पर विचार न कर लें कि इस काव्य का श्रोता या रसिक कौन था। आचार्य हज़ारीप्रसाद द्विवेदी ने 'साहित्य का मर्म' शीर्षक व्याख्यान में इस समस्या की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करते हुए कहा था कि "जब तक हम यह नहीं जानते कि सन् ईस्वी के आरम्भ से लेकर सैकड़ों वर्ष बाद तक कवियों के सम्मान के लिए सरस्वती भवन, कामदेवायतन में विदग्ध गोष्ठियाँ बैठा करती थीं, उनमें अक्षरच्युतक, बिन्दुमती, समस्यापूर्ति आदि में सम्मानित होने वाले व्यक्ति को राजा लोग पद से सम्मानित ही नहीं करते थे, कभी-कभी उन्हें रथ में बिठाकर स्वयं खींचकर सम्मान भी दिया करते थे, तब तक इन बेकार सी बातों के लिए कवियों का प्रयत्न पागलपन-सा लगेगा।"[3]

इस बात के अनेक प्रमाण मिलते हैं कि प्राचीन काल में राजदरबारों में कवि सम्मानित होते थे। राजशेखर ने राजदरबार का जो वर्णन किया है उसमें संस्कृत प्राकृत, अपभ्रंश और पैशाची इन चारों भाषाओं के कवियों का उल्लेख आया है। राजसभा के सात अंग माने जाते थे, जिनमें कवि भी एक होता था—

१. राइज आफ़ नोवेल. पृ० ३५।
२. इंग्लिश लिटरेचर एण्ड सोसाइटी, पृ० २६।
३. साहित्य का मर्म, पृ० ७।

विद्वांसः कवयो भट्टा गायकाः परिहासकाः
इतिहासपुराणज्ञः सभा सप्तांग संयुता ।

ये कवि राजदरबारों में ही अर्थ और यश प्राप्त करने में समर्थ होते थे ।

राजसभा में कवि को अपनी कविता सुनाकर यश और अर्थ प्राप्त करना होता था । स्पष्ट है कि उस समय के कवि को अपने आश्रयदाता और उसके दरबारियों की रुचि का पूरा-पूरा ध्यान रखना पड़ता होगा । राजदरबार में छोटी-छोटी मुक्तक कविताओं की ही, जिनमें विषय की दृष्टि से प्रशस्ति और शृङ्गार तथा कला की दृष्टि से उक्तिचमत्कार की प्रधानता होती, पूछ हो सकती थी । डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में "राज-सभाओं और गोष्ठी-विहारों में जो काव्य कीर्तिशाली बना सकते थे वे चमत्कारिक उक्तियों वाली रचनाएँ ही होती थीं ।"[१] रुद्रट ने स्पष्टतः मात्राच्युतक, विन्दुमती और प्रहेलिका आदि को क्रीड़ामात्र के लिए उपयोगी[२] तथा दण्डी ने प्रहेलिका को क्रीड़ागोष्ठी विनोद का साधन[३] माना है । जिन दिनों राजदरबार कविता का एकमात्र आश्रयस्थल था, उन दिनों डा० द्विवेदी के अनुसार, नागरिक लोग बिन्दुमती और अक्षरच्युतक आदि प्रहेलिकाओं से मनोविनोद किया करते थे ।[४] उस काल के ग्रन्थों में राजसभाओं के जो वर्णन उपलब्ध होते हैं, उनसे स्पष्ट है कि दरबारों में उक्ति वैचित्र्य या कौशल-विशेष को ही सम्मान प्राप्त होता था । बाणभट्ट कृत 'कादम्बरी' में राजसभा का जो वर्णन मिलता है उससे तत्कालीन राजसभाओं के सभ्यों की रुचि का अनुमान लगाया जा सकता है । इस वर्णन के अनुसार जब राजा सभा में उपस्थित नहीं थे, तब सामन्तों में से कुछ लोग पासा खेलने के लिए कोट खींच रहे थे, कुछ लोग पासा फेंक रहे थे, कोई वीणा बजा रहा था, कुछ लोग चित्र-फलकों पर राजा की प्रतिमूर्ति आँक रहे थे, कुछ लोग काव्यालाप में मस्त थे, कुछ हँसी-दिल्लगी में मशगूल थे, कुछ लोग विन्दुमती नामक मनोविनोद में उलझे हुए थे, कुछ लोग प्रहेलिका नामक काव्य प्रकार का रस ले रहे थे, कुछ लोग राजा द्वारा निर्मित श्लोकों की चर्चा कर रहे थे, कुछ लोग जो अधिक ढीठ थे, वे राजदरबार के मनोविनोद के लिए आई हुई स्त्रियों से रसालाप में लगे हुए थे और कुछ चतुर लोग वन्दीजनों से राजा के पूर्वपुरुषों का यशोगान सुन रहे थे ।[५] इस वर्णन से तत्कालीन राजपुरुषों की रुचि का पता चलता है । ये राजपुरुष काव्य को मनोविनोद का, क्रीड़ा का एक साधन समझते थे और कविगण भी उनकी रुचि के अनुरूप, विन्दुमती, प्रहेलिका, चित्र आदि काव्यरूपों के प्रणयन में प्रवृत्त होते थे । अक्सर राजदरबारों में कवियों की परीक्षा भी हुआ करती थी । जो कवि चमत्कार-प्रधान उक्तियों की रचना में विजयी

१. साहित्य का मर्म, पृ० ८ ।
२. मात्राबिन्दुच्युतके प्रहेलिकाकारक क्रियागूढे
प्रश्नोत्तरादि चान्यत् क्रीड़ामात्रो पयोगमिदम् ।
३. क्रीड़ागोष्ठी विनोदेषु तज्ज्ञराकीर्ण मन्त्रणे ।
परकामोहने चापि सोनयोगाः प्रहेलिका ।
४. साहित्य का मर्म, पृ० ११ ।
५. साहित्य का मर्म, पृ० ११ ।

होता था उसे सम्मान और यश की प्राप्ति होती थी। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अपनी उक्त व्याख्यान-पुस्तिका में सोमेश्वर और हरिहर तथा हरिहर और मदन नामक कवियों की काव्य-प्रतियोगिताओं का मनोरंजक वर्णन किया है। ऐसी प्रतियोगिताओं में सफलता प्राप्त करने के लिए काव्य का चमत्कारप्रधान होना आवश्यक था। यही कारण है कि न केवल उत्तरकालीन संस्कृत काव्यों में वरन् तत्कालीन लक्षणग्रन्थों में भी उक्तिवैचित्र्य और वचनभंगिमा को इतना महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ था।

राजाओं और सामन्तों की रुचियों का प्रभाव केवल चित्र, प्रहेलिका और विन्दुमती जैसे काव्यरूपों तथा वचनभंगिमा और उक्तिवैचित्र्यप्रधान काव्यों पर ही दिखाई देता हो, ऐसी बात नहीं है। कालिदास, भास, भवभूति, माघ, भारवि, श्रीहर्ष आदि महान् कवि भी अपने आश्रयदाताओं तथा अभिजाति वर्ग की रुचि से प्रभावित दीख पड़ते हैं। क्या कारण है कि संस्कृत साहित्य में नायक-नायिका राजपरिवार, श्रेष्ठिवर्ग और सामन्तीय समाज से ही चुने जाते हैं? समस्त संस्कृत-साहित्य से ढूँढ़कर भी, शायद ही, कोई ऐसा काव्य निकाला जा सके जिसका नायक निम्नवर्गीय या साधारण व्यक्ति हो। वस्तुतः साहित्य जिसके लिए लिखा जाता है, वही उसका नायक होता है। राजाओं, सामन्तों और सेठों के आश्रय में जीवननिर्वाह करने वाला कवि या लेखक, उन्हें छोड़कर, किसी निम्नवर्गीय या सामान्य स्तरीय व्यक्ति को अपने काव्य का नायक बनाने का साहस ही नहीं कर सकता। यदि कवि की सहानुभूति निम्नवर्ग के साथ होती थी तो वह, अधिक-से-अधिक, गौण पात्रों के रूप में निम्न-वर्गीय पात्रों की सृष्टि करता था; पर वह कहीं भी इस बात का आभास तक न होने देता था कि उसकी सहानुभूति राजा की अपेक्षा प्रजा के प्रति, अभिजात वर्ग की अपेक्षा अन्त्यजवर्ग के प्रति, अधिक है। आश्रयदाता की रुचि अपने वर्ग की भावनाओं और विशेषताओं का चित्रण करने वाली कहानी में ही हो सकती थी, और कवि अपने आश्रयदाता के रुच्यनुरूप वैसी ही कथा का निर्माण करता था, जिसके नायक-नायिका अभिजातवर्गीय होते थे। संस्कृत साहित्य में कहीं भी सामाजिक विद्रोह की भावना का चित्रण नहीं मिलता। संस्कृत के कवि सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और धार्मिक व्यवस्था को ज्यों-का-त्यों मानकर काव्य रचना में प्रवृत्त होते हैं। इसका कारण क्या है? इस प्रश्न का उत्तर संस्कृत साहित्य के आलोचकों ने आज तक सम्यक् रूप से देने का प्रयास नहीं किया है, और यह तब तक सम्भव नहीं है, जब तक इस साहित्य के लक्ष्मीभूत श्रोता को सामने रखकर विचार न किया जाए।

निवेदन किया जा चुका है कि संस्कृत साहित्य का श्रोता और कवियों का आश्रयदाता सामन्तीय और अभिजात समाज था। सामन्तीय और अभिजात समाज में परम्परा का महत्त्व अधिक होता है, क्योंकि इसकी सारी सत्ता उत्तराधिकार पर आधारित होती है। यह वर्ग समाज में कोई परिवर्तन नहीं चाहता। संस्कृत साहित्य के रचना-काल में राजा ईश्वर का अवतार माना जाता था। भारतवर्ष की जनता इस सिद्धान्त में विश्वास करती थी कि प्रत्येक मनुष्य को अपने कर्मों का फल अवश्य भोगना पड़ता है। जन्म-जन्मान्तर तक मनुष्य को अपने कर्मफल से छुटकारा नहीं

मिल पाता। संसार में यदि वैभवशाली और समृद्ध व्यक्ति हैं तो यह समृद्धि और वैभव उनके पूर्व जन्म के पुण्यों का फल है। धनी या निर्धन होना, अच्छे या बुरे कुल में जन्म लेना पूर्वजन्म के सुकृत या दुष्कृत का परिणाम है। ऐसी स्थिति में सामाजिक विद्रोह की भावना के लिए कहाँ स्थान है? निश्चय ही यह धारणा सामन्तों के हितों के सर्वथा अनुरूप थी और कवियों तथा पुरोहितों ने साहित्य तथा धर्मग्रन्थों में इसका समर्थन और प्रचार किया। इस प्रकार संस्कृत साहित्य में विद्रोही स्वर का जो अभाव पाया जाता है उसका कारण तत्कालीन काव्यरसिकों की, जो राजसमाज या अभिजात वर्ग के होते थे, रुचि ही है।

हिन्दी साहित्य का इतिहास इस तथ्य की पुष्टि करता है कि साहित्य रचना में पाठकों या श्रोताओं की रुचि का महत्त्वपूर्ण योग होता है। समस्त प्राचीन हिन्दी साहित्य को, श्रोतृवर्ग को ध्यान में रखते हुए, हम दो धाराओं में बाँट सकते हैं। एक धारा के कवि राजदरबारों और सामन्तीय समाज से सम्बद्ध थे, जबकि दूसरी धारा के कवियों का सम्बन्ध सामान्य जनता से था। प्राचीन हिन्दी साहित्य की ये दोनों धाराएँ एक-दूसरी से सर्वथा विशिष्ट हैं, तथा समानान्तर रूप से प्रवाहित होती हैं। हिन्दी साहित्य के इतिहास की सम्यक् व्याख्या के लिए अभी तक यह दृष्टिकोण नहीं अपनाया गया है। यही कारण है कि हमारे साहित्येतिहास की अनेक गुत्थियाँ और उलझनें अब तक असमाधेय बनी हुई हैं। अब तक प्राचीन हिन्दी साहित्य को 'वीरगाथा काल' (आदिकाल), 'भक्तिकाल' और 'रीतिकाल' जैसे युगों में बाँटकर समझने की परिपाटी हिन्दी साहित्येतहासकारों में प्रचलित है। किसी शोधकर्ता ने भी पाठकों या श्रोताओं की रुचि के आलोक में इस साहित्य को जाँचने-परखने का प्रयत्न नहीं किया है। प्रस्तुत प्रसंग में हिन्दी के प्राचीन साहित्य का विश्लेषण, संक्षेपतः, इसके श्रोताओं की रुचि के प्रकाश में करने का प्रयत्न किया जा रहा है।

हिन्दी साहित्य के आदिकाल से लेकर रीतिकाल के अन्त तक वैसे कवियों की एक सुदीर्घ परम्परा है, जिन्हें राजाओं और सामन्तों का आश्रय प्राप्त था। इन कवियों द्वारा रचित काव्य का मूल स्वर उन कवियों की कविता से सर्वथा भिन्न है, जो सन्त और भक्त थे तथा जिनका राजदरबारों से कोई सम्बन्ध न था। यद्यपि आदिकाल के चारण कवियों का प्रामाणिक इतिवृत्त उपलब्ध नहीं है, पर किंवदन्तियों और परम्परा से ज्ञात होता है कि चन्दबरदायी, दलपति विजय, नरपतिनाल्ह, जगनिक भट्ट, केदार मधुकर तथा विद्यापति आदि कवियों को राजाश्रय प्राप्त था। भक्तिकाल के अधिकांश कवि सन्त और भक्ति थे, पर इस काल में दरबारी कवियों का अभाव न था। अकबर के दरबार में नरहरि, गंग, ब्रह्म, रहीम, तानसेन आदि कवि रहते थे तथा अन्य अनेक कवि अकबर द्वारा सम्मानित होते थे। इस काल के प्रसिद्ध कवि केशवदास ओरछा-नरेश इन्द्रजीतसिंह की सभा के शृङ्गार थे और जिस काल को साहित्येतिहास लेखक रीतिकाल की संज्ञा देते हैं उसके कवियों की तो मुख्य क्रीड़ाभूमि राजाओं और सामंतों का दरबार थी ही। रीतिकाल के वे सभी कवि, जिनके कारण इस काल का यह नाम पड़ा है, किसी न किसी रूप में, राजदरबारों से प्रत्यक्षतः सम्बद्ध थे। बिहारी, रस-

निधि, चिन्तामणि, कुलपति मिश्र, देव, श्रीपति, सोमनाथ, भिखारीदास, प्रतापसाहि, ग्वाल, बेनी, बन्दीजन, पद्माकर, बेनी प्रवीन, मतिराम, भूषण, बोधा आदि सभी प्रसिद्ध रीतिकालीन कवि तथा इस काल के दूसरे गौण कवि भी, विभिन्न राजाओं और सामन्तों के आश्रित थे।

आदिकाल से लेकर रीतिकाल तक के समस्त राजाश्रित कवियों की रचनाओं पर उनके आश्रयदाताओं की रुचियों का प्रत्यक्ष प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। इन कवियों द्वारा रचित अधिकांश कविताएँ उनके आश्रयदाताओं की भावनाओं द्वारा निर्देशित हैं। रीति-कवियों ने अपने आश्रयदाताओं की रुचियों के साथ अपने व्यक्तित्व को इतना एकमेक कर लिया है कि देखकर चकित रह जाना पड़ता है। विषयवस्तु की दृष्टि से विचार किया जाए तो इन कवियों ने मुख्यतः प्रशस्तियाँ, शृंगार, काव्य और नीति के पद ही लिखे हैं। थोड़ी-बहुत भक्ति भाव की कविताएँ भी इन कवियों ने लिखी हैं, पर विशुद्ध और निर्मल भक्तिभावना से युक्त कविताएँ अत्यल्प ही हैं। केवल ऐसी ही कविताओं पर आश्रयदाताओं की रुचि का प्रभाव कदाचित् नहीं है—यह भी दृढ़ता के साथ नहीं कहा जा सकता, क्योंकि भक्ति का इतना अंश तो राजाओं और सामन्तों में रहता ही था—अन्यथा इनके द्वारा रचित अन्य सभी प्रकार के काव्य इनके आश्रयदाताओं की रुचियों से प्रभावित हैं।

ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी के राजपूत राजाओं के—जिनके आश्रय में हिन्दी के आदिकालीन चारण कवियों के रहने की अनुश्रुति है—जीवन में दो ही बातों की, युद्ध और भोग-विलास की, प्रधानता होती थी। वे या तो रणांगण में अपने शत्रुओं से वीरतापूर्वक लोहा लेते थे या अन्तःपुर में अनेकानेक सुन्दरियों के साथ भोग-विलास में रत रहते थे। इन राजपूत राजाओं के आश्रित हिन्दी कवि भी, समयानुसार, कभी तो अपनी वीररसपूर्ण ओजस्विनी कविताओं से रणक्षेत्र में अपने आश्रयदाताओं का उत्साहवर्धन करते थे और कभी राजदरबार में शृंगारिक कविताओं के द्वारा राजा के तथा उसके दरबार में उपस्थित सामन्तों का मनोरंजन किया करते थे। ये कवि अपने आश्रयदाताओं की, अतिशयोक्तिपूर्ण शैली में झूठ-सच प्रशंसा करना भी अपना कर्तव्य समझते थे। इन कवियों ने—रीतिकालीन दरबारी कवियों के विषय में यह कथन और भी यथार्थ है—अपने आश्रयदाताओं की वीरता और दानशीलता का ऐसा अमर्यादित और मिथ्या वर्णन किया है, जो न केवल चापलूसी की, वरन् अपरिष्कृत रुचि की, यहाँ तक कि बुद्धि की सीमा का भी अतिक्रमण कर जाता है। अपने चरित-नायकों की शक्ति और वैभव का चित्र खींचते समय इन कवियों के सामने केवल दृश्यमान जगत् ही नहीं रहता, वरन् वे मानवेतर और देवलोक में भी विचरण करने लगते हैं। उदाहरणार्थ, उनके आश्रयदाता की इच्छा पर प्रकृति की सभी शक्तियाँ नाचती दीख पड़ती हैं। सूर्य और चन्द्र इनकी इच्छा पर अपनी यात्रा तय करते हैं। सारा प्राकृतिक और दैवी जगत् उनकी आज्ञा का वशीभूत होता है, स्वयं भाग्य उनकी इच्छा का अनुवर्ती होता है। इन कवियों के आश्रयदाता जब अपनी सेनाओं के साथ युद्ध के लिए प्रस्थान करते हैं, तो पृथ्वी को धारण करने वाले कच्छप, दिग्पाल और

शेषनाग व्याकुल हो जाते हैं। प्रशस्ति काव्य की यह परम्परा आदिकाल से लेकर रीतिकाल तक अबाध गति से प्रवाहित होती रही है। दरबारी कवियों में कदाचित् कोई भी ऐसा कवि नहीं होगा, जिसने प्रशस्ति काव्य न लिखा हो। अपने आश्रयदाताओं की प्रशस्ति लिखकर ये कवि बड़ी सरलता से अर्थोपार्जन कर लेते थे।

प्रशस्ति काव्य के साथ-साथ शृंगाररस की कविताएँ भी आदिकालीन दरबारी कवियों ने लिखीं। युद्धक्षेत्र से लौटे तथा भोग-विलास में रत आश्रयदाता को प्रसन्न करने के लिए शृंगारिक उक्तियाँ ही अधिक कारगर हो सकती थीं। अतः 'पृथ्वीराजरासो' जैसे ग्रन्थ में भी शृंगारचित्रपा के अनेक स्थल हैं। विद्यापति के, जो आदिकाल के एक प्रमुख कवि हैं, अधिकांश पद शृंगारिक हैं और वे उनके आश्रयदाता शिवसिंह की रुचि को ध्यान से रखकर लिखे गए हैं। विद्यापति अपने इन शृंगारिक पदों के द्वारा, जिनमें नखशिख सौन्दर्य, सद्यःस्नाता, विविध प्रकार की नायिकाओं और रतिक्रियाओं का वर्णन है, अपने आश्रयदाता का चित्तविनोदन करते थे। इन पदों में भोग-विलासरत आश्रयदाता की रुचि ही व्यक्त हुई है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि इस दृष्टिकोण से विचार न करने के कारण ही शुक्लजी को विद्यापति को वीरगाथाकाल की सामान्य धारा से भिन्न फुटकल कवियों की कोटि में रखना पड़ा था।

हिन्दी साहित्य के भक्तियुग में राजाश्रयप्राप्त कवियों का पता अधिक संख्या में नहीं चलता। पर जिन थोड़े से कवियों का साहित्य उपलब्ध है—विशेषकर अकबर के राजाश्रय में पलने वाले नरहरि, गंग, ब्रह्म, रहीम, तानसेन, टोडरमल आदि कवियों का या ओरछा-नरेश इन्द्रजीतसिंह के राजकवि केशवदास का—उसके अवलोकन से स्पष्ट हो जाता है कि कवि अपने आश्रयदाता की रुचि के प्रभाव से मुक्त नहीं हो सकता। ये कवि अपने युग की भक्तिभावना से इतने असंपृक्त हैं कि सामान्य प्रवृत्तियों के आधार पर साहित्यिक युग का नामकरण करने वालों के लिए एक समस्या खड़ी हो जाती है। इन कवियों द्वारा रचित काव्य के मुख्य विषय राजाओं और सामन्तों की प्रशंसा, शृंगार और नीति हैं। अकबर के दरबारी कवियों तथा केशवदास द्वारा रचित काव्य में आमुष्मिकता की नहीं, ऐहिकता की ही प्रधानता है, जबकि उस काल का हिन्दी साहित्य भक्ति का एक लहराता हुआ समुद्र है। नरहरि, गंग, और केशव ने उन सभी बादशाहों, शाहजादों तथा हिन्दू राजाओं की अतिशयोक्तिपूर्ण प्रशंसा की है जिनसे उन्हें अर्थ या सम्मान की प्राप्ति हुई थी। नरहरि, ब्रह्म तथा केशव ने नायिकाओं के नखशिख-सौन्दर्य तथा उनके हाव-भाव आदि का कलात्मक वर्णन किया है। नायिकाभेद तथा संयोगशृंगार के वर्णन में इन कवियों की सर्वाधिक रुचि दिखाई पड़ती है। राधाकृष्ण के नाम पर भी ये कवि सम्भोग शृंगार का ही उत्तेजक रूप प्रस्तुत करते हैं। नरहरि द्वारा वर्णित राधाकृष्ण की संयोगक्रीड़ा में अश्लीलता अपनी पराकाष्ठा पर है। गंग की रचनाओं में भी संयोग शृंगार-सम्बन्धी कवित्त और सवैये ही अधिक संख्या में उपलब्ध होते हैं। इन कवियों ने कामशास्त्र और संस्कृत के अलंकारशास्त्र के आधार पर संयोग, वियोग तथा मानादि का भेदोपभेद सहित वर्णन किया है। रहीम ने अपनी 'नगर शोभा' नामक रचना में विविध जाति की स्त्रियों का

सजीव वर्णन किया है। डॉ० सरयूप्रसाद अग्रवाल के अनुसार, "सम्भव है अकबर द्वारा आयोजित मीना बाजार में एकत्र सभी वर्ग और विविध पेशों की स्त्रियों को देखकर रहीम को इस रचना की प्रेरणा मिली हो।"[1] सम्भव है, रहीम दरबार में इन कविताओं का पाठ बादशाह तथा अन्य राजपुरुषों के मनोरंजनार्थ करते हों। स्पष्ट है कि इन कविताओं के मूल में आश्रयदाता की रुचि कार्यशील है। इतिहास से यह प्रमाणित होता है कि अकबर एक विलासी और रसिक सम्राट् था, यों अवसर आने पर वह अपनी वीरता और बुद्धि का भी अचूक प्रमाण देता था। निश्चय ही उसके दरबार के कवियों ने उसकी रुचि के अनुरूप शृंगारिक पदों की रचना की होगी। इन्द्रजीतसिंह भी रसिक राजा थे, तथा उनके मनोरंजन के लिए केशवदास ने भी शृंगार-प्रधान छन्द लिखे थे।

साहित्यरचना में पाठकों या उसके श्रोताओं की रुचि का महत्त्वपूर्ण हाथ होता है, इस स्थापना की पुष्टि हिन्दी के रीतिकालीन साहित्य से जितनी स्पष्टतापूर्वक होती है, उतनी शायद ही अन्य किसी उदाहरण से हो। इस साहित्य का अधिकांश राज प्रशस्तियों और शृंगारिक वर्णनों से भरा हुआ है। शृंगार के जितने भी रूप और भेद कामशास्त्र में पाये जाते हैं—नायिकाओं के प्रकार, नखशिख सौन्दर्य, हावभाव, नाज़-नखरे, दूतीत्व, मिलनोपाय, नायक-नायिका मिलन, आलिंगन, चुम्बन, नखक्षत, दन्तक्षत, संवेशन, प्रहरण, सीत्कार, पुरुषायित, पुरुषोपसृत औपरिष्टक, प्रणय, कलह, मान, रति, विपरीत रति, रति क्लान्ति आदि—उन सबका रीतिकालीन काव्य में निस्संकोच वर्णन उपलब्ध होता है। शृंगार के जितने पक्षों और रूपों का वर्णन रीति-काल के कवियों ने किया है, वह अन्यत्र नहीं मिल सकता। इस साहित्य को देखने से कभी-कभी तो ऐसा लगता है, जैसे कामशास्त्र में वर्णित रति-सम्बन्धी विवरणों को ही काव्यात्मक विस्तार दे दिया गया है।

रीतिकालीन काव्य में उपलब्ध असंतुलित शृंगार-बाहुल्य और उक्तिचमत्कार की प्रचुरता को देखकर जिज्ञासु पाठकों के मन में अनेक प्रश्न उठते हैं। क्यों इस साहित्य में जीवन की संतुलित दृष्टि का अभाव है? शृंगार चित्रण और उक्तिचमत्कार के प्रति इस काल के कवियों की असामान्य रुझान का कारण क्या है? क्यों इन कवियों की दृष्टि नारी के पिंड सौंदर्य में ही उलझकर रह जाती है, उसकी आत्मा में प्रवेश नहीं करती? क्या कारण है कि इस काल के कवि काव्यागों के लक्षणनिरूपण में प्रवृत्त होते हैं? इन प्रश्नों के जो उत्तर हिंदी के इतिहास तथा शोधग्रंथों में दिये गए हैं, वे अपर्याप्त हैं।

मुगल शासन के अंतिम दिनों में हिंदी भाषी क्षेत्र में एक कोने से लेकर दूसरे कोने तक अराजकता, अव्यवस्था और हाहाकार मचा हुआ था। पर तत्कालीन साहित्य में इसकी झलक भी नहीं मिलती। रीतिकालीन साहित्य की इस प्रवृत्ति का समुचित विश्लेषण तत्कालीन आश्रयदाताओं की रुचियों के आलोक में ही किया जा सकता है।

विचारणीय प्रश्न है कि रीतिकाल के स्रोता अथवा आश्रयदाता कौन लोग

१. अकबरी दरबार के कवि, पृ० १७२।

थे ? यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि अकबर के बाद मुगल बादशाहों ने हिंदी कवियों को राजाश्रय और सम्मान नहीं दिया। रीतिकालीन कवियों के आश्रयदाता मुगल-बादशाह नहीं, वरन् देश में यत्रतत्र फैले छोटे-मोटे राजे, जागीरदार और सेठ-साहूकार थे। ये राजा, जागीरदार और सेठ-सामंत मुगल दरबार के अनुकरण पर अपने-अपने दरबारों को अलंकृत करने का प्रयत्न करते थे और इसके लिए उनमें होड़-सी लगी रहती थी। अकबर के ही समय से इनके दरबारों में वैभव, विलासिता और कलाप्रेम की परंपरा चली आ रही थी। वे सामंत चुपचाप मुगल बादशाओं को कर देते और उन्हें अप्रसन्न होने का मौका नहीं देते थे। जबतक मुगल बादशाह शक्तिशाली बने रहे, ये सामंत युद्ध-विग्रह की चिंताओं से प्रायः मुक्त होकर भोगविलास की अनवरत साधना करते रहे। मुगल शासन के दुर्बल होने पर कभी-कभी इन्हें आपस में, और कभी-कभी बाहरी आक्रमणकारियों से युद्ध करना पड़ता था, पर अधिकतर सामंत, जिनके दरबार में रीतिकालीन कविता फलफूल रही थी, विजयी शक्तियों की अधीनता स्वीकार कर भोगविलास का जीवन व्यतीत करते थे। लगता है, बाहरी अव्यवस्था, आक्रमणकारियों के अत्याचार, बार-बार उनकी धन की माँग तथा अरक्षा की भावना से पीड़ित रीतिकालीन सामंत विलास की अमर्यादित साधना में अपनी मानसिक व्यथा को भूलने का प्रयत्न कर रहे थे।

राजाश्रित रीतिकालीन काव्य पर इन राजाओं और सामंतों की रुचियों का प्रत्यक्ष प्रभाव है। रीतिकालीन कवियों के जीवन पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि इनमें से अधिकांश समाज के निचले धरातल से आते थे। उस समय साधारण जनता का जीवन इतना कष्टमय, और सामंतों का जीवन इतना समृद्धिपूर्ण था, कि साधारण कवि भी किसी राजा या सामंत की छत्रछाया प्राप्त करना अपने जीवन का चरम लक्ष्य मानता था। यत्रतत्र प्राप्त उल्लेखों से ज्ञात होता है कि दरबारों में रीतिकालीन कवियों की स्थिति—भूषण जैसे कुछ कवियों को छोड़कर—बहुत सम्मानजनक नहीं थी। उन्हें अपने आश्रयदाताओं को सदा प्रसन्न रखने के लिए सचेष्ट रहना पड़ता था। कवि राजसभा का शृंगार था, पर कविरूप में आश्रयदाता की रुचि से भिन्न उसका कोई अस्तित्व था, इसमें सन्देह है।

ऐसी स्थिति में दरबारी कवियों से यह आशा करना कि वे सामान्य युग-भावना को वाणी दें, निरर्थक है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, रीतिकालीन सामन्तों के जीवन में उत्तरदायित्वशून्य विलासिता का प्रधान्य था। अतः इस काल के कवियों ने अपने आश्रयदाताओं की रुचि के अनुकूल बने रहने के लिए कामशास्त्र का पल्ला पकड़ा और प्रेमक्रीड़ा के विविध पक्षों और प्रसंगों का काव्यात्मक वर्णन प्रस्तुत किया। शृंगार के साथ-साथ इन आश्रयदाताओं की रुचि अलंकरण और चमत्कार की तरफ अधिक थी। कवियों ने इसका ध्यान रखा, परिणामतः उनकी में इन तत्त्वों की प्रधानता है।

रीतिकालीन राजाश्रित कवियों में कुछ ऐसे भी हैं. जैसे भूषण, लाल कवि, सूदन आदि, जिन्होंने शृंगारकाव्य की रचना नहीं की है। कुछ आलोचक इनके द्वारा

रचित काव्य को इनके व्यक्तिगत वैशिष्टय का परिणाम सिद्ध करते हैं। पर इन कवियों पर भी उनके आश्रयदाताओं की रुचि की छाप है, यह नितान्त स्पष्ट है। भूषण, गोरेलाल और सूदन तीनों के ही आश्रयदाता वीर, स्वाभिमानी तथा देश और जाति के गौरव पर मर मिटने वाले स्वतन्त्रचेता राजा थे। परिणामतः इनके आश्रित कवियों ने भी शृंगार काव्य लिखकर स्त्रैणता का परिचय नहीं दिया, वरन इन्होंने अपने आश्रयदाताओं के जीवनचरित् वर्णन के माध्यम से कायरों में भी उत्साह की लहर तरंगित कर देने वाले छप्पयों, कवित्तों तथा कड़खों की रचना की। रीतिकालीन कवियों की एक सामान्य प्रवृत्ति थी, कि उन्होंने काव्यरचना के साथ-साथ काव्यांगों के लक्षण-निरूपण का भी प्रयास किया था। व्याख्या भी आश्रयदाताओं की रुचि के प्रकाश में की जा सकती है, यह दृष्टिकोण सामने नहीं रहने के कारण हिन्दी के इतिहासकार और आलोचक रीतिकालीन कवियों के आचार्यत्व (!) को अपूर्ण, छिछला और निम्नस्तरीय सिद्ध करने का अर्थहीन प्रयास करते हैं। वस्तुतः रीतिकालीन कवियों का उद्देश्य आचार्य बनना था ही नहीं। उनके श्रोता रसिक रईस थे, जिन्हें काव्यांगों की शुष्क विवेचना में कोई रुचि नहीं थी। उनका एकमात्र उद्देश्य था, थोड़े समय में काव्य का आनन्द लेना। यह एक सिद्ध तथ्य है कि रीतिकालीन कविता का पूरा-पूरा आनन्द तब तक नहीं लिया जा सकता, जब तक पाठकों को काव्यांगों का सामान्य ज्ञान न हो। रीतिकालीन कवियों ने अपने आश्रयदाताओं को सामान्य रूप से काव्यांगों का परिचय कराने के उद्देश्य से ही लक्षणों की रचना की थी। पहले उन्हें आचार्य मान लेना और फिर उनके दोष दिखाना आलोचना का एक दूषित वृत्त है, जिसका बहिष्कार आवश्यक है।

आश्रयदाताओं की रुचि का प्रभाव रीतिकालीन काव्य के शिल्प पर भी पड़े बिना न रहा। इन कवियों ने केवल मुक्तक लिखे, प्रबन्धकाव्य लिखने की तरफ इनका ध्यान नहीं गया। इसका कारण है मुक्तक कविता का राजा और उनके दरबारियों की मनोवृत्ति के अनुकूल होना। राजदरबारों में प्रबन्ध कविताओं का पाठ सम्भव नहीं था। छोटे-छोटे उक्ति-चमत्कारपूर्ण मुक्तकों से राजा तथा उसके सामन्तों का मनःप्रसादन जितना आसानी से सम्भव था, उतना प्रबन्धकाव्यों से नहीं। आश्रयदाताओं को प्रबन्धकाव्य सुनने का अवकाश नहीं था। भोग-विलास से संकुल अपने जीवन में वे कविता के लिए कुछ ही क्षण दे सकते थे, और वह भी वैसी कविता के लिए, जो या तो उन्हें चमत्कृत कर दे या उनकी कामरुचि को सहलाने, मन को उत्तेजित करने में समर्थ हो। परिणाम यह हुआ कि दरबारी कवियों ने प्रबन्धकाव्य का स्पर्श तक न किया। केवल मुक्तकों से ही उनका उद्देश्य पूर्णतः सिद्ध हो जाता था।

तात्पर्य यह कि रीतियुगीन दरबारी काव्य अधिकांशतः अभिजातवर्गीय या सामंतीय भावनाओं और रुचियों तथा अन्नदाता के सामान्य दृष्टिकोण से निर्देशित-परिचालित है। राजाश्रित कवि संसार को सामंत के चश्मों से देखता था। सामान्य मनुष्यों की भावनाओं की चिन्ता उसे तनिक भी न थी। साहित्य-निर्माण में भी "ही हू पेज़ दि पाइपर कॉल्स दि ट्यून" का सिद्धान्त पूर्णतः लागू था। कवि अपने आश्रय-

दाताओं की पसन्दों, विश्वासों तथा रुचियों का सदा ध्यान रखने को बाध्य था। बिना ऐसा किये उसका जीवन-निर्वाह ही कठिन था, कविता करने की बात तो दूर रहे।

उक्त विवेचन से यह भ्रम उत्पन्न होने की सम्भावना है कि साहित्य के, विशेषतः रीतिकालीन साहित्य के निर्माण में केवल आश्रयदाताओं की रुचि का ही हाथ होता है। साहित्य का इतिहास इस सिद्धान्त के विरुद्ध अनेक उदाहरण प्रस्तुत करता है। यदि रीतिकालीन काव्य के निर्माण में केवल आश्रयदाताओं की रुचियों का ही हाथ होता, तो इन कवियों द्वारा रचित भक्ति के पदों का अस्तित्व सम्भव नहीं होता। इस कथन का उत्तर यह कहकर दिया जा सकता है कि, सम्भव है, आश्रयदाता शृंगारिक कविताओं के बीच-बीच में, कभी-कभी भक्तिपरक रचनाएँ भी सुनना पसन्द करते हों; पर भूषण ने क्यों काव्यांग-लक्षण लिखे, इसका उत्तर शिवाजी की रुचि के आधार पर नहीं दिया जा सकता। दूसरी तरफ बिहारी ने राजाश्रित कवि होने पर भी काव्यांगों के लक्षण नहीं लिखे, इसका उत्तर उनके आश्रयदाता जयसिंह की रुचि में नहीं ढूंढ़ा जा सकता। भूषण और मतिराम दोनों भाई थे, पर एक ने वीर रस की साधना की, दूसरे ने शृंगार की, इसकी व्याख्या भी उनके आश्रयदाताओं की रुचि के प्रकाश में नहीं की जा सकती। यदि यह कहा जाए कि दोनों के आश्रयदाता भिन्न-भिन्न रुचियों के थे, तो तत्काल प्रश्न उठता है, कि भूषण को क्या शिवाजी और छत्रसाल के अतिरिक्त दूसरा आश्रयदाता नहीं मिला? इतिहास बताता है कि भूषण आरम्भ में चित्रकूटाधिपति हृदयराम के पुत्र रुद्रराम सोलंकी के आश्रय में रहे थे। बाद में ये अपने भाई मतिराम के आश्रयदाता बूँदी-नरेश राव बुधसिंह के दरबार में भी गए थे; और पता चलता है कि ये उनसे सन्तुष्ट नहीं रह सके थे। तात्पर्य यह कि भूषण ने—लाल और सूदन के बारे में भी यही कहा जा सकता है—अपनी रुचि के अनुकूल ही अपने आश्रयदाता की खोज की थी, अन्यथा इतनी दूर दक्षिण में न जाकर उन्हें उत्तर भारत में ही कोई विलासप्रिय राजा, आश्रयदाता के रूप में, प्राप्त हो सकता था। इस प्रकार रीतिकालीन काव्य से अनेक ऐसे स्थलों का उल्लेख किया जा सकता है, जिनकी व्याख्या श्रोताओं की रुचि के आधार पर नहीं की जा सकती। निष्कर्ष यह कि साहित्य निर्माण में 'केवल पाठकों या श्रोताओं की रुचि का ही हाथ नहीं—उसका हाथ होता जरूर है और कभी-कभी अत्यन्त स्पष्ट और सर्वाधिक प्रमुख होता है—इसे प्रभावित करने वाले या अन्तिम रूप देने वाले और भी अनेक हेतु हैं—जैसे राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक और आर्थिक परिवर्तन, साथ ही व्यक्तिगत प्रतिभा और रुचि, जिसके बारे में कोई भविष्यवाणी नहीं की जा सकती।

पाठकों या श्रोताओं की रुचि के प्रकाश में प्राचीन हिन्दी साहित्य का अवलोकन करने पर जो एक अत्यन्त स्पष्ट तथ्य हमारे सामने आता है, वह यह कि राजाश्रय में रचित काव्य पर उसके श्रोताओं की रुचि का प्रभाव जितना स्पष्ट है, उतना राजाश्रय से बाहर रचित साहित्य पर नहीं। राजाश्रय मुक्त कवियों में सभी सन्त सूफी और सगुण भक्त कवि आ जाते हैं। इन कवियों का सीधा सम्पर्क भारतीय जनसमाज से था। ये सन्त और भक्त कवि—वैराग्य और अपरिग्रह का जीवन व्यतीत

करते थे, तथा अपने काव्यामृत का पान सबको समान भाव से कराया करते थे। इन भक्त और सन्त कवियों के द्वारा रचित काव्य राजाश्रित कवियों के काव्य से नितान्त भिन्न है। राजाश्रित कवियों की तरह ये कवि अपने राजाओं की प्रशंसा में प्रशस्ति काव्य की रचना नहीं करते। भक्त कवियों ने तो स्पष्ट रूप से प्राकृतजन का गुणगान करने वालों की निन्दा की है। हिन्दी के सन्त और भक्त कवियों के श्रोता, एक तरफ तो, सामान्य जन थे, और दूसरी तरफ ये कवि—कबीर आदि सन्तों को छोड़कर—पण्डितों या काव्यरसिकों को भी अपना उद्दिष्ट श्रोता मानते थे। परिणामत: भक्तिकालीन साहित्य पर तत्कालीन सामान्य हिन्दू जनता और काव्यरसिकों की रुचि का स्पष्ट प्रभाव है।[1]

समासत: प्राचीन हिन्दी साहित्य पर उसके पाठकों या श्रोताओं का प्रभाव निर्विवाद है। पाठकों की रुचि या युग-भावना की दृष्टि से विचार करने पर प्राचीन साहित्य और आधुनिक साहित्य में एक महान् अन्तर दिखाई पड़ता है! प्राचीन काव्य की समाजशास्त्रीय भूमि अधिकांशत: आसानी से पहचानी जा सकती है। कारण यह है कि उन दिनों काव्य के पाठक या श्रोता अपेक्षाकृत कम थे तथा मुद्रण यन्त्र के अभाव में साहित्योत्पादन की मात्रा और प्रकार भी सीमित थे। लेखक और उसके पाठक के सम्बन्ध स्पष्ट और सरल थे। कवि या तो अपने श्रोता का प्रत्यक्षत: आश्रित था या निष्काम जीवन व्यतीत करनेवाला महात्मा। आज की तरह लेखक और उसके पाठक का सम्बन्ध अप्रत्यक्ष और जटिल नहीं हो पाया था। फलत: प्राचीन संस्कृत और हिन्दी साहित्य में, सन्त साहित्य को छोड़कर, सामाजिक प्रतिष्ठा-प्राप्त विशेष लोगों की भावना और रुचि का प्रभाव स्पष्टत: दृष्टिगोचर होता है। यदि वानस्पतिक जगत् से रूपक लेकर हम अपनी बात स्पष्ट करें, तो कहा जा सकता है कि प्राचीन हिन्दी साहित्य अधिकांशत: राजाओं और अभिजात समाज रूपी वृक्ष की मुख्य डाल पर विकसित होने वाला एक प्रकार का प्यारा परजीवी पादप, दूसरे शब्दों में, राजाओं और अभिजात वर्ग की रुचि का इतिहास है। पर आधुनिक काल में यह स्थिति बिलकुल ही नहीं रह गयी है। जैसे-जैसे समय व्यतीत होता गया है, पाठकों तथा पुस्तकों की संख्या में वैसे-वैसे वृद्धि होती गयी है और तदनुसार पाठकों तथा लेखकों के सम्बन्ध भी जटिल होते गये हैं। प्राचीन काल में केवल कुछ ही केन्द्र थे, जहाँ से साहित्य का पोषण होता था, पर आज साहित्य के पोषण के अनेक केन्द्र हैं, जैसे प्रकाशन गृह, साहित्यिक और शिक्षण संस्थाएँ, सरकार, विभिन्न रुचियों वाला जनसमूह तथा रेडियो आदि। आधुनिक काल में प्रकाशन गृह, साहित्यिक पक्ष के मन्दिर के द्वारपण्डित बन गये हैं, जिनकी कुछ निश्चित शर्तों को माने बिना इसमें प्रवेश करना किसी भी साहित्यिकार के लिए सम्भव नहीं।

ऐतिहासिक दृष्टि से विचार किया जाए तो प्रकाशक तब सामने आता दीख

१. इस प्रभाव का सविस्तार विश्लेषण-विवेचन प्रस्तुत पंक्तियों के लेखक ने अपने शोध-प्रवन्ध "हिन्दी कथा साहित्य और उसके विकास पर पाठकों की रुचि का प्रभाव" में किया है। स्थानाभाव के कारण उसमें से कुछ यहाँ देना सम्भव नहीं है।

पड़ता है—हिन्दी में प्रमुख रूप से उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में—प्रा आश्रयदाता अन्तर्धान हो जाता है। बिलकुल आरम्भ में लेखक ही अपनी पुस्तकों के प्रकाशक भी थे, या प्रकाशकों को भी लेखक बनना पड़ता था, पर धीरे-धीरे प्रकाशन एक व्यवसाय के रूप में विकसित होता गया और आज तो प्रकाशन संस्थाएँ साहि त्यिक रुचि को प्रभावित करने वाला एक महत्त्वपूर्ण हेतु हो गयी हैं। अनेक आधुनिक प्रकाशन संस्थाएँ आज व्यावसायिक ढंग पर काम करती हैं और उनके स्वामी की व्यक्तिगत रुचि नामहीन पाठकों की, जिनमें स्त्री-पुरुष सभी सम्मिलित हैं, माँग पर बनती है। आज के इस प्रकाशन युग में लेखक प्रकाशकों और पाठकों के दुहरे शासन में जीवन निर्वाह करता है, पर प्रकाशक भी, सफलता के लिए, पाठकों का ही मुखा पेक्षी होता है, और इस प्रकार, पाठक समूह ही अन्तिम रूप से लेखक के जीविका निर्वाह का स्रोत होता है। प्रकाशक एक प्रकार के मध्यस्थ का काम करता है। प्रश्न है, आधुनिक लेखक अपने इस नये आश्रयदाता की, जो एक व्यक्ति या छोटा-सा समूह न होकर अनेक प्रकार के बौद्धिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, राजनैतिक तथा धार्मिक स्तरों और विभिन्न अवस्थाओं वाले पाठकों का समुदाय है, रुचि का ध्यान किस सीमा तक रखे। प्राचीन काल के लेखकों के सामने यह समस्या नहीं थी साक्षरों के समूहोत्पादन के परिणामस्वरूप आज अपरिष्कृत पाठकों की संख्या प्राचीन काल की अपेक्षा कई गुनी वृद्धि हो गयी है। जो लेखक इन अपरिष्कृत रुचि के साक्षर-मात्र पाठकों की रुचि का ध्यान रखकर काव्य-प्रणयन करता है, उसे आर्थिक सफलता प्राप्त होती है; पर जो लेखक इन पाठकों की रुचि की उपेक्षा कर परिष्कृत रुचि के अल्पसंख्यक पाठकों को ही लक्ष्य करके लिखता है, उसे आर्थिक सफलता नहीं मिलती।

इन प्रमाणों के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि काव्य-रचना की प्रक्रिया में पाठकों और आश्रयदाताओं की—समाजशास्त्रीय भूमि की— उपेक्षा नहीं की जा सकती। निस्संदेह पाठकों और आश्रयदाताओं की रुचि कला का निर्माण नहीं कर सकती। गोबर से गुलाब का फूल नहीं उगाया जा सकता, पर इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि गुलाब के विकास और उसमें सुन्दर फूल लगने के लिए गोबर की खा आवश्यक है। अरस्तू का कहना था कि कीचड़ सर्पमीन की सृष्टि नहीं करता, पर यह कहने में कोई बाधा नहीं है कि यदि कीचड़ नहीं रहे तो सर्पमीन भी नहीं रह सकता। साहित्य निर्माण के क्षेत्र में जो परिवर्तनशीलता दिखाई पड़ती है, वह निश्चित दिशा में होती है, और पाठकों तथा आश्रयदाताओं की रुचि एवं अन्य समाज शास्त्रीय हेतु उनके मूल में होते हैं।

साहित्य-निर्माण पर पाठकों की रुचि या युग-भावना का प्रभाव किस सीमा तक पड़ता है, यह एक विचारणीय प्रश्न है। किसी काल की काव्य-शैली कहाँ तक उसकी निजी आवश्यकता है, और कहाँ तक कलाकार द्वारा प्रदत्त, इस प्रश्न का उत्तर देना बड़ा कठिन है, यद्यपि इस प्रश्न का उत्तर जितने सामान्य रूप से अक्सर दिया जाता है, उतने सामान्य ढंग से शायद ही किसी अन्य प्रश्न का उत्तर दिया जाता हो

कोई कहता है, काव्य समसामयिक अनुभूति की सुन्दरतम अभिव्यक्ति है; कोई उत्तर देता है, साहित्य समाज का दर्पण है; कोई बताता है, साहित्य में युग के विचारों, स्वप्नों और भावों को वाणी मिलती है। पर श्रेष्ठ साहित्य तद्युगीन भावनाओं और रुचियों से इतने सीधे रूप में निर्देशित नहीं होता, जितना उपर्युक्त वाक्यों से ध्वनित होता हैं। निम्न-कोटि का, या अधिक-से-अधिक मध्यम कोटि का साहित्य पाठकों की रुचि या युग-भावना से प्रत्यक्षतः प्रभावित होता है, पर श्रेष्ठ साहित्य पर पाठकों की रुचि का प्रभाव अप्रत्यक्ष और बड़प्पन दुरभिज्ञेय होता है। किसी वस्तु या वस्तुओं के प्रति पाठकों का दृष्टिकोण, उनके नैतिक और सामाजिक मूल्य तथा उनकी भावनाएँ और रुचियाँ कलाकार की तीव्र संवेदना-सम्पन्न इन्द्रियों द्वारा गृहीत होकर ही कला-कृति की प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति में प्रविष्ट होती हैं।

इस प्रसंग में एक बात विशेष रूप से उल्लेखनीय है। वह यह कि सामान्य युग-भावना या जनरुचि जैसी किसी वस्तु का अस्तित्व नहीं होता। इसके स्थान पर यह कहना अधिक युक्तिसंगत है कि किसी काल में युग-भावनाओं और रुचियों की अनेक मालाएँ विद्यमान होती है। इतना अवश्य होता है कि किसी काल विशेष में कोई एक भावना या रुचि प्रमुख होती हैं। सामान्य लेखक इसी प्रमुख रुचि-धारा का अनुगमन करते हैं, पर प्रतिभाशाली लेखक प्रायः युग की प्रमुख रुचि या भावना की परवाह न कर जन-मानस में अन्तर्धाराओं के रूप में प्रवाहित भावनाओं और रुचियों को नवीन भाषा और नवीन अर्थ देने का प्रयास करते हैं। अतः युग-भावना और रुचि के दृष्टिकोण से साहित्य की परीक्षा करते समय यह सर्वथा आवश्यक है कि हम जीवन और समाज के सम्बन्ध में विभिन्न आदर्श रखने वाले विभिन्न वर्गों को ध्यान में रखें। इन वर्गों में से किस वर्ग की भावना और रुचि से किसी काल की प्रमुख धारा अत्यन्त घनिष्ठ रूप से क्यों संबद्ध है, इस प्रश्न का उत्तर अनेक परिस्थितियों पर निर्भर करता है, और आलोचक के लिए इन परिस्थितियों को ध्यान में रखना अत्यावश्यक है।

तात्त्विक प्रश्न यह है कि क्या कोई कलाकार अपने पाठक या आश्रयदाता की रुचि का अनुगमन करने में अपनी वैयक्तिकता का बलिदान कर देता है? यदि कोई कलाकार ऐसा करता है, तो वह धन चाहे जितना अर्जित कर ले, महान् कलाकार नहीं हो सकता। रीतिकालीन दरबारी कवियों ने अपने आश्रयदाताओं की रुचि का अन्ध अनुकरण किया है, इस कारण प्रतिभा का अभाव न होने पर भी वे महान कवि नहीं हो पाये।

साहित्येतिहास के सूक्ष्म अवलोकन से ज्ञात होता है कि जहाँ अधिकांश लेखक अपने समय की भावधारा और रुचि का अनुगमन करते हैं, वहाँ प्रत्येक युग में कुछ ऐसे भी लेखक होते हैं जो सम-सामयिक युग-भावना का थोड़ा-बहुत ही ध्यान रखकर, और कभी-कभी उसकी बिलकुल उपेक्षा करके भी, साहित्य-सृजन में प्रवृत्त होते हैं; और अपने युग की कटु उपेक्षा सहकर भी वे अन्ततः एक नवीन रुचि के निर्माण में सफल होते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि इस प्रकार के प्रतिभाशाली लेखकों की, जो अपने

युग की प्रमुख रुचि की परवाह नहीं करते, स्थिति सुविधाजनक नहीं होती। साहित्य का इतिहास ऐसे अनेक उदाहरणों से भरा हुआ है, जिनमें कलाकार को अपने समय की विद्यमान रुचि से घोर संघर्ष करना पड़ा है। अंगरेजी के प्रसिद्ध रूमानी कवि वर्ड्सवर्थ की कविताएँ जब पहले-पहल प्रकाशित हुईं तो जनरुचि उनके नितान्त प्रतिकूल थी। सन् १७९८ ई० में विलियम वर्ड्सवर्थ और सैमुअल टेलर कॉलरिज लिखित 'लिरिकल बैलेड्स' प्रकाशित हुआ। जोसेफ कोटले (Joseph Kottle) नामक प्रकाशक ने, लेखकों को तीन गिनी देकर, यह पुस्तक प्रकाशित की थी। पुस्तक की ५०० प्रतियाँ छपीं, पर बहुत कम बिक पाईं। सम-सामयिक पत्र-पत्रिकाओं ने इन कविताओं का तिरस्कारपूर्ण उपहास किया। कुछ दिनों बाद कोटले ने प्रकाशन व्यवसाय छोड़ दिया और उक्त पुस्तक का कॉपीराइट् लौंगमैन कम्पनी को बेच दिया। 'लिरिकल बैलेड' के कॉपीराट का मूल्य आँका गया 'शून्य'। कोटले ने सुझाव दिया कि कॉपीराइट वर्ड्सवर्थ को लौटा दी जाय और श्री लौंगमैन राज़ी हो गए। जिस कविता को इन युवक कवियों ने इतने मनोयोग से लिखा था, उसे कोई भी पढ़ना नहीं चाहता था।[१] पर वर्ड्सवर्थ को अपने ऊपर दृढ़ विश्वास था उसने उक्त पुस्तक का दूसरा संस्करण तैयार किया जो १८०० ई० में प्रकाशित हुआ। तत्कालीन आलोचकों ने इस संस्करण की भी घोर निन्दा की। समीक्षकों ने गालियों की बौछार की। साहित्यिक संस्थाओं ने इन कविताओं की असंगतियाँ दिखाने में आकाश-पाताल एक कर दिया। उस समय के बैठकखानों का यह एक प्रिय मनोविनोद था कि कौन इन कविताओं के सम्बन्ध में सबसे ज्यादा विनोदपूर्ण चुटकी लेता है।[२] वर्ड्सवर्थ के, अपनी समसामयिक रुचि से, इस संघर्ष की कहानी बड़ी लम्बी है। लगभग ३० वर्षों तक अनेक निराशाओं के बावजूद वर्ड्सवर्थ शनैः शनैः, धैर्यपूर्वक, अपने लिए पाठक तैयार करता रहा, एक नवीन काव्य-रुचि का निर्णाण करता रहा, १८३० से १८३७ के बीच वर्ड्सवर्थ के पाठकों में, साथ-ही-साथ उसकी कविता की लोकप्रियता में, अमित वृद्धि हुई। १८३९ ई० में वर्ड्सवर्थ की लोकप्रियता की चरमसीमा भी पहुँच गई, जब ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय ने अन्य व्यक्तियों के साथ उसे डॉक्टरेट की उपाधि प्रदान की। इस प्रकार वर्ड्सवर्थ अन्ततः एक नवीन रुचि के निर्माण में सफल रहा।[३]

वर्ड्सवर्थ की मान्यता है कि प्रत्येक कवि रुचि विशेष का निर्माण करता है, जिसके द्वारा भविष्य में उसका मूल्यांकन होगा। इस वाक्य की सार्थकता इस बात से मालूम पड़ती है कि वर्ड्सवर्थ की कविताओं ने अँगरेजी कविता की धारा ही बदल दी। १८वीं शताब्दी में इंगलैंड के कवि भद्र-समाज मनुष्य का—मैन इन सोसाइटी का अधिक चित्रण करते थे। पर वर्ड्सवर्थ, शैली, कीट्स टेनीसन आदि कवियों ने प्रकृति को अपनी भावनाओं का चित्रागार बनाया। वर्ड्सवर्थ ने 'कुक्कू' और 'डैफो-

१. दि इंगलिश मैन एण्ड हिज बुक्स (४) पृष्ठ ३८।
२. उपरिवत् (४); पृ० ४४।
३. दि इंगलिश मैन एण्ड हिज बुक्स (४) पृ० ५६-५७।

डिल्स' जैसी, शैली ने 'स्काइलार्क' जैसी और कीट्स ने 'ओड टू नाईटिंगेल' जैसी कविताएँ लिखीं। फिर तो प्रकृति-विषयक कविताओं की धारा ही बह चली। टेनीसन और उसके समानधर्मा अन्य कवियों ने अन्वीक्षण-यन्त्र लेकर फूल की एक-एक पंखड़ी को देखा। फिर तो फूल की चर्चा कविता की प्रधान वस्तु हो गई। वर्ड्सवर्थ ने प्रकृति में लोगों की रुचि उत्पन्न की। उसने प्राकृतिक सौन्दर्य को देखा और उसका लोगों पर इतना प्रभाव पड़ा कि लोगों में प्रकृति-निरीक्षण की रुचि पैदा हो गई।

वर्ड्सवर्थ ने पाठकों में कविता की जो नई रुचि उत्पन्न की उसे जार्जियन कवियों ने—रूपर्ट ब्रूक, वाल्टर डी ला मेयर, डब्ल्यू० एच० डेविस आदि ने—भी अपनी चाँद, इन्द्रधनुष आदि मनोहर प्राकृतिक वस्तुओं पर लिखित कविताओं द्वारा पल्लवित-पुष्पित किया। वर्ड्सवर्थ के ढंग की कविताएँ लगभग १५० वर्षों तक लिखी जाती रहीं। अन्तिम पचास वर्षों से परिवर्तन की चाह थी, जिसे टी० एस० इलियट ने सम्भव बनाया। इलियट ने उन वस्तुओं की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट किया जिन्हें अकाव्यात्मक कहा जाता था। उसने साधारण, काव्यरहित या गन्दी वस्तुओं के प्रति भी लोगों में रुचि पैदा की। टी० एस० इलियट की नई कविता का समकालीन कवियों पर ऐसा असर पड़ा कि उन्होंने वर्ड्सवर्थ के ढंग पर लिखी कविताओं को जला दिया और इलियट के ढंग पर कविताएँ लिखना प्रारम्भ किया।

इस प्रकार वर्ड्सवर्थ के द्वारा उत्पन्न रुचि को इलियट एक शताब्दी के बाद बदल देने में समर्थ हुआ। इससे सिद्ध होता है कि प्रतिभाशाली लेखक नवीन रुचि के निर्माण में समर्थ होता है। हिन्दी के छायावादी कवियों का जनरुचि के साथ संघर्ष भीं उक्त सिद्धान्त की पुष्टि करता है। छायावादियों ने अपने युग की प्रमुख काव्य-रुचि को चुनौती दी थी और समसामयिक श्रेण्य आलोचकों की कुटिल दृष्टि के बावजूद वे अपने लिए एक नवीन रुचि का निर्माण करने में सफल हुए थे।

प्राचीन काल में, जबकि साहित्य के पाठक और साहित्य पोषण के केन्द्र आधुनिक काल की तुलना में कम थे, तथा प्रेस का आविर्भाव नहीं हुआ था, वैसे साहित्य की कल्पना नहीं की जा सकती थी जो अपने पाठकों या पोषण-केन्द्रों की उपेक्षा कर आगे बढ़े। हिन्दी के सन्त और भक्त कवियों ने, राजाओं का आश्रय न स्वीकार कर, अपनी वैयक्तिकता की रक्षा तो कर ली, पर सन्तों को छोड़कर अन्य भक्त कवि अभिजात-वर्गीय भावनाओं और रुचियों की उपेक्षा न कर सके। कबीर आदि सन्त कवि भी अपनी समसामयिक काव्य-रुचि की उपेक्षा, इसलिए कर पाए कि कविता करना उनका उद्देश्य नहीं था। सन्त-काव्य में यदि कवित्व है तो वह स्वयमागत है, अयत्नज है। फिर कबीर आदि ने भी निम्नवर्गीय समाज की भावनाओं और रुचियों का ध्यान तो रखा ही है।

मुद्रण और प्रकाशन-व्यवसाय के साथ साहित्यकार की परिस्थितियों में आश्चर्यजनक परिवर्तन हो गया है और कलाकार अत्यन्त तीव्र गति से पूर्ण स्वायत्तता के लक्ष्य की ओर बढ़ता जा रहा है, यद्यपि इसमें सन्देह है कि उसे कभी भी सफलता मिल सकेगी। शेली ने उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में ही घोषित किया था कि

"जब तक सत्य के प्रति तुम्हारी निष्ठा और विश्वास तुम्हें लिखने के लिए बाध्य न करे तब तक कुछ न लिखो । अच्छी सलाह दो और ग्रहण करो; पर साधारण मस्तिष्क वालों से कोई सलाह न लो । समय मूर्ख भीड़ के निर्णय को उलट देता है । सम-सामयिक अलोचना मूर्खता के योगफल से अधिक महत्त्व की नहीं होती; जिसके साथ प्रतिभा को संघर्ष करना पड़ता है ।"

इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि कवि या लेखक विशुद्ध रूप में स्वान्तः सुखाय लिखे । कोई भी लेखक केवल स्वान्तः सुखाय नहीं लिखता या नहीं लिख सकता। कलाकार में भी उसका अहं प्रमुख होता है, उसके लिए भी आत्माभिव्यक्ति का मूल्य होता है, पर आत्माभिव्यक्ति तब तक अपूर्ण है, जब तक उसका पाठक या श्रोता न हो । पाठक और लेखक स्पष्टतः अन्योन्याश्रयी हैं और परस्पर एक-दूसरे को प्रभावित या परिवर्तित करते हैं । इसलिए शेलीने जब उपर्युक्त घोषणा की तो उसका उद्देश्य केवल समसामयिक प्रमुख रुचि का विरोध करना था, सभी प्रकार के पाठकों का बहिष्कार करना उसका लक्ष्य नहीं था । यह सम्भव भी नहीं है । पाठकों के बिना साहित्य का अस्तित्व उसी प्रकार निरर्थक है, जैसे, मानव प्राणियों के बिना इस धरती का अस्तित्व ।

डॉ० परमानन्द श्रीवास्तव

नये साहित्य में दुरूहता की समस्या : कुछ विचार

दुरूहता का प्रश्न रचनात्मक सन्दर्भ में कोई नया प्रश्न नहीं है । अभिधेयार्थ या मुख्यार्थ से आगे जाने वाले कृतिकार ने जब ध्वनि[1] और व्यंजना[2] का आश्रय लिया था, तब भी यह समस्या किसी-न-किसी रूप में उत्पन्न हुई थी; इसके बावजूद प्राचीन साहित्य-शास्त्र में ध्वनि और व्यंजना को प्रतिष्ठा मिली क्योंकि उनके पीछे केवल चमत्कार का आग्रह नहीं था, उनके प्रयोग में गहरे अर्थ तक पहुँचने की आकांक्षा भी थी । आज भी सुलझे हुए विचारकों के लिए "दुरूहता अपने आप में कोई दोष नहीं है, न अपने आप में इष्ट है ।"[3] कुछ पहले 'टाइम्स लिट्रेरी सप्लिमेंट' की सम्पादकीय टिप्पणी में 'सरलता' को निरपेक्ष गुण माना गया था[4] और अभी 'टाइम्स' की ऐसी ही टिप्पणी

१. यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनी कृतस्वार्थौं ।
व्यक्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः ॥१३॥ ध्वन्यालोक, प्र० उ० ॥
२. वक्तृबोद्धव्यकाकूनां वाक्य वाच्यन्य सन्निधेः
प्रस्ताव देशकालादेर्वैं शिष्यात् प्रतिभाजुषाम् ।
योऽर्थस्यान्यार्थ धी हेतुर्व्यापारो व्यतिरेव सा ॥का० ३७॥ काव्य प्रकाश, तृ० उ०॥
३. भूमिका, अज्ञेय, तीसरा सप्तक, पृष्ठ १७ ।
४. "Literary excellence can not be defined in terms of words that are in themselves neutral. Simplicity is only a factor in art in

'दुरूहता' को ध्यान में रखते हुए कहा गया है कि सरल रचना को हेय, महत्त्वहीन या साधारण और दुर्बोध रचना को साहित्यिक श्रेष्ठता से युक्त समझना एक प्रकार का साहित्यिक छल है।[१] अब शायद बात पूरी हुई है।

दुरूहता रचना में कई कारणों से आती है—सांकेतिकता से, नयी दृष्टि के सन्निवेश से, भाषा के नयेपन से, प्रतीकों एवं बिम्बों के प्रयोग से। पद्धति या शैली से भी दुरूहता का सम्बन्ध है पर कोई अनिवार्य सम्बन्ध नहीं—क्योंकि सीधी संलाप-शैली में लिखी गयी कविताएँ तक दुरूह या दुर्बोध होती देखी गयी हैं। प्रकारान्तर से, यह समस्या प्रेषण की कठिनाई की समस्या है। इसीलिए रिचर्ड्स ने महत्त्व देकर प्रतिपादित किया था कि किसी भी आलोचना-सिद्धान्त के दो मुख्य आधार-स्तम्भ हैं—मूल्यबोध और सम्प्रेषण।[२] और रिचर्ड्स ने ही अन्यत्र अर्थ के विभिन्न प्रकारों में अभिप्राय (Intention) को भी एक महत्त्वपूर्ण अंग स्वीकार किया था।

रचना में जिस अर्थ की सम्भावना कृतिकार देखता है, उसे पाठक तक सम्प्रेषित भी होना ही चाहिए। फिर भी कभी-कभी प्रेषण की कठिनाई कृतिकार की किसी आंतरिक विवशता से समुद्गत (genuine) होती है। और उस स्थिति में इस कठिनाई की मीमांसा भी अपेक्षित होती है क्योंकि उससे उसकी अर्थच्छाएँ खुलती हैं। यहाँ समीक्षक को भी नये सिरे से रचना की आन्तरिक प्रक्रिया को आत्मसात् करना पड़ता है। इसी भूमि पर आलोचना रचनात्मक (creative) कहलाती है। तो, दुरूहता समस्या तो हो सकती है, पर अनिवार्य रूप से साहित्यिक अ-श्रेष्ठता का कोई प्रमाण नहीं है, (वैसे ही, जैसे श्रेष्ठता का भी अतिरिक्त प्रमाण नहीं है)। दुरूह होकर भी रचना मूल्यवान् हो सकती है, यदि वह कृतिकार की किन्हीं आन्तरिक विवशताओं का सार्थक परिणाम हो। दुरूह अस्पष्टता को यदि कृतिकार बहाने के लिए इस्तेमाल करता है और बनाए रखता है—यथार्थ के निषेध के लिए, यथार्थ से पलायन के लिए तो वह क्षम्य नहीं है। किसी अतिरिक्त या अन्यथा प्रलोभन (advantage) के लिए कृति में स्थापित दुरूहता (Obscurity) साहित्यिक के योग्य नहीं कही जा सकती।

(२)

नए साहित्य में सम्प्रेषण की कठिनाई मुख्यतः इसलिए है कि जैसा तीखा और गहन असामंजस्य आधुनिक रचनाकार एवं उसकी समकालीन परिस्थितियों में है, पहले सम्भवतः कभी नहीं था। आज की कविता के सन्दर्भ में इस स्थिति की व्याख्या करते हुए अज्ञेय लिखते हैं : "इस विरोध के दबाव की कवि के मन पर गहरी छाप है।

virtue." Times Lit. Supplement, June 8, 1962.

१. "It is one of the small snobberies of literary criticism to assume that any popular writing must be beneath contempt while authors who are difficult to understand have something very profound to say."

Times Literary Supplement,
September 13, 1963

२. Priniciples of Literary Criticism : I. A. Richards, P. 25.

इतनी गहरी कि वह उसे सीधे-सीधे व्यक्त भी नहीं कर पाता है, केवल ध्वनित करता है, केवल एक संकेत देता है जिससे हम आगे बढ़कर देख सकें।[1] अर्थात् सांकेतिकता का प्रयोग साभिप्राय होना ही है; वह (सांकेतिकता) अर्थहीन हो, कहीं किसी संदर्भ या अर्थ की ओर ले न जाती हो तो व्यर्थ है और कोई अतिरिक्त कौशल या चमत्कार उसकी व्यर्थता को छिपा नहीं सकता। दूसरे शब्दों में कहा जाय, कि कृतिकार को शब्द और सत्य (वे कितने भी एक-दूसरे से तने रहते हों) की एकता का प्रमाण अपनी रचना में देना ही है—

कवि जो होंगे हों, जो कुछ करते हैं करें
प्रयोजन मेरा बस इतना है—
ये दोनों जो
सदा एक-दूसरे से तनकर रहते हैं
कब, कैसे, किस आलोक-स्फुरण में
इन्हें मिला दूँ—
दोनों जो हैं बन्धु, सखा, चिर सहचर मेरे।[2]

आज की साहित्यिक समस्याओं के अध्ययन-क्रम में हम सबसे पहले उस तनाव से परिचित होते हैं जो अधिकांश कृतिकारों की चेतना पर हर समय बना रहता है कि अनुभव की व्यंजना के पुराने साधन पर्याप्त नहीं हैं। इस रचनात्मक असन्तोष से प्रेरित होकर आज का कृतिकार अभिव्यक्ति के नए-से-नए माध्यम आविष्कृत करता है। नयी उपमाओं, बिम्बों-प्रतीकों को साधारण पाठक प्रायः ही चौंककर देखता है और जब-तब अनुभव करता है कि कृतिकार के अभिप्रेत अर्थ की प्राप्ति कठिन है और यह, कि अब रचना का साधारणीकरण सम्भव नहीं रहा। जो साधारणीकरण को रचना की सफलता का आधार मानता है वह कृतिकार की अनुभूति को कृति के पहले पाठ में ही आयत्त कर लेना चाहता है और तब, ऐसा न होने पर निराश होता है। जब शमशेर 'शाम' कविता में लिखते हैं :

नीबू का नमकीन-सा शरबत, शाम
(गहरा, नमकीन)···
प्राचीन ईसाई चीजों-सी कुछ
राजपूताने की-सी बहुत कुछ
गहरी सोन-चम्पई
सोन-गोरिया शाम।
··· शान्त।
तुम्हारी साड़ी की-सी
शाम। बहुत परिचित।
ओ, ओ

---
१. आत्मनेपद, अज्ञेय, पृष्ठ २८।
२. अरी ओ करुणा प्रभामय : अज्ञेय : पृष्ठ १६।

मेरे दिल के अजीब फैलाव की
लातीनी पीतल-काँसे के घण्टों की-सी
क्लासिक
शाम ।······
···कविता के शब्दों, स्वरों, लयों से परे की
मेरी शाम ।[1]

तो साधारण पाठक के लिए नई कठिनाई उपस्थित करते हैं। एक तो वह अपरिचित, दूसरे ऊपर से देखने पर, एक-दूसरे से नितान्त असम्बद्ध कल्पनाओं का सहज एवं पुनः रूपान्तर उसके मन में सम्भव नहीं हो पाता। पर इस कठिनाई के बावजूद शमशेर और उनके बाद के कवि 'शाम' की ही कल्पना और भी नए और असम्बद्ध रूपों में करते हैं और धीरे-धीरे पाठक को रचना के गहरे अर्थों के प्रति पर्युत्सुक बनाते हैं और उसकी संवेदनक्षमता को तीव्र करते हे। और इस प्रकार रचना के विकास-क्रम में धीरे-धीरे यह कठिनाई हल होती है। साहित्य और कला में विकास की प्रक्रिया यही रही है। जिस पाठक के लिए कवि ने 'संध्या' का यह चित्र लिखा था—

दिवस का अवसान समीप था
गगन था कुछ लोहित हो चला···

उसे तभी कठिनाई हुई थी जब निराला ने लिखा—

अलसता की-सी लता
किन्तु कोमलता की वह कली
सखी नीरवता के कन्धे पर डाले बाँह
छांह-सी अम्बर-पथ से चली।
नहीं बजती उसके हाथों में कोई वीणा
नहीं होता कोई अनुराग—राग-आलाप,
नूपुरों में भी रुनझुन-रुनझुन नहीं,
सिर्फ एक अव्यक्त शब्द-सा "चुप, चुप, चुप,"
है गूँज रहा सब कहीं—

पर तब कुछ बातें चित्र में स्पष्ट थीं—जैसे सन्ध्या का सुन्दरी के रूप में मानवीकरण और वातावरण की शान्ति। इनसे आगे बढ़ने की कठिनाई, एक-एक शब्द के साथ के सम्बद्ध अर्थस्तरों की सूक्ष्म व्यंजना को ग्रहण न करने, या न कर सकने की कठिनाई थी। इससे स्पष्ट है कि जब कृतिकार अपने नये भावबोध के अनुसार "भाषा की क्रमशः संकुचित होती हुई सार्थकता की केंचुल फाड़कर उसमें नया, अधिक व्यापक और अधिक सारगर्भित अर्थ भरना चाहता है"[2] तो यह कठिनाई पाठक के समक्ष आती है। प्रसाद, पन्त, निराला, सबने यह कठिनाई पाठक के लिए उपस्थित की थी। आज के कृतिकारों ने यह कठिनाई बढ़ा दी है क्योंकि उनके सामने भाषा को ही बद-

१. कविताएँ : ५८। सं० चन्द्रदेवसिंह।
२. प्रयोग और प्रेषणीयता / आत्मनेपद, अज्ञेय, पृष्ठ ३६-३७।

लने और नया बनाने का प्रश्न नहीं रहा है—उन्हें तो अनुभव और अभिव्यक्ति अर्थात् वस्तु और भाषा के बीच की समस्त प्रक्रिया ही बदलनी पड़ी है। आज भी पन्तजी की नई कविताओं में जिस तरह की दुरूहता है, वह नये कृतिकारों के साहित्य की दुर्बोधता से भिन्न है। उदाहरण के लिए, बिम्ब-विधान का उपयोग पन्तजी करते हैं तो एक नये तरह के भावनात्मक रहस्यवाद (emotional mysticism) के आग्रह से—जैसे,

१. चाँदनी की मोहित खोहों में
ओसों के
दर्पण-से सरोवर हैं
द्वार पर
झीने कुहासों के परदे पड़े हैं।[1]

२. हंसों की पीठ पर
कमलों का कनक मरन्द
बिखरा है
सीप की हथेली में
सुनहला मोती हँस रहा···

और, केदारनाथसिंह बिम्बों का उपयोग करते हैं तो बौद्धिक धरातल पर समकालीन परिस्थितियों की जटिल वास्तविकता, उसके संक्रमण-संघर्ष को एक ठोस, स्पष्ट और बेलाग अर्थ देने के लिए। इसीलिए उनकी बिम्बधर्मी कविता इस आत्मपरिचय से शुरू होती है—

एक लकीर
पृथ्वी के सारे अक्षांशों से होती हुई
जहाँ
सौरमण्डल के पास
खो जाती है
वहाँ मैं खड़ा हूँ[3]
या
एक सपाट मैदान है :
जिसमें मैं हूँ
और सदियाँ हैं !
और दोनों के बीच में
एक उड़ती हुई गौरैया

१. कला और बूढ़ा चाँद : सुमित्रानन्दन पन्त : पृष्ठ २१।
२. वही, पृष्ठ ७३।
३. आत्मचित्र, अभी बिल्कुल अभी, केदारनाथसिंह।

जो उड़ती रहेगी
सदियों तक ।[1]

जब केदारनाथ सिंह लिखते हैं—

मछुए का
एक जाल
नदी से निकालकर
धरा हुआ
मेरे इन चिर आदिम कन्धों पर
यह मेरा नगर है[2]

तो इस सत्य की ओर इंगित करते हैं कि 'चिर आदिम कन्धों पर आश्रित नगर, नगर की वैज्ञानिक सभ्यता का विकास है जिसे ढोने वाले कन्धे 'चिर आदिम' हैं और प्रमाणित करते हैं कि बिम्ब का आग्रह उनके लिए या उनके समानधर्मा कवियों के लिए चित्र के आकर्षण से भिन्न है। जिनके लिए हर शब्द "किसी नए ग्रहलोक में एक जन्मान्तर" है उनके लिए प्रत्येक बिम्ब एक जीवित सन्दर्भ है। केदार के ही शब्दों में बिम्ब "अधिक-से-अधिक कवि के रागात्मक अनुबन्धों पर आधारित होने के कारण अपने साथ एक व्यापक सन्दर्भ लिए होता है। उसके तल तक पहुँचने के लिए उस सन्दर्भ का ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है।"[3] इसी को स्पष्ट करते हुए अज्ञेय ने संकेत किया है कि बिम्ब के पीछे सत्य का आत्यन्तिक मूल्य एक बात है, उसकी सम्बन्ध-कारकता, उसकी तदर्थप्रेषकता दूसरी बात।[4] और इस प्रकार रचना में अपेक्षित सन्दर्भ-ज्ञान (दूसरे शब्दों में समकालीन यथार्थ से परिचय) के बिना सम्प्रेषणीयता सम्भव नहीं रह गई है।

फूल जैसे अँधेरे में चीखता हो
इस तरह वह दरपनों में कौंध जाता है

अनागत का यह बिम्बबोध कृतिकार की ही तरह पाठक में भी सम्यक् दिक्-काल-ज्ञान की अपेक्षा रखता है। आज के कृतिकार की सृजनात्मक महत्त्वाकांक्षाएँ अधिक हैं। उसे कुँवरनारायण के अनुसार "वह एप्रोच पसन्द है जो किसी भी सत्य को स्वयं में अन्त न मानकर उसे अगले सत्य तक पहुँचने का साधन मानता है।"[5] प्रचलित और घिसे हुए रूप या ढाँचे (Form) को तोड़ना नई रचनात्मक प्रक्रिया (Creative process) की प्राथमिक स्थिति है; अगली स्थिति है—उस कठोर, तीखे, नामहीन, यथार्थ को पकड़ने का प्रयत्न—जो पकड़ से बाहर है। आज की कविता दुरूह है क्योंकि वह कवि के ही शब्दों में—

१. पिकनिक से लौटते हुए—केदारनाथसिंह, कल्पना मार्च ६१, पृष्ठ ६४।
२. आत्मचित्र, अभी बिल्कुल अभी, केदारनाथसिंह।
३. वक्तव्य : केदारनाथसिंह : तीसरा सप्तक : पृष्ठ १९८।
४. आत्मनेपद, पृष्ठ २३०।
५. वक्तव्य : कुंवरनारायण : तीसरा सप्तक : पृष्ठ २४८-२४९।

एक छोटा-सा मौन है
जिसमें पशु, वनस्पतियाँ और सड़कों के लैम्पपोस्ट
सब शामिल हैं ।[1]

और आज के कवि की भाषा—

....

····नंगे आसमान-सी
खुली हुई एक भाषा है
जिसमें कोई शरीक नहीं ।[2]

(३)

रचना में दुरूहता की समस्या केवल कविता की समस्या नहीं है । 'गोदान' से 'नदी के द्वीप' और 'नदी के द्वीप' से 'अपने-अपने अजनबी' तक—और प्रेमचन्द की कहानियों से जैनेन्द्र, अज्ञेय और आगे राजेन्द्र यादव, रघुवीर सहाय और निर्मल वर्मा की कहानियों तक रचनात्मक साहित्य के विकास की प्रक्रिया है, उसके अध्ययन से यह बात साफ़ हो जाती है कि जब भी रचनाकार नई संवेदना की अभिव्यक्ति के लिए नया माध्यम चुनता है, नई पद्धति आविष्कृत करता है, रचना में दुरूहता आती है । एक लेखक के ही विकास को लिया जाए, तो प्रेमचन्द की 'बड़े घर की बेटी' कहानी की तुलना में उन्हीं की कहानी 'पूस की रात' दुरूह कहानी है (क्योंकि, जो सुबोध प्रभाव इस कहानी के अतिसरलीकरण से प्राय: ग्रहण किया जाता है वह कहानी का मुख्य प्रतिपाद्य नहीं है) । इसी प्रकार 'आकाशदीप' कहानी के अभिप्रेत अर्थ तक सामान्य पाठक की पहुँच आज भी सन्दिग्ध है ।

अज्ञेय का उपन्यास 'अपने-अपने अजनबी' एक दुरूह कृति है और निर्मल की 'तीसरा गवाह', 'कुत्ते की मौत', 'खोज' आदि कहानियाँ दुरूह कहानियाँ हैं क्योंकि इनमें घटनात्मक यथार्थ से आगे आकर किन्हीं दूरगामी सन्दर्भों को पकड़ने और चित्रित करने की कोशिश की गई है और ज़रूरी ही हो, तो कहना पड़ेगा कि आज के साहित्य में 'दूरगामी सन्दर्भ' को पकड़ने की कोशिश सिर्फ़ 'दूर की कौड़ी' लाने की कोशिश नहीं है, वह तो बिल्कुल नहीं है । यथार्थ को सतह पर न देखकर उसके भीतर, उसकी जटिलता के भीतर प्रवेश करने की रचनात्मक आकांक्षा और प्रतिबद्धता का मूल्य सतही मनोरंजन का प्रलोभन छोड़कर ही चुकाया जा सकता है, यह बात आज कथा-साहित्य के भीतर भी बहुत हद तक सच मान ली गई है । यही कारण है कि आज का कथाकार भी अपने लिए संवेदनशील, विचारवान् और प्रौढ़ अनुभूति के पाठक की माँग करता है ।[3]

---

१. एक छोटा-सा मौन : केदारनाथसिंह : सम्प्रति : मार्च-जून १९६३, पृष्ठ १४ ।
२. वही, पृष्ठ १४ ।
३. "साहित्य पाठक में कुछ तैयारी, अनुकूलता और परिपक्वता माँगता ही है । पुराने आचार्य तो इसे मानते ही आए, आजकल भी यह मत नितान्त अमान्य तो नहीं है ।"
—नदी के द्वीप, क्यों और किसलिए—आत्मनेपद, अज्ञेय, पृष्ठ ७४

जिन कारणों से आज की कविता दुरूह है, उन्हीं कारणों से आज की कुछ कहानियाँ भी दुरूह हैं क्योंकि उनमें भी कविता की तरह हम अस्तित्व के गहरे प्रश्नों की मौलिक जिज्ञासा, चिन्ता, यथार्थ के प्रति बौद्धिक दृष्टिकोण, सांकेतिक बिम्बबहुल भाषा तथा प्रतीक कल्पना का उपयोग देखते हैं। अकारण और आकस्मिक नहीं है, कि आज की कहानियों में—नीले लिफाफे-सा आकाश, खरगोश की तरह का धूप का सांवला धब्बा, गुनगुनी-सी सफेद हवा, नींद की नीली झील पर तिरता-सा कुहरा, पिघलती चांदी-सी धूप, धूप में चमकता हुआ सफेद रिबन-सा नाला, गिलहरियों-से खेत, बुझती हुई आग के धुएँ-सी चाँदनी, एक बड़े भारी खुले दरवाजे-सा इन्द्रधनुष—आदि असंख्य काव्यात्मक बिम्बों का प्रयोग मिलता है। ये प्रयोग उस गहरी संवेदना का प्रमाण देते हैं जिनसे प्रेरित होकर कृतिकार 'कहानी' और अन्य साहित्यरूपों को सार्थक 'रचना' के अर्थ में ग्रहण करता है और रचना के सभी प्राप्त उपकरणों का यथासम्भव प्रयोग करते हुए अपने सृजनात्मक लक्ष्य या उद्देश्य तक पहुँचना चाहता है। कभी इस लक्ष्य तक कृतिकार को ले आने वाला रास्ता ही इतना उलझा हुआ और जटिल होता है कि कृति पाठक को दुर्बोध जान पड़ती है और कभी पाठक एक आरोपित आतंक[1] के कारण रचना को दुरूह मान लेता है और अपनी ओर से कोई प्रयत्न रचना के तर्क को समझने के लिए नहीं करता। राजेन्द्र यादव के शब्दों में कहा जाए कि अर्थ या ध्वनि आज के साहित्य में केवल मौक़े की सूझ तो है नहीं[2] कि शास्त्रीय नुस्खे के सहारे पाठक उसे प्राप्त कर सके; वह तो सम्पूर्ण रचना में व्यक्त एक सार्थक सन्दर्भ है और उसकी प्राप्ति प्रयत्न से ही सम्भव है।

जब हम किन्हीं सार्थक कारणों या विवशताओं से रचना में उत्पन्न दुरूहता का समर्थन करते हैं और पाठक से उन कारणों या विवशताओं में प्रवेश करने की सिफ़ारिश करते हैं तब भी यह खतरा बना रहता है कि कहीं कृतिकार इस दुरूहता को, समकालीन सत्य की अभिव्यक्ति से बचने के लिए या अनुभूति की कमी को छिपाने के लिए एक साहित्यिक छल की तरह तो नहीं इस्तेमाल कर रहा है! क्योंकि, इस छल के पक्षधर हम नहीं हैं, न होना चाहते हैं।

---

1. "Or difficulty may be caused by the reader having been told, or having suggested to himself, that the poem is going to prove difficult. The ordinry reader, when warned against obscurity of a poem, is apt to be thrown into a state of consternation very unfavourable to poetic receptivity."

—Selected Prose : T. S. Eliot. p. 93

२. शह और मात : मेरा अपना दृष्टिकोण : राजेन्द्र यादव : कल्पना : ११६ : पृष्ठ ५४।

—मन्मथनाथ गु

तीन उपन्यास

दीर्घतपा—इस उपन्यास में 'रेणु' ने नौकरी करनेवाली स्त्रियों की परिस्थि का चित्रण किया है। एक वर्किंग-विमेन्स हॉस्टल है, जिसमें एक तरफ एक महिल प्रोफेसर और रेडियो में काम करनेवाली महिला रहती है और दूसरी तरफ उस गाँव में काम करने की ट्रेनिंग प्राप्त करने के लिए गाँव की अर्द्धशिक्षित तरुणिय आती हैं। इस हॉस्टल की अध्यक्षा श्रीमती आनन्द हैं, जो बाहर रहती हैं। प बेला गुप्त हॉस्टल के अन्दर रहकर उसमें इन्तजाम करती है। बेला गुप्त बचपन बड़ी ऐडवेंचरस टाइप की लड़की थी, दौड़-धूप, तैराकी, कुश्ती में तेज, पर एक बना- वटी क्रान्तिकारी ने उसे घर छुड़ाया, हर मोके पर यह कहकर कि प्रश्न करना मन है। वह स्वयं उसके शरीर का भोग करता है और फिर उसे शायद बेच देता है। प बेला गुप्त किसी तरह निकल भागती है अच्छी होने की प्रतिज्ञा लेकर। इसके विप- रीत मिसेज आनन्द खेली-खाई हुई औरत है। पहले वह मिसेज महान्ती थी, फि कुछ और हुई, अब मिसेज आनन्द है।

मिसेज आनन्द चाहती है कि हॉस्टल की लड़कियाँ विशेषकर अंजू-मंजू, लोकगीत गाने में बहुत प्रवीण हैं, उनके अतिथियों का मनोरंजन करें। इसी बात लेकर बेला गुप्त और मिसेज आनन्द में संघर्ष चलता है। ट्रेनिंग पाने के लिए आ हुई देहाती लड़कियों पर भी मिसेज आनन्द के मित्रों की दृष्टि जाती है, उनकी जी शहरी माल से ऊबी हुई है, इसलिए वे देहाती लड़कियों का जायका चाहती हैं। प बेला गुप्त आड़े आती हैं और नियमावली की दोहाई देकर टोकती हैं। एक मिस्ट घोष बेहाला बजाने का लती है, पता नहीं उसे कितना आता है। पर वह अपन 'शो' एक नाटक के रूप में करना चाहता है। इस बहाने मिसेज आनन्द हॉस्टल क सब लड़कियों को उस रात बाहर निकलने की छुट्टी दिलवाती हैं, बेला गुप्त क अनुमति देनी पड़ती है। 'शो' का फायदा उठाकर जब लड़कियाँ आती हैं तो मिसे आनन्द का प्रेमिक आदिवासी बाबू बागे लाइट ऑफ़ करवा के लड़कियों को उड़ ले जाता है और ग्राहकों को पहुँचाता है। एक लड़की जो ट्रेनिंग के लिए आई थी इससे इतनी दुःखी होती है कि वह आत्महत्या कर लेती है।

इसके अलावा मिसेज आनन्द और बागे की प्रेम-लीला है। महिला प्रोफेस टॉक के लोभ से किस प्रकार रेडियो के एक स्टाफ-आर्टिस्ट के द्वारा बलात्कृता होती है, आदि जाने कितनी घटनाएँ हैं।

लेखक—फणीश्वरनाथ 'रेणु'; प्रकाशक—बिहार ग्रन्थ कुटीर, खजान्ची रोड, पटना-४; पृ संख्या-१६३; मूल्य ४ रुपये।

यदि यह कहा जाए कि आधुनिक कथा साहित्य का एक प्रधान लक्षण यह है कि उसमें कथानक या तो होता ही नहीं या बहुत क्षीण होता है, जैसा कि कुछ आधुनिकता के दावेदार कहते हैं, तब तो कहना पड़ेगा कि यह उपन्यास आधुनिक नहीं है, क्योंकि इसमें घटनाएँ ही घटनाएँ हैं, ये घटनाओं से ठसाठस भरा हुआ है, इतना कि जो संक्षिप्त व्यौरा हमने प्रस्तुत किया, उसमें कुछ भी नहीं आया। यद्यपि 'रेणु' केवल कहानी कह रहे हैं, पर इसमें हमारे समाज के व्यापारी वर्ग तथा राजनीति का बहुत ही सजीव चित्र उभरता है, जिससे उनकी सारी गंदगी सामने आ जाती है। यह उपन्यास स्त्री प्रधान है, इसलिए इसके ज़रिए यह भी साफ हो जाता है कि स्वतन्त्रता के बाद किस प्रकार स्त्रियों में आगे बढ़ने की, घुटन वाली बावन तालों की जिन्दगी छोड़कर अण्डे के खोल से बाहर आने की तड़पन है, पर धन्यवाद है राजनीति और व्यापार में लगे हुए लोगों की कि जो स्त्रियाँ बाहर आई हैं वे केवल उनके मनोरंजन के लिए नया माल मात्र हैं। अजीब बात है कि ये सफल भी होते हैं। यह लोग विदेशों से परोपकार के उद्देश्य से आया हुआ माल दवा जाते हैं, शराब की नदियाँ बहाते हैं, व्यभिचार लीला फैलाते हैं, पर पकड़ में नहीं आते, क्योंकि अन्ततोगत्वा इस उपन्यास में मिसेज आनन्द तथा उनके साथी बच जाते हैं और बेला गुप्त को सज़ा होती है कि वह चकला चलाती है। बेला गुप्त अदालत में अपनी सफाई नहीं पेश करती। मेरे विचार से यदि 'रेणु' इस रोमांटिक और सिनेमा के उपयुक्त अन्त के फेर में न पड़ते तो उनकी रचना अधिक बलिष्ठ होती, पर यों यह जैसा भी है बहुत शक्तिशाली उपन्यास है। मानवीय स्पर्श जहाँ-तहाँ बहुत अधिक है, व्यंग्य भी है, और सबसे बड़ी बात है कि समाज के घाव को खोलकर रख देता है, पर घाव की हालत देखकर यह डर लगता है कि कहीं यह घाव कैंसर तो नहीं है। 'रेणु' का यह उपन्यास विश्व-साहित्य के किसी भी अच्छे उपन्यासकार की कृति के साथ एक तराज़ू में रखा जा सकता है।

एक म्यान दो तलवारें—पंजाबी के प्रसिद्ध लेखक नानकसिंह ने इस उपन्यास को क्रान्तिकारी आन्दोलन की पृष्ठभूमि में लिखा। इसके लिए लेखक ने विशेष रूप से क्रान्तिकारी आन्दोलन का अध्ययन किया और उस सम्बन्ध में प्राप्त बहुत कुछ साहित्य पढ़ा। कुछ लोग हमेशा यह साबित करने पर तुले रहते हैं कि क्रान्तिकारी आन्दोलन कुछ थोड़े से नौजवानों का खेलमात्र था, ऐसा वे इस कारण मानते हैं कि देश को स्वतन्त्र करने का सारा श्रेय एक विशेष दल के सिर पर मढ़ दें। यह लड़ाई इतिहास को झुठलाने के साथ-साथ दर्शनशास्त्र को एक विशेष रूप में दिखाने की ज्यादती तक प्रसारित है। यह दावा है जैसे बुद्ध, महावीर, चैतन्य, गांधी की ही एकमात्र विचारधारागत परम्परा हो, कृष्ण, राम, परशुराम, राणाप्रताप, शिवाजी, तिलक, अशफाक उल्ला, भगतसिंह की परम्परा कोई परम्परा ही न हो जो कुछ भो हो नानकसिंह ने क्रान्तिकारी आन्दोलन को अपनी सर्वश्रेष्ठ कृति में

लेखक—नानकसिंह; अनुवादक का नाम दिया नहीं गया है; प्रकाशक—राजपाल एण्ड संस, दिल्ली; पृष्ठ संख्या ३०१; मूल्य—५ रुपये।

चित्रित किया, यह एक बड़ी न केवल साहित्यिक बल्कि सामाजिक घटना है। यूं तो जैनेन्द्र ने भी अपने कुछ उपन्यासकारों में क्रान्तिकारियों को घसीटा है पर उन्होंने उन्हें सेक्स से पीड़ित, कुण्ठित अजीब नौजवानों के रूप में चित्रित किया है, पर नानक सिंह ने ऐसे शहीदों का चित्र खींचा है जिनके सम्बन्ध में यह कहा गया है कि शहीदों की चिताओं पर लगेंगे हर बरस मेले, वतन पर मिटने वालों का यही बाकी निशां होगा। यदि गहराई से देखा जाय, तो दोनों उपन्यासकार सही हैं। जैनेन्द्र का साबका क्रान्तिकारी आन्दोलन से तब पड़ा जब चन्द्रशेखर 'आज़ाद' की शहादत के बाद क्रान्तिकारी आन्दोलन की सामाजिक जड़ें उखड़-पुखड़ गई थीं। एक तरफ जन-आन्दोलन तथा दूसरी तरफ मुख्यत: रूस से आए हुए समाजवादी आन्दोलन, पहले के क्रान्तिकारियों का स्थान लेता जा रहा था। इसीलिए ज़ो पुरानी परिपाटी को निबाहते थे वे महज लीक पीट रहे थे।

इसके विपरीत नानकसिंह ने सरदार करतारसिंह सराभा, भाई परमानन्द, हरदायल, रासबिहारी, शचीन्द्रनाथ सान्याल आदि से अनुप्रेरणा ली। करतारसिंह सराभा को अपने उपन्यास का नायक बनाया। उस समय क्रान्तिकारी आन्दोलन बिलकुल अपने यौवन में था, उसमें आदर्शवादी युवकों का ही स्थान था, दूसरी प्रकार के लोगों के लिए उसमें स्थान ही नहीं था। इस उपन्यास में दिखाया गया है कि किस प्रकार हज़ारों की संख्या में सांसारिक दृष्टि से सफल माने जा सकने वाले अमरीका के सिखों तथा पंजाबियों ने अपना सर्वस्व होम कर इसमें भाग लिया और क्रान्ति करने के लिए अमरीका से लौट आए। एकाध को नहीं सैकड़ों को फाँसियाँ हुईं।

नानकसिंह ने एक ऐसे परिवार को चुना है जिसमें बाप दिन-रात लड़ाई में भरती करा रहा है, तरह-तरह से, यहाँ तक कि क्रान्तिकारियों को गिरफ्तार करवा कर खैरख्वाहों में नाम उजागर कराने के लिए उत्सुक है, पर उसी के घर में क्रान्ति की लहर पहुँचती है, क्रान्तिकारी साहित्य छिपा-छिपाकर पढ़ा जाता है और उसका बेटा तथा बेटी दोनों क्रान्तिकारी लहर की ओर खिच जाते हैं। बेटी की किसी तरह एक बार करतारसिंह से भेंट हो जाती है, तब से वह उसकी पूजा करती है और जब उसे फाँसी होने में कुछ ही दिन रहते हैं तो वह जाकर करतार से कह आती है कि मैं तुम्हारी पुजारिन हूँ और तुम मुझे इस रूप में स्वीकार करवाओ। बेटे को फाँसी होती है और बेटी उस व्यक्ति पर गोली चलाकर पकड़ी जाती है, जिसने क्रान्तिकारियों को पकड़ाया था। निराश पिता को लगभग मृत अवस्था में छोड़कर उपन्यास का अन्त होता है।

क्रान्तिकारी आन्दोलन् को उभारकर सामने लाने के अतिरिक्त इस उपन्यास में पहली बार सिक्खों में किस प्रकार गुरुडम की प्रथा चल पड़ी तथा किस प्रकार भक्तों के दाम पर छोटे-बड़े गुरु लोग गुलछर्रे उड़ाने लगे, इसका भी पर्दाफाश किया गया है। लड़ाई के समय किस प्रकार भरती होती थी और भरतीवालों की खबर पाते ही गाँव-के-गाँव खाली हो जाते थे, यह सब भी लेखक ने पहली बार प्रामाणिक रूप से सामने रखा है। तकनीक की दृष्टि से उपन्यास सफल ही माना जाएगा, पर

यदि शुरू के पृष्ठों में वर्णन कम होता तो पुस्तक अधिक रोचक होती, इसमें सन्देह नहीं है। कथानक बहुत सरल है, उसमें गुत्थियाँ कम दिखाई पड़ती हैं, इस दृष्टि से उपन्यास प्रथम श्रेणी में नहीं आ सकता। उपन्यास के प्रारम्भ में क्रान्तिकारी सरदार करतारसिंह सराभा का एक चित्र भी दिया गया है।

लोकलाज खोई—अधिक-से-अधिक देहाती शब्दों के प्रयोग के साथ देहाती वातावरण सम्बन्धी यह उपन्यास आंचलिक शैली में लिखा गया है। लेखक ने ताना-बाना बहुत फैलाया, पर उनके सामने कोई माडल (जैसे मैला आँचल) न होने के कारण या यों कह लीजिए कि माडल अच्छी तरह न समझ पाने के कारण लेखक मौजी और हवलदारिन आदि का कुछ सतही चित्र उभारकर ही रह जाता है, देहातों के जीवन के सोते की कल-कल ध्वनि इसमें सुनाई नहीं पड़ती। पर लेखक ने यदि अपनी सारी पूंजी इस उपन्यास में नहीं लगा दी है और उसके पास कुछ कहने को शेष है तो आगे हम उससे बहुत कुछ आशा कर सकते हैं। यह सही है कि कनाट प्लेस और मेरीन-ड्राइव की ज़िन्दगी को चित्रित करना ही कला की पराकाष्ठा नहीं है, पर साथ ही केवल कुछ देहाती पात्रों को बिना उन्हें गहराई तक समझे पेश कर देने से भी कोई महान् कृति नहीं बन जाती। जो आर्थिक तथा सामाजिक परिचालका शक्तियाँ पीछे रहकर समाज के रूप का निर्णय करती हैं, उनको भी समझना-समझाना, अवश्य अपनी कला के ज़रिए से ज़रूरी है। लेखक ने अधिक-से-अधिक लोकगीत उद्धृत करके स्थिति में गहराई लाने की कोशिश की है पर एक कमी के कारण पुस्तक सतही रह गई है।

लेखक—सुरेन्द्रपाल; प्रकाशक—नीलाभ प्रकाशन, ५-खुसरो बाग रोड, इलाहाबाद-१; पृष्ठ संख्या—२३५; मूल्य—५ रुपये।

डॉ० विजयेन्द्र स्नातक

ब्रजभाषा और ब्रजबुलि साहित्य

इधर विगत पच्चीस-तीस वर्षों में ब्रजभाषा-साहित्य का अनेक संदर्भों में तथा अनेक दृष्टि-बिन्दुओं से अध्ययन हुआ है। साहित्य के साथ भाषागत अध्ययन को भी समाविष्ट कर लिया जाय तो ब्रजभाषा के अध्ययन-अनुशीलन को हम मोटे तौर पर सात वर्गों में विभाजित कर सकते हैं : साहित्यिक अध्ययन, सामाजिक अध्ययन, साम्प्रदायिक (धार्मिक) अध्ययन, व्याकरणिक अध्ययन, काव्यशास्त्रीय अध्ययन, अभिव्यंजनात्मक अध्ययन, और भाषावैज्ञानिक अध्ययन। एक ही प्रकार के अध्ययन पर दो से अधिक ग्रन्थ भी लिखे गये हैं। और कहीं-कहीं एक ही प्रकार के निष्कर्षों द्वारा अनावश्यक पिष्ट-पेषण भी हुआ है इतिवृत्तात्मक आवृत्ति की भरमार तो इतनी अधिक है कि शैली-भेद के अतिरिक्त तथ्यमूलक कोई नूतन सूचना समूचे ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं होती। प्रस्तुत ग्रन्थ को पढ़ते समय भी इसके ब्रजभाषा वाले अंश ने आद्योपान्त इस धारणा को पुष्ट किया कि लेखिका ने भी आवृत्ति को प्रश्रय देकर वृत्ति-संग्रह मात्र किया है; तथ्यानुशीलन तथा तत्वाभिनिवेश को स्वीकार नहीं किया।

विश्वविद्यालयों में ब्रजभाषा के विविध पक्षों पर अनुसन्धान-कार्य हुआ है और आज भी हो रहा है। लगभग सवा सौ शोध प्रबन्ध भाषा और साहित्य के बाह्य एवं आभ्यान्तर पक्षों को विवृत करने के लिए लिखे गये हैं। ब्रजभाषा की गौरव-गरिमा के लिए किये गये ये सब प्रयास स्तुत्य हैं किन्तु प्रयत्न के परिणामों से उपलब्धि की महत्ता का बोध नहीं होता। महत्व-बोध के लिए तो प्रयत्न की गुणवत्ता का ही मापदण्ड होगा। इसमें सन्देह नहीं कि ब्रजमण्डल की भाषा होते हुए भी सोलहवीं शती से १८वीं शती तक यह भाषा अपने अंचल की सीमाओं का अतिक्रमण कर सुदूरपूर्व और पश्चिम तक काव्यभाषा के रूप में गृहीत होने लगी थी। उत्तर-पूर्व के प्रदेशों में भक्ति एवं भक्ति-शृंगार की अभिव्यक्ति के लिए ब्रजभाषा को स्वीकार करने वालों में हम ब्रज से बाहर काशी, मगध, बिहार, बंगाल, असम और उड़ीसा तक के भक्त कवियों को पाते हैं। ब्रजबुलि का भक्ति साहित्य इस तथ्य का प्रमाण है कि ब्रजभाषा की माधुरी सुदूरवर्ती प्रदेशों में भी व्याप्त हो गई थी। अभी तक ब्रजबुलि साहित्य का हिन्दी में विधिवत् आकलन नहीं हुआ है। बंगला और अंग्रेजी में बंगाली विद्वानों द्वारा जो ग्रन्थ लिखे गये हैं उन्हीं के आधार पर थोड़ी-बहुत जानकारी हिन्दी भाषियों को मिली है। प्रस्तुत ग्रन्थ में ब्रजबुलि साहित्य का विस्तृत परिचय देने का

'ब्रजभाषा और ब्रजबुलि साहित्य'—लेखिका : डॉ० श्रीमती कणिका तोमर, प्रकाशक : काशी हिंदी विश्वविद्यालय, वाराणसी-५।

लेखिका ने प्रयास किया है। ब्रजभाषा और ब्रजबुलि दोनों साहित्यों को एक ग्रन्थ में संग्रथित करने का यह पहला प्रयास नहीं है किन्तु ब्रजबुलि पर व्यापक दृष्टि से पहली बार इस ग्रन्थ में चर्चा हुई है।

दस अध्यायों में विभक्त यह ग्रन्थ मुख्यतः दो भागों में विभाजित है। लेखिका ने इसका दो खण्डों में विभाजन नहीं किया। किन्तु विषयवस्तु के आधार पर इसको दो खण्डों में विभाजित समझना चाहिए। प्रारम्भ में दो प्रकार की विषयसूची दी गई है जो १९ पृष्ठों में है जिसके शीर्षक तथा उपशीर्षकों की संख्या लगभग ५०० होगी। विस्तृत विषयसूची के शीर्षक-उपशीर्षकों को पढ़कर पाठक वर्ण्य विषय के सम्बन्ध में जो धारणा बनाता है वह पुस्तक के पढ़ते ही धूमिल होने लगती है और पुस्तक के अन्त तक पहुँचते-पहुँचते नष्ट हो जाती है। ग्रन्थ के शीर्षक-उपशीर्षकों का संधान किसी नूतन तथ्य या तत्व को उपस्थित करने वाला ही हो, यह आवश्यक नहीं है। ग्रन्थ के राजमार्ग में दस-दस कदम पर लगे ये लैम्प पोस्ट (शीर्षक) ठूंठ से खड़े दीखते हैं, इनमें प्रकाश विकीर्ण करने वाली ज्योति नहीं है।

हिन्दी में शोध-ग्रन्थों को लिखने की एक वैज्ञानिक, तथ्यानुशीलनपूर्ण दृष्टि का पिछले दस-पन्द्रह वर्षों में विकास हुआ है। अज्ञात या अल्पज्ञात तथ्यों को प्रामाणिक शैली से उद्‌घाटित या स्थापित करने की दिशा में अच्छी प्रगति हुई है। आजका शोधकर्ता केवल तथ्य-संकलन तक ही अपने को सीमित नहीं रखता वरन् तात्त्विक विवेचन से अपनी मान्यताओं को ग्राह्य एवं उपादेय बनाता है। मुझे यह देखकर आश्चर्य हुआ कि प्रस्तुत ग्रन्थ में ब्रजभाषा खण्ड की सामग्री न तो अज्ञात का उद्‌घाटन है और न अल्प या अर्धज्ञात की स्थापना ही। जिस सामग्री को लेखिका ने संकलित किया है उसमें पाँच प्रतिशत भी नयी नहीं है। खेद की बात यह है कि उन ग्रन्थों को लेखिका ने प्रमाण और आधार माना है जो आज से लगभग ४० वर्ष पूर्व ब्रजभाषा साहित्य के सन्दर्भ में प्रकाशित हुए थे। पाँच-सात ग्रन्थों को छोड़कर वही ग्रन्थ स्थान-स्थान पर उद्‌धृत हुए हैं और उनकी मान्यताओं को दुहरा दिया गया है। इधर पिछले दस वर्षों में ब्रजभाषा के सभी पक्षों पर शोध तथा समीक्षा दोनों दृष्टियों से विपुल साहित्य प्रकाश में आया है जिसकी कोई जानकारी लेखिका को नहीं है। ब्रजभाषा के साम्प्रदायिक भक्ति साहित्य पर शोध की दृष्टि से जो कुछ इधर लिखा गया है उसने बहुत सी रूढ़ धारणाओं को समाप्त कर नयी सूचनाएँ, पुष्ट प्रमाणों के आधार पर जुटाई हैं। निम्बार्क, हरिदासी, राधावल्लभीय, वल्लभ, और वंशीअलि आदि के सम्प्रदायों पर दुहरे-तिहरे ग्रन्थ लिखे गये हैं और पूरा क्रमबद्ध इतिहास, सर्वांगीण समीक्षा के साथ तैयार हो चुका है। लेखिका को ब्रजसाहित्य के साम्प्रदायिक पक्ष पर लिखते समय इस शोध साहित्य की जानकारी न होना विस्मयजनक नहीं तो क्या है!

ब्रजभाषा और ब्रजबुलि साहित्य शीर्षक से शोध प्रबन्ध लिखते समय लेखिका ने यह नहीं लिखा कि ब्रजभाषा के अन्तर्गत वह केवल भक्ति साहित्य को ही समाविष्ट कर रही है। उसके अन्तर्मन में कुछ भी क्यों न रहा हो। किन्तु प्रबन्ध के शीर्षक में पूरा ब्रजभाषा साहित्य समाया हुआ है। अतः रीतिकाल और परवर्ती ब्रज-

भाषा साहित्य को नितान्त उपेक्षित रखना प्रबन्ध की भारी भूल है। यदि शीर्षक में किसी भी तुलनात्मक दृष्टि का संकेत होता तो यह शीर्षक अतिव्याप्त न माना जाता। 'व्रजभाषा का भक्ति साहित्य और व्रजबुलि साहित्य' शीर्षक होता तो भी किसी सीमा तक सार्थकता स्वीकार की जा सकती थी। लेखिका ने सत्यनारायण कविरत्न और रत्नाकर के नाम 'व्रजभाषा का उद्भव और विकास' शीर्षक अध्याय में दिये हैं और वहीं भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की भी चर्चा हुई है किन्तु भक्ति के सम्बन्ध में उन्होंने इन कवियों के काव्य का उल्लेख नहीं किया। कोष्ठक में तुलनात्मक अध्ययन लिखकर लेखिका ने भ्रममूलक संकेत ही दिया है, यथार्थ स्थिति का आवरण है यह कोष्ठकबद्ध संकेत।

वैष्णव धर्म का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत करते हुए लेखिका ने न तो वैष्णव धर्म के मूल का संस्थान किया है और न विधायक तत्त्वों का ही परिचय वे दे सकी हैं। इस सम्बन्ध में जो ग्रन्थ अद्यावधि लिखे गये हैं उनके अध्ययन का कष्ट भी स्वीकार नहीं किया गया। फलतः पाठक को न तो वैधर्म धर्म के इतिवृत्त का बोध होता है और मौलिक उपदानों की जानकारी ही उपलब्ध होती है। इस अध्याय को यदि लेखिका इस रूप में न लिखती तो अपनी सीमाओं में रहने से अपने विषय के साथ अवश्य न्याय कर पातीं। इसी अध्याय में दो अन्य प्रसंग भी लिखे गये हैं, एक है साहित्य तथा शिल्प में राधा-कृष्ण का स्वरूप और दूसरा है वल्लभ तथा चैतन्य से पूर्व का वैष्णव काव्य-साहित्य। इनमें जो तथ्य संकलित हैं वे सुविचारित तथा सम्यक् प्रतिपादित न होने से प्रमाण की सीमा में नहीं आते। राधाकृष्ण सम्बन्धी तथ्य तो अनेक ग्रन्थों में बार-बार लिखे जा चुके हैं, उनकी आवृत्ति निरर्थक ही है।

दूसरे अध्याय में 'व्रजभाषा का उद्भव और विकास' शीर्षक से २६ पृष्ठों में जो तथ्य संकलित किये गये हैं वे शृंखलाबद्ध किन्तु संक्षिप्त हैं। व्रजभाषा के गद्य-साहित्य की चर्चा तो इस प्रसंग में हुई है किन्तु उसके स्वरूप का निरूपण नहीं हुआ। 'शृंगार मण्डन' ग्रन्थ की भाषा को अव्यवस्थित लिखा गया है। मैं जानना चाहता हूँ कि क्या लेखिका ने इस ग्रन्थ के दर्शन किये हैं? यह ग्रन्थ व्रजभाषा का है या संस्कृत का? टीका ग्रन्थों के गद्य की चर्चा करते समय भी कुछ नाम यों ही गिना दिये गये हैं जिनके गद्य की कोई व्याख्या-विवेचना नहीं है। व्रजभाषा के नाटकों में ध्रुवदास का बयालीस लीला का उल्लेख पाकर आश्चर्य हुआ। ऐसा लगता है कि लेखिका ने लीला शब्द देखकर ही नाटक समझ लिया, मूल ग्रन्थों के पन्ने उलटने का कष्ट नहीं उठाया।

तीसरे अध्याय में व्रजभाषा साहित्य पर वैष्णवता का प्रभाव दिखाते हुए अप्रासंगिक एवं अनुपयुक्त उपशीर्षकों के भीतर जो कुछ संगृहीत है उसका विषय से कोई सम्बन्ध नहीं है। इस अध्याय में व्रज के भक्ति सम्प्रदायों का भी वर्णन हुआ है जो प्रामाणिक तथ्यों पर आधृत न होकर प्रारम्भिक, अपूर्ण सूचनाओं पर निर्भर करता है। वल्लभ सम्प्रदाय का वर्णन तो विस्तार से किया गया है क्योंकि उस पर डॉ॰ दीनदयाल गुप्त का शोध प्रबन्ध सहज उपलब्ध था, किन्तु शेष सम्प्रदायों का साहित्य पढ़ने का श्रम नहीं किया गया। चौथा अध्याय ही ... को समर्पित है

और उसमें कोई नवीनता नहीं है। चार पृष्ठों में सम्प्रदायों के संकेत मात्र हैं। पाँचवें अध्याय का आधा भाग भी वल्लभ सम्प्रदाय के कवियों का परिचायक है। इन पाँच अध्यायों को, जो प्रबन्ध का प्रथम खण्ड बनाते हैं, यदि संक्षेप में १००-१५०० पृष्ठों में लिखा जाता तो प्रबन्ध के गठन तथा मौलिकता की रक्षा होती। ३८० पृष्ठ लिखकर भी कोई मौलिक स्थापना लेखिका ने नहीं की है।

प्रबन्ध के छठे अध्याय से दसवें अध्याय तक ब्रजबुलि साहित्य का परिचय है। ये अध्याय हिन्दी जगत् के लिए नवीन सूचनाएँ देने वाले हैं। अंग्रेजी और बंगला में इस सम्बन्ध में पर्याप्त लिखा जा चुका है किन्तु हिन्दी भाषियों में बहुत कम व्यक्तियों ने उसे पढ़ा है। अतः लेखिका का यह श्रम निरर्थक नहीं सिद्ध होगा। 'ब्रजबुलि के उद्भव और विकास' को वैज्ञानिक शैली से प्रस्तुत कर लेखिका ने एक प्रशंसनीय एवं उपादेय कार्य किया है। ब्रजबुलि के व्याकरण का भी इस अध्याय में, संक्षेप में, विवरण है जो ब्रजभाषा के साथ तुलना करने पर उसके व्यावर्तन में सहायक होगा। ब्रजबुलि साहित्य के नेपाल, आसाम, उड़ीसा आदि प्रान्तों के प्रचार को भी शोध-दृष्टि से प्रतिपादित किया गया है। बंगाल के ब्रजबुलि साहित्य का विस्तार से परिचय देने के लिए नवम अध्याय को स्वतन्त्ररूप से लिखकर लेखिका ने उपादेय सामग्री जुटा दी है। यह अध्याय भी प्रबन्ध की बड़ी उपलब्धि समझी जानी चाहिए। सातवें और आठवें अध्यायों को विषय से सम्पृक्त करने की चेष्टा में लिखा गया है किन्तु उस लोभ का संवरण किया जाता तो अच्छा रहता। छठे और नौवें अध्यायों के प्रस्तुत करने में जो सफलता लेखिका को मिली है वह इन बीच के अध्यायों के जोड़ने से द्विगुणित नहीं होती।

दसवाँ अध्याय तुलनात्मक दृष्टि से लिखा गया है, जिसमें तुलना के लिए जितना अवकाश था उसका पूरी तरह उपयोग नहीं हुआ। अच्छा यह होता कि ब्रजभाषा और ब्रजबुलि के भावसादृश्य, अर्थसादृश्य, विषयसादृश्य, भाषासादृश्य एवं अभिव्यंजनासादृश्य के पद संकलित करके उनकी तुलना प्रस्तुत की जाती। यह कार्य आगे कार्य करने वालों के लिए प्रेरणाप्रद होता तथा दोनों भाषाओं के भावसाम्य तथा अभिव्यक्तिसाम्य को उद्घाटित करता। छन्द और अलंकारों के शीर्षक में साम्य की चर्चा जिस शैली से हुई है वह किसी भी प्रयोजन की पूर्ति नहीं करती। न तो उससे तुलनात्मक दृष्टि का उन्मेष होता है और न विषय-बोध ही।

संक्षेप में, इस शोध-प्रबन्ध की सबसे बड़ी उपलब्धि है ब्रजबुलि साहित्य का व्यापक धरातल पर परिचय। हिन्दी के वैष्णव भक्त कवियों ने जिस काल में अपनी भावनाओं को ब्रजभाषा के माध्यम से व्यक्त किया उसी काल में बंगाल, आसाम, उड़ीसा आदि सुदूरपूर्व के भक्त कवियों ने ब्रजबुलि के सरस माध्यम से किया था। लेखिका ने गम्भीर अध्यवसाय पूर्वक ब्रजबुलि साहित्य का मर्मोद्घाटन कर अच्छी जानकारी दी है। हिन्दी के भक्तिसाहित्य अध्येताओं को इस ग्रन्थ से लाभ उठाना चाहिए। लेखिका यदि ब्रजभाषा के साहित्य का परिचय न देकर केवल तुलनात्मक अंश पर बल देतीं तो निश्चय ही यह प्रबन्ध अत्यन्त उपयोगी और मौलिक बन जाता।

डॉ० शिवकुमार मिश्र

'साहित्य-सिद्धान्त'

'साहित्य-सिद्धान्त' डॉ० रामअवध द्विवेदी की नव्यतम समीक्षाकृति है जिसमें उन्होंने भारतीय तथा पश्चिमी साहित्य-चिन्तन की मूलभूत दिशाओं को हिन्दी के विचारशील पाठकों तथा विद्वानों के सम्मुख स्पष्ट करने का प्रयास किया है। डॉ० द्विवेदी पश्चिमी साहित्य-चिन्तन के माने हुए विद्वान हैं, प्रस्तुत कृति उन्हें भारतीय काव्य-शास्त्र के भी गम्भीर अध्येता तथा विचारक के रूप में सामने लाती है। यों उनकी 'साहित्य-रूप' पुस्तक में भी साहित्य-रूपों का विवेचन-विश्लेषण भारतीय तथा पश्चिमी साहित्य-चिन्तन के समानान्तर सूत्रों को ही उपस्थापित करते हुए हुआ है, परन्तु निर्विवाद रूप से इस कृति में डॉ० द्विवेदी पश्चिमी चिन्तन के साथ-साथ भारतीय काव्य-शास्त्र की गहराइयों में भी समान सफलता के साथ उतरे हैं, और तभी सिद्धान्तों की भूमि से एक बार पुनः अधिक सामर्थ्य के साथ भारतीय तथा पश्चिमी साहित्य-चिन्तन के समानान्तर सूत्रों को एकजूटता देने में सफल हुए हैं। यहाँ आरोपित समन्वय स्थापित करने अथवा साम्य प्रदर्शित करने की चेष्टा नहीं है, प्राचीन काल से लेकर अब तक के साहित्य-चिन्तन (भारतीय तथा पाश्चात्य दोनों) की वस्तुपरक, ऐतिहासिक विकास-क्रम पर आधारित व्याख्या के दौर में उनकी निसर्ग एकरूपता और इस प्रकार साहित्य-चिन्तन की एक सार्वभौम भूमिका का प्रत्याख्यान है। बल्कि कहना चाहिए कि भारतीय तथा पश्चिमी साहित्य-चिन्तन के दीर्घकालीन अध्ययन तथा मनन के क्रम में उद्घाटित होने वाले इस तथ्य ने ही उन्हें प्रस्तुत ग्रन्थ लिखने की मूल प्रेरणा प्रदान की है। ग्रन्थ की भूमिका के रूप में लिखी गई उनकी कतिपय पंक्तियों का उद्धरण यहाँ अप्रासंगिक न होगा—

"कुछ दिन पहले मेरा 'साहित्य-रूप' नामक ग्रन्थ प्रकाशित हुआ था। उसकी भूमिका में मैंने साहित्य की अखण्डता में अपने विश्वास की चर्चा की है। प्रस्तुत ग्रन्थ भी उसी विश्वास से प्रेरित है। सिद्धान्तों के तुलनात्मक अध्ययन से अनेक समानताएँ उद्घाटित होती हैं और सार्वभौम साहित्य-चिन्तन का एक ऐसा विशाल क्षेत्र दृष्टि-गोचर होता है, जिस पर सभी देशों और जातियों का अधिकार है। इसी सामान्य धरातल पर भारतीय साहित्य-शास्त्र का नव-निर्माण होगा।"

कहना न होगा कि तुलनात्मक तथा ऐतिहासिक विवेचन के दौर से गुज़रते हुए डॉ० द्विवेदी ने पुस्तक में निस्सन्देह अपनी उक्त स्थापना को सप्रमाण प्रस्तुत किया है और इस प्रकार साहित्य की भारतीय तथा पश्चिमी मनीषा की समानान्तर दिशाओं—प्रकारान्तर से साहित्य की सार्वभौमिकता को निर्विवाद घोषित किया है। उक्त सन्दर्भ में ही लेखक ने आज के जिज्ञासु पाठकों के लिए भारतीय तथा पश्चिमी साहित्य-सिद्धान्तों के समानरूपेण अध्ययन की आवश्यकता प्रतिपादित की है और

लेखक—डॉ० रामअवध द्विवेदी, प्रकाशक—बिहार, राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, मूल्य ५)।

प्रस्तुत पुस्तक के रूप में इस प्रकार के अध्ययन का मार्ग भी उनके लिए सुलभ कर दिया है। भारतीय तथा पश्चिमी साहित्य-चिन्तन की समानान्तर भूमिकाओं को लेते हुए अथवा उनकी मूलवर्ती दिशाओं को स्पष्ट करते हुए यों अब तक अनेक ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं, परन्तु जितने विस्तार, स्पष्टता तथा पारदर्शिता के साथ डॉ० द्विवेदी की प्रस्तुत कृति दोनों स्थानों के साहित्य-चिन्तन को उपस्थापित करती है, वैसी निर्भ्रान्त, स्पष्ट तथा पूर्वाग्रह रहित वस्तुपरक दृष्टि एकाध अपवादों को छोड़कर अन्य ग्रन्थों में प्रायः विरल ही है। यह सफलता विषय पर लेखक के अधिकार की घोषणा करती है। नामों का उल्लेख जान-बूझकर नहीं करना चाहता, परन्तु इस अधिकार से संपृक्त समीक्षात्मक प्रयास इधर हिन्दी में दिन-दिन छीजते ही चले जा रहे हैं। डॉ० द्विवेदी की शैली गहन-से-गहन विषय को भी अतीव सहजता तथा रोचकता के साथ प्रस्तुत करने की क्षमता रखती है। शैली का यह गुण—विशेषकर एक समीक्षक की शैली का यह गुण अपने में एक महत्वपूर्ण उपलब्धि है।

सम्पूर्ण ग्रन्थ में कुल चौदह प्रकरण हैं जिनमें क्रमशः काव्य-प्रेरणा, अनुकरण सिद्धान्त, रेचन सिद्धान्त, रस-सिद्धान्त, शब्द, अर्थ और शक्ति, औदात्य और आह्लाद, भ्रान्ति और अन्विति, नाट्य तत्व सम्बन्धी प्राचीन तथा नवीन मतों, सर्जनात्मक कल्पना, साहित्य और यथार्थ, काव्य-कला का स्वायत्व, पुरावृत, स्वप्न, बिम्ब, प्रतीक, पश्चिम के क्रोचे, इलियट तथा रिचर्ड्स के साहित्यिक विचारों तथा साहित्य के अध्ययन की विभिन्न पद्धतियों पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है। स्पष्ट है कि डॉ० द्विवेदी ने इन शीर्षकों के अन्तर्गत साहित्य अथवा काव्य-विवेचन को उसकी सम्पूर्णता में समेटने का प्रयास किया है। काव्य के समस्त महत्वपूर्ण पक्षों से सम्बद्ध विवेचन की यह परिपूर्णता मेरे विचार से ग्रन्थ का एक अतिशय आकर्षक पक्ष है। जैसा हम कह चुके हैं विषय-स्थापन की प्रणाली वस्तुपरक, ऐतिहासिक तथा तुलनात्मक है। इस पद्धति से अनेक लाभ हुए हैं। प्रथमतः प्रतिपाद्य विषय को उठाते हुए लेखक ने उसे पूरी पारदर्शिता से उपस्थित करने के उद्देश्य से एक-एक तत्व से मिलते-जुलते सभी सम्भव इतर तत्वों या वस्तुओं से उसका अन्तर स्पष्ट किया है और इस विधि से प्रतिपाद्य तत्व का सारा वैशिष्ट्य आप-से-आप उद्घाटित हो गया है,[1] द्वितीय सम्पूर्ण उपलब्ध विचार एक ऐतिहासिक क्रम में अपने समानान्तर भारतीय तथा पश्चिमी सूत्रों को लिए हुए सही सन्दर्भ में सामने आ गए हैं। उपलब्ध ज्ञान को समेटकर उसे व्यवस्थित तथा तर्क-संगत ढंग से उपस्थापित करना मेरे विचार से इस

१. इस प्रसंग में डॉ० द्विवेदी के कल्पना-विषयक विवेचन को ही उदाहरण के रूप में लिया जा सकता है। उसके अन्तर्गत उन्होंने कल्पना तथा 'फैन्सी' का ऐतिहासिक क्रम से स्वरूप-विकास, उनके परिनिष्ठित रूप, प्रभेदों का तात्विक कार्य एवं अन्तर तो स्पष्ट किया ही है उनसे मिलती-जुलती अन्य क्रियाओं—बुद्धि, भावना (प्रतिभा आदि) से भी उनके साम्य-वैषम्य को कुशलता से स्पष्ट किया है। 'फैन्सी' का स्वरूप तथा स्थान निरूपित करते हुए उनकी यह मान्यता कि मौलिक कल्पना, उत्तरजात कल्पना, बुद्धि एवं विशुद्ध तर्क की कोटियों में 'फैन्सी' का स्थान उत्तरजात कल्पना के निकट है, उनकी पैनी दृष्टि के साथ उनकी साहित्य मर्मज्ञता की भी परिचायक है।

प्रकार के समीक्षा-ग्रन्थ की पहली अनिवार्यता है। इसके आगे फिर अपनी व्याख्याओं तथा निष्कर्षों का क्षेत्र आता है। डॉ० द्विवेदी की समीक्षा प्रथम स्थिति तक पहुँचकर ही शेष नहीं हो गई है, उपलब्ध विचारों को प्रस्तुत करने के क्रम में ही उनकी अपनी धारणाएँ भी सामने आती गई हैं, जो उनके चिन्तन को दूसरी स्थिति में भी सक्रिय बनाती हैं। उदाहरण के लिए रस-सम्बन्धी भारतीय चिन्तन तथा सौन्दर्य-सम्बन्धी पश्चिमी चिन्तन को उसकी समग्रता में प्रस्तुत करते हुए उन्होंने स्पष्टतः रसानुभूति को अधिक स्थायी स्वीकार किया है। सौन्दर्यानुभूति-सम्बन्धी पश्चिमी धारणा उनके मत से अपेक्षाकृत अधिक तात्कालिक, फलतः काव्य सत्ता के साथ सम्पूर्ण न्याय करने वाली नहीं है।[1] औदात्य तथा आह्लाद की चर्चा करते हुए उन्होंने सौन्दर्यजनित आह्लाद तथा औदात्यजनित आह्लाद में निश्चित अन्तर स्वीकार किया है। उनके मत से जिस प्रकार सुन्दर तथा उदात्त भिन्नार्थक हैं, उसी प्रकार उनसे प्रसूत आह्लाद भी। औदात्यजनित यह आह्लाद रसानुभूति से उत्पन्न आह्लाद से भी भिन्न है कारण "औदात्य से सम्बद्ध आह्लाद की तह में भय, आश्चर्य, पीड़ा आदि अन्य भावनाएँ भी विद्यमान रहती हैं," जब कि रस की परिधि के भीतर भयावह विषयों एवं पदार्थों के लिए किसी ऐसी अनिवार्यता अथवा सीमा का बन्धन नहीं है।[2] यह मत उन धारणाओं को भी खण्डित करता हुआ दिखाई पड़ता है जो औदात्य को ही महाकाव्य की ... स्वीकार करती हुई उसे ही काव्य की आत्मा का गौरव प्रदान करती हैं। रेचन सिद्धान्त की चर्चा के क्रम में उन्होंने उसे मात्र ट्रेजेडी के ही अन्तर्गत सीमित करने वाली धारणाओं का विरोध किया है। वे उसे अभावात्मक भी स्वीकार नहीं करते बल्कि भारतीय साधारणीकरण से उसका सम्बन्ध स्थापित करते हुए उसे अधिक सामान्य भूमि पर मान्यता देते हैं, जो काव्य की सही भूमि है। 'भ्रान्ति तथा अन्विति'-सम्बन्धी विवेचन के अन्तर्गत अन्विति-सम्बन्धी उनकी धारणा प्राचीन विचारकों की अपेक्षा स्वच्छन्दतावादी चिन्तकों के अधिक समीप है। कार्यान्विति को एक सीमा तक स्वीकृति देते हुए उन्होंने देश और काल सम्बन्धी अन्विति को आज के युग के लिए अस्वीकार किया है। उनका मत है कि रंगमंच की बदली हुई स्थितियों के सन्दर्भ में आज वे कारण लगभग समाप्त हो गए हैं जिन्हें दृष्टि में रखकर किसी समय प्राचीन आचार्यों ने देश और काल सम्बन्धी अन्विति को मान्यता प्रदान की थी। जहाँ तक प्रभावान्वित—Totaleffect का प्रश्न है, उसकी सत्ता से इनकार करने का प्रश्न ही नहीं उठता। इस प्रकार संकलन-त्रय-सम्बन्धी पुरानी धारणा को एक सीमा के भीतर

१. "सौन्दर्य का मन पर सीधा प्रभाव पड़ता है, किन्तु ऐसा प्रभाव स्थायी नहीं होता, निरन्तर विलीन होता रहता है। रसानुभूति से प्राप्त आनन्द इतना क्षणिक नहीं होता, रसास्वाद की अवस्था अपेक्षाकृत स्थायी होती है।...रस किसी तत्काल प्रभाव से उत्पन्न नहीं होता, वरन् एक सुनिश्चित व्यवस्था का फल होता है। रस के विभिन्न विधायक तत्व सम्यक् रीति से नियोजित होते हैं, तभी रस का आविर्भाव होता है। अतः यह प्रक्रिया न तो तत्काल सम्पन्न होने वाली है, और न इतनी सरल है जितनी योरोपीय कलावादियों की प्रभाव ग्रहण की प्रक्रिया।" पृष्ठ १४०-१४१।

२. पृष्ठ ६८।

अंशतः ही स्वीकृति देकर उन्होंने अपने स्वतन्त्र दृष्टिकोण का परिचय दिया है। सम्पूर्ण पुस्तक में इस प्रकार डॉ० द्विवेदी की अपनी दृष्टि का योग है। पूर्वाग्रहों से परे, अपने दृष्टिकोण को सामने रखते हुए भी उन्होंने दूसरों की दृष्टि की उपेक्षा नहीं की है। ऐसे अनेक स्थल हैं जहाँ अपनी बात कहते हुए भी उन्होंने दूसरों को आमन्त्रित किया है कि वे भी अपने विचारों से विषय पर नया आलोक फेंकें। साहित्य-समीक्षा का यह एक स्वस्थ दृष्टिकोण है, जिसका स्वागत होना चाहिए।[1]

विवेचन के अन्तर्गत डा० द्विवेदी की अपनी दृष्टि विशुद्ध साहित्यिक है। उन्होंने काव्य को सर्वप्रथम काव्य के रूप में ही देखा है, और उनके मत से काव्य-चिन्तन की यही सच्ची भूमि है। दृष्टिकोण जन्य इस स्थिति पर कुछ विवाद उठ सकता था, परन्तु चूंकि डॉ० द्विवेदी ने काव्य की निर्व्याज सत्ता को स्वीकृति देते हुए भी उसके असमाजिक, जीवन से असंपृक्त रूप की भर्त्सना की है, अतः विवाद की भूमियाँ बहुत कुछ समाप्त हो गई है। 'काव्य कला का स्वायत्व' शीर्षक प्रकरण ही 'काव्य-काव्य के लिए' अथवा 'कला-कला के लिए' मानने वालों का विरोध करता है।

कतिपय समीक्षकों के मत से डॉ० द्विवेदी पाश्चात्य साहित्य-चिन्तन से विशेष रूप से प्रभावित हैं, परन्तु जब हम रसास्वाद-सम्बन्धी उनकी विवेचना तथा मान्यताओं पर दृष्टिपात करते हैं तो उक्त प्रकार के पूर्वाग्रही दृष्टिकोण की कोई गुंजाइश नहीं रह जाती। निस्सन्देह कतिपय क्षेत्रों में डॉ० द्विवेदी पश्चिमी काव्य-चिन्तन की गहराई से अभिभूत हुए हैं, परन्तु ऐसा वहीं है जहाँ इसके लिए अवकाश है। सर्जनात्मक कल्पना-सम्बन्धी विवेचन का ही उदाहरण लें। कहना न होगा कि इस विषय पर जितना तलस्पर्शी विवेचन हमें पश्चिमी साहित्य-चिन्तन में उपलब्ध होता है, उतना भारतीय काव्य-चिन्तन में नहीं। पश्चिमी साहित्य-चिन्तन की उपलब्धियों की हार्दिक स्वीकृति एक बात है, अपने दृष्टिकोण में सम्पूर्णतः उन्हीं से अनुशासित होना बिलकुल दूसरी बात। पश्चिमी साहित्य-चिन्तन से उनके घनिष्ठ सम्पर्क ने यदि उनके विवेचन में अपने संस्कार छोड़े हैं तो इसे स्वाभाविक ही कहा जायगा, परन्तु भारतीय चिन्तन की रेखाएं उनकी समीक्षा में विरल हों—ऐसी बात नहीं। फिर जो समीक्षक साहित्य-चिन्तन की सार्वभौम भूमिका का हिमायती हो और उसी दिशा में कार्यरत हो, उसके लिए तो पश्चिम और पूर्व का यह भेद और भी मिथ्या हो जाता है।

पुस्तक के कतिपय विवेच्य स्थलों को लेकर विवाद की सम्भावना भी हो सकती है। उदाहरणार्थ हम केवल काव्य-प्रेरणा वाला प्रकरण ही लेंगे। अधिकांश भारतीय तथा पश्चिमी विचारकों की भाँति वे सबसे उत्तम साहित्य उसे ही स्वीकार करते हैं जो प्रेरणामूलक हो। ठीक भी है, प्रेरणा से रहित साहित्य अपेक्षित उत्कर्ष

१. "रस सिद्धान्त में जिन भावनाओं की चर्चा आती है और जिनका अपूर्व महत्व है उनके अन्तराल तथा परिपार्श्व में विद्यमान रहकर अपना अद्भुत कार्य करने वाली वह विधायिनी शक्ति कदाचित कल्पना ही है। हम इस प्रश्न पर यहाँ अधिक नहीं लिखेंगे, केवल थोड़ी सी बातें कहकर इस दिशा में विचार करने के लिए हम विद्वानों को आमन्त्रित करते हैं।" पृष्ठ १०८।

नहीं प्राप्त कर पाता, परन्तु प्रश्न यह है कि उस प्रेरणा का स्वरूप क्या है ? अधिकांश विचारक उसे दैवी मानते हैं और डॉ० द्विवेदी ने भी उनके मत से सहमति प्रकट की है। प्रेरणा के स्वरूप की यही दैवी भूमिका काव्य तथा साहित्य में रहस्यवाद, अनिर्वचनीय तथा अलौकिक आनन्दवाद आदि-आदि को जन्म देती है। और इस रहस्यवाद ने काव्य के भीतर प्रविष्ट होकर उसे जितनी अस्पष्ट, असम्भव, अलौकिक, असामाजिक भूमियों पर पहुँचाया है, वह किसी से छिपा नहीं है। इस प्रकार के रहस्यवाद के हिन्दी में सबसे बड़े विरोधी थे आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, उन्होंने काव्य या साहित्य के समस्त दैवी आच्छदों को एक ओर हटाते हुए उसके लौकिक स्वरूप पर ही बल दिया। प्रेरणा को उन्होंने नकारा नहीं, उसकी सत्ता इसी नाना रूपमय जगत के भीतर मानी। मार्क्सवादी चिन्तकों का मत भी बहुत कुछ यही है। डॉ० द्विवेदी ने काव्य-प्रेरणा का विवेचन करते हुए जहाँ अन्य मतों का सविस्तार उल्लेख किया है, वहाँ पता नहीं क्यों मार्क्सवादी धारणा की चर्चा नहीं की। आशा है पुस्तक के नये संस्करण में वे इस प्रश्न पर प्रकाश डालेंगे।

जिस प्रकार बुद्धि या विचारधारा की कोई सीमा नहीं, उसी प्रकार विवेचन तथा विश्लेषण की दिशाएँ भी असीम हैं। काव्य-चिन्तन के प्रायः सभी महत्वपूर्ण पक्षों को अपने चिन्तन की परिधि में समेटते हुए भी यदि डॉ० द्विवेदी से कुछ अपेक्षाकृत कम महत्वपूर्ण विषय छूट गए हों, तो उक्त कथन के सन्दर्भ में इसे स्वाभाविक ही कहा जाएगा। देखना यह है कि जिन विषयों पर पुस्तक में प्रकाश डाला गया है वे कहाँ तक व्यवस्थित एवं निभ्रान्त रूप में सामने आ सके हैं ? इस प्रश्न का उत्तर हम प्रारम्भ में ही दे चुके हैं, अतः उसे दुहराने की आवश्यकता नहीं। पुस्तक के कतिपय प्रकरण जहाँ अपने विषय से सम्बद्ध अब तक की उपलब्ध सम्पूर्ण ज्ञान-राशि को वस्तुपरक भूमिका पर सविस्तार प्रस्तुत करते हैं वहाँ अनेक प्रकरण ऐसे भी हैं जो लेखक की अपनी मनेभूमि को भी स्पष्ट करते हुए विचारशील पाठक को नये सिरे से सोचने के लिए प्रेरित करते हैं। भारतीय तथा पश्चिमी साहित्य-चिन्तन की जिन समान दिशाओं का उल्लेख पुस्तक में है भारतीय काव्य-शास्त्र के नव-निर्माण में संलग्न विद्वान उनका समुचित उपयोग करेंगे—ऐसी आशा सहज ही की जानी चाहिए। डॉ० द्विवेदी की यह पुस्तक उनकी काव्य-मर्मज्ञता, विद्वत्ता तथा चिन्तन-क्षमता को तो असंदिग्ध रूप से प्रमाणित ही करती है, भारतीय तथा पाश्चात्य काव्य-चिन्तन के अध्येताओं के सम्मुख आगे के चिन्तन के लिए नए द्वार भी उन्मुक्त करती है।

डॉ० आनन्दप्रकाश दीक्षित

दिनकर : सृष्टि और दृष्टि

ओजस्वी कवि के रूप में दिनकर ने जो सम्मान अर्जित किया है, उससे कम सम्मान उन्हें 'उर्वशी' जैसी ललित कलाकृति के कृती लेखक के रूप में नहीं मिला है। संस्कृति और इतिहास के चिन्तक, स्वस्थ आलोचक और स्वच्छ गद्य लेखक के रूप में भी 'दिनकर' की उतनी ही प्रतिष्ठा है। स्वाभाविक है कि तीस वर्ष की अथक साहित्य-सेवा आलोचकों का ध्यान आकर्षित करे और पत्रिकाओं में की जानेवाली चर्चाओं से आगे बढ़कर 'दिनकर' के सम्पूर्ण कृतित्व और उनके व्यक्तित्व का एक या अनेक व्यक्तियों द्वारा पुस्तकों के रूप में अनुशीलन-परिशीलन हो। पिछले कुछ वर्षों में उनके कवि-रूप का व्याख्यान करनेवाली कई पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं। प्रस्तुत पुस्तक उनके सम्पूर्ण व्यक्तित्व और कृतित्व दोनों की चर्चा करती है और इस चर्चा में योग देने वाले ३४ लेखों के ३२ लेखकों में सर्वश्री डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, डॉ० नगेन्द्र, आचार्य शिवपूजन सहाय, बनारसीप्रसाद चतुर्वेदी, मन्मनाथ गुप्त भी हैं और श्रीमती कमलारत्नम्, श्री पी० रामेश्वरम्, बालस्वरूप राही, आदि भी हैं। ऐसे संग्रहों में प्रायः होता यह है कि पूर्व-प्रकाशित लेखों के लेखकों से स्वीकृति लेकर संग्रह तैयार कर लिया जाता है, उसके पीछे कोई निश्चित दृष्टि नहीं रहती। सौभाग्य से इस संग्रह के सम्पादक अपने उत्तरदायित्व के प्रति सचेत हैं, अतः 'दिनकर' के व्यक्ति और कृती दोनों रूपों के अन्तर्गत विकास पानेवाली भावधारा और बौद्धिक चेतना से प्रसंगतः संबद्ध महत्वपूर्ण प्रश्नों पर सुचिन्तित लेखों का संग्रह तैयार करना ही उनका लक्ष्य रहा है। एक ही पुस्तक के सम्बन्ध में प्रचलित विभिन्न मतों का स्वतन्त्र लेखों के रूप में संग्रह इसीलिए किया गया है। उर्वशी काव्य पर इसीलिए चार और कुरुक्षेत्र पर दो लेख संगृहीत हैं। लेखों का संग्रह-क्रम कवि के कृतित्व को एक ऐतिहासिक-क्रम में स्पष्ट करने में साधक सिद्ध होगा। रेणका से सामधेनी तक की कृतियों का मूल्यांकन प्रायः विवरणात्मक होते हुए भी सम्पूर्ण पुस्तक का स्वर विवेचनात्मक ही अधिक है। मूल विषय से सम्बद्ध अनेक प्रश्नों को उपस्थित करते हुए आलोच्य लेखक की विचारधारा और उसके कवि-कौशल का प्रकाशन जितनी सुचारुता से इन लेखों में हुआ है, उतनी ही सामर्थ्य के साथ प्रत्येक आलोचक की स्वतन्त्र दृष्टि का उन्मीलन भी हुआ है। सम्पादकों के द्वारा किसी एक ही दृष्टि के पोषक लेखों अथवा लेखकों का संग्रह न किया जाना, एक शुभ लक्षण है। विभिन्न लेखों में उठाए गए प्रश्नों को आधार बनाकर लिखी गई सुस्पष्ट सम्पादकीय पाठक के लिए दिशा निर्देशक का काम करती है।

'दिनकर' के कृतित्व ने विचारकों का ध्यान जिन दिशाओं की ओर आकृष्ट किया है वे हैं, उनकी ओजस्विता, गतिशीलता, गीतोन्मुखता, विद्रोही स्वर, सांस्कृ-

दिनकर : सृष्टि और दृष्टि। सं०—गोपलकृष्ण कौल और हरप्रसाद शास्त्री। प्रकाशक—वातायन प्रकाशन; गाज़ियाबाद। मूल्य—दस रुपये। पृष्ठ सं०—डिमाई ३२०।

तिक और राष्ट्रीय चेतना, मंगल-कामना और विवेक की संयुक्ति तथा जन-तान्त्रिक विचार। संगृहीत लेखों को पढ़ने पर ये सर्वस्वीकृत-सी लगती हैं। उनके सम्बन्ध में जो प्रश्न विशेष चिन्त्य से लगते हैं, वे हैं—१. क्या दिनकर को आचार्य शुक्ल के अनुकूल स्वच्छन्द-धारा का कवि कहा जा सकता है? २. क्या दिनकर 'अज्ञेय' के कथन के अनुरूप 'रोमाण्टिक नैशनलिस्ट' हैं अथवा डॉ० नगेन्द्र के कथनानुसार उन्हें 'सांस्कृतिक-राष्ट्रवादी' लेबिल देकर पहचाना जा सकता है? ३. एक ही काल और परिस्थिति में जीवित रहकर भी दिनकर का काव्य पंत, प्रसाद, निराला और मैथिलीशरण के काव्य से किस माने में भिन्न है और वह किसी वाद के घेरे में कब और क्यों नहीं आता? ४. दिनकर का चिन्तन केवल चिन्तन ही है या कोई समाधान भी प्रस्तुत करता है? तथा ५. खड़ी बोली के साहित्यिक विकास में दिनकर का योगदान क्या है?

उक्त सारी दिशाओं और प्रश्नों का समाधान इस पुस्तक में प्राप्त है। इस सम्बन्ध में प्रकाशित जो वक्तव्य विशेष ध्यान आकर्षित करते हैं वे कुछ इस प्रकार हैं :—डॉ० जयचन्द राय की सम्मति में 'दिनकर' की स्वछन्दता और उनका विद्रोह इस माने में उल्लेख्य नहीं है कि वे स्वच्छन्दतावादी कहे जाने वाले छायावादियों और विदेशी सत्ता के विरुद्ध आवाज उठाने वाले राष्ट्रवादियों के साथ रहे हैं और उनकी कृतियाँ उन धाराओं के अनुकूल हैं, बल्कि वे स्वच्छन्द इसलिए हैं कि, 'कामायनी' या 'तुलसीदास' जैसी गरिमामयी कृतियों की विषय-वस्तु और उनकी शिल्प-विधि का आतंक चौथे दशक पर और स्वभावतः 'दिनकर' पर भी था, किन्तु उसके आगे वे नतशिर नहीं हुए। "वह प्रकृति-प्रेमी के रूप में नहीं, बल्कि जीवन-द्रष्टा के रूप में 'बनफूल' को 'साधारण' का प्रतीक मानकर, श्रद्धापूर्वक ग्रहण करता है। वर्ण्य-विषय का यह विपर्यय मूलतः स्वच्छन्दतावाद से परिचालित होते हुए भी छायावादी काव्य रूढ़ियों के विपरीत पड़ा है। 'दिनकर' की प्रारम्भिक रचनाओं में यह विपर्यय विद्रोह के रूप में अंकित है।" शिल्प में बिम्ब-विधायक तत्वों का अभाव और पच्चीकार होने की धीरता के प्रति उनका असम्मोह, दोनों उनके शिल्प-सम्बन्धी विद्रोह या उनकी स्वच्छन्दता के द्योतक हैं। 'नीलकुसुम' एक प्रयोगवादी रचना मानी जाती है, किन्तु श्री बालस्वरूप राही की दृष्टि में" 'ये कविताएँ वे हैं जिनसे होकर 'दिनकर' जी 'उर्वशी' की रसभूमि तक पहुँच सके हैं।" ये प्रयोगवादी रचनाएँ नहीं हैं, इसलिए कि १. 'दिनकर' जी यह नहीं मानते कि जिस नई संवेदना के वे वाहक हैं, वह हिन्दी के सामान्य पाठक को छू तक नहीं गई है। २. इसमें संकलित कविताओं के विषय 'अपरिचित, अप्रत्याशित और अनपेक्षित' नहीं हैं। ३. प्रयोगवादी कविता मूलतः प्रश्न-चिह्नों की कविता है, संदेह और आशंका की कविता है, नीलकुसुम वैसी कृति नहीं है। "उसमें परम्परा की सुरभि का अभाव नहीं है।" द्विवेदी जी की स्थापना है कि प्रौढ़ किन्तु सुकुमार रचना 'उर्वशी' का 'विस्तीर्ण वपु प्रबन्ध-काव्य जैसा है पर इसका मूल प्रतिपादन गीति-काव्यात्मक है, बहुत कुछ ताजमहल की भाँति।" इसका रूपकीय आवरण विचार करने पर हट जाता है। "दिनकर गति

के कवि हैं, यति में उन्हें आयास करना पड़ता है। वे प्रश्न उठाने में जितने सफल हैं उतना उत्तर जुटाने में नहीं।" तृतीय अंक को समाविस्थ चित्त की देन बताते हुए द्विवेदीजी जिस तरंगायित हृदय से 'उर्वशी' की प्रशंसा करते हैं, शायद उससे अधिक अभिनन्दनात्मक स्वर किसी का नहीं हो पाया या नहीं हो सकता। डॉ० राय ने 'दिनकर' के काव्य में बिम्ब-विधायक-तत्त्व का अभाव बताया है, किन्तु द्विवेदीजी तथा डॉ० नगेन्द्र, दोनों ही 'उर्वशी' की बिम्ब योजना और सम्मूर्तन-कला की प्रशंसा करते नहीं थकते। लेकिन, इन दृष्टियों में विरोध के लिये अवकाश इसलिए नहीं है कि डॉ० राय छायावाद के सन्दर्भ में तात्कालिक कृतियों के आधार पर अपना निष्कर्ष प्रस्तुत करते हैं, जबकि द्विवेदीजी तथा डॉ० नगेन्द्र 'उर्वशी' को लेकर अपने निष्कर्ष उपस्थित करते हैं। डॉ० द्विवेदी तथा डॉ० नगेन्द्र दोनों का एक ही निष्कर्ष है—"दिनकर द्वन्द्व का कवि है, समाहिति का कवि नहीं है, समस्या के सम्पूर्ण उद्वेलन का अनुभव कर प्राणों के पूरे आवेग के साथ अत्यन्त प्रभावमय अभिव्यंजन करना उसके लिए जितना स्वाभाविक है, समाधान प्रस्तुत करना उतना नहीं।" डॉ० नगेन्द्र छायावादोत्तर काल की अद्वितीय प्रबल कृति मानते हुए भी 'उर्वशी' को 'कामायनी' की समता में कुछ नीचा ही मानते हैं, निष्काम काम की धारणा उन्हें अटपटी लगती है और विचार का अन्वय-भंग कला रूप की अन्विति को भी भंग करता जान पड़ता है।

विभिन्न मतों के बीच भी इस पुस्तक में संगृहीत लेखों के निष्कर्षों में एकता है और पाठक के दिग्भ्रम के लिए यहाँ अवकाश नहीं है। आलोचनाओं के बीच 'उर्वशी' के अभिनय के लिए विशिष्ट निर्देश की दृष्टि से श्री वीरेन्द्र नारायण का लेख 'रंगमंच की दृष्टि में उर्वशी' उसके रूपकीय आवरण का भी निर्वाह कर देता है। भाषा और छन्द के सम्बन्ध में भी यद्यपि एक लेख संग्रह में है, तथापि सम्पादकीय में " 'रेणुका' से 'उर्वशी' तक इन काव्यों के भावस्वरों की आन्तरिक दृष्टि से भावानुकूल भाषा-शिल्प का प्रयोग अलग-अलग स्तरों पर दिखाई देता है," कहकर भी इस संग्रह में उस दृष्टि से लिखे गए किसी लेख का अभाव अवश्य खटकता है। दिनकर के व्यक्तित्व और कृतित्व को इतने विस्तृत और सुस्पष्ट रूप में प्रस्तुत करने के कारण इस पुस्तक का महत्त्व अशंकनीय है। पुस्तक संग्राह्य और सम्पादन अभिनन्दनीय है।

मधुरेश

हिन्दी उपन्यास साहित्य का अध्ययन

'हिन्दी उपन्यास साहित्य का अध्ययन' हिन्दी शोध और समीक्षा के क्षेत्र में अप्रत्याशित दिशा से आया एक महत्वपूर्ण स्वर है। डॉ० गणेशन हिन्दी भाषी नहीं हैं परन्तु हिन्दी भाषा और साहित्य पर उनका अधिकार और अपने विषय के लिए विशाल पृष्ठभूमि के तौर पर यूरोपीय साहित्य और साहित्येतर विषयों का उनका अध्ययन सचमुच ही ईर्ष्या की चीज़ है। आज जब कि राजनैतिक और भौगोलिक दृष्टियों से विश्व की सीमाएँ सिमट रही हैं, साहित्य के तुलनात्मक अध्ययन की आवश्यकता स्वतः स्पष्ट होती जा रही है। हिन्दी के उपन्यास साहित्य पर जो दो-तीन महत्वपूर्ण शोध-ग्रन्थ आये हैं, डॉ० गणेशन की पुस्तक उसी दिशा में एक और भी महत्वपूर्ण प्रयास है।

जहाँ तक तुलनात्मक अध्ययन के प्रति दृष्टिकोण का सवाल है डॉ० गणेशन न तो अतिशय संकुचित राष्ट्रीय भावना से बँधते हैं जिसका अनिवार्य रूप ऐसे आलोचकों में मिलता है जिनके लिये अपने देश का समस्त नया-पुराना साहित्य आदर्श और अपने में पूर्ण साहित्य है और जो नारा लगाते फिरते हैं कि इस गये-गुज़रे ज़माने में भी भारत यूरोप को बहुत-कुछ सिखा सकता है—भले ही वह सिखाना फिर नये साहित्य की नई विधाओं और आन्दोलनों से ही सम्बन्धित क्यों न हो जो एकदम अभारतीय न होने पर भी अंशतः ही भारतीय हैं। दूसरी ओर डॉ० गणेशन ने उस प्रवृत्ति से भी बचने की पूरी कोशिश की है जो हीनताग्रन्थि से पीड़ित आलोचकों में बहुधा पाई जाती है और जिनके लिये विदेशी साहित्य की हर चीज़ श्रेष्ठ फलतः अनुकरणीय है। डॉ० गणेशन का दृष्टिकोण पूर्णतः वैज्ञानिक और निर्वैयक्तिक है। वह मानते हैं कि हिन्दी उपन्यास का मूल्यांकन करते समय बाह्य परिस्थितियों से अधिक उसकी अपनी ही उपलब्धियों और सीमाओं एवं अभावों का आकलन अधिक उचित है। उनके तुलनात्मक अध्ययन का उद्देश्य विषय के लिए अधिक विशाल पटभूमि पर देखना और उसके परिणामस्वरूप मूल्यांकन के लिए अधिक परीक्षित और प्रामाणिक दृष्टिकोण की सम्भावना है।

'हिन्दी उपन्यास साहित्य का अध्ययन' आठ महत्वपूर्ण अध्यायों में विभाजित हैं। पहला अध्याय (उपन्यास और उसका महत्त्व) अपने शीर्षक के अनुरूप ही उपन्यास के महत्त्व और क्षेत्र से सम्बन्धित है। लेखक की स्थापना है कि साहित्य की यह विधा जीवन के समानान्तर चलती है और उसके मूल्य अधिकांश में जीवन के ही मूल्य हैं। दूसरा अध्याय (उपन्यास के विकास की रूपरेखा : हिन्दी एवं पश्चिमी)

हिन्दी उपन्यास साहित्य का अध्ययन : डॉ० एस० एन० गणेशन। प्रकाशक : राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली। पृष्ठ संख्या ४६१, डिमाई आकार : मूल्य १२) रु०।

हिन्दी और यूरोपीय उपन्यास साहित्य का संक्षिप्त ऐतिहासिक विकास प्रस्तुत करता है। हिन्दी उपन्यास का जन्म लेखक उन्नीसवीं सदी के अन्तिम पाद से मानता है जो अधिक उपयुक्त और तर्कसंगत है। वेद-उपनिषदों आदि ने, और यूरोपीय देशों में वहाँ की धार्मिक पौराणिक कथाओं ने उपन्यास को कुछ तत्व अवश्य दिये परन्तु प्राचीन कथा-साहित्य को उपन्यास का आधार नहीं माना जा सकता, क्योंकि उसके लिये एक अखण्ड और क्रमशः विकसित शृंखलाबद्ध परम्परा का होना अनिवार्य है। लेकिन ऐसी कोई परम्परा हमें किसी भी देश और साहित्य में उपलब्ध नहीं है। तीसरे अध्याय (वस्तुविधान) में उपन्यास की विभिन्न शैलियों और शिल्प की चर्चा है। उपन्यास के भाव-वेग (Tempo) और लेखक की मनोदशा (mood) का भी विवेचन है और अन्त में प्रेमचन्द और रेणु आदि के औपन्यासिक मूड पर अलग से एक टिप्पणी शामिल है। चौथा अध्याय (उपन्यास और समाज) उपन्यास में विभिन्न सामाजिक समस्याओं के विविध रूपों के विश्लेषण का प्रयास है। पाँचवाँ अध्याय (चरित्रचित्रण) उपन्यास में पात्रों के महत्त्व और चरित्रचित्रण के विभिन्न प्रकारों से सम्बन्धित है। अन्त में लेखक और पात्र के आपसी सम्बन्ध की विवेचना भी है। छठा अध्याय। (उपन्यास और मनोविज्ञान) मनोवैज्ञानिक उपन्यासों का विश्लेषण-विवेचन और हिन्दी में तथाकथित मनोवैज्ञानिक उपन्यासों का मूल्कांकन प्रस्तुत करता है। हिन्दी के मनोवैज्ञानिक उपन्यासों की अनिवार्य सीमाओं का आकलन भी इस अध्याय में हुआ है। सातवाँ अध्याय (यथार्थ, आदर्श और उनसे सम्बन्धित वाद) विभिन्न साहित्यिक वादों की प्रवृत्तियों और विशेषताओं से सम्बन्धित है। यथार्थवाद, आदर्शवाद, प्रकृतिवाद आदि के विभिन्न उपलब्ध रूपों का विश्लेषण और विवेचन यहाँ प्रस्तुत है। लेखक की मान्यता है कि हिन्दी में प्रकृतिवाद जैसी कोई चीज़ नहीं है। यूरोप में प्रकृतिवाद को कलात्मक और वैज्ञानिक आधार मिला है और इसी कारण अपनी सारी सीमाओं के बावजूद वहाँ उसके पीछे एक स्वस्थ जीवन-दर्शन मिलता है। हिन्दी में चतुरसेन, उग्र और मन्मथनाथ गुप्त आदि ने केवल उसके दुर्गुणों को ही आत्मसात किया है। वे प्रकृतिवादी से अधिक नग्नतावादी हैं। अपने मत के समर्थन के लिए लेखक ने हिन्दी के कतिपय गणमान्य समीक्षकों, नन्ददुलारे वाजपेयी, डॉ० श्रीकृष्णलाल, शिवदानसिंह चौहान आदि के मतों का खण्डन और विरोध किया है। आठवाँ अध्याय (उपसंहार : मूल्यांकन) उपन्यास में स्थायी मूल्य के तत्वों, हिन्दी उपन्यास की उपलब्धियों और सीमाओं एवं विश्व-उपन्यास की कुण्ठित दशा आदि के विवेचन से सम्बन्धित है। लेखक का मत है कि हिन्दी उपन्यास में विस्तार अधिक है, अगाधता कम। परन्तु पिछले कुछ वर्षों में ही हिन्दी उपन्यास खूब विकसित हुआ है और इस विधा के अधिकांश उपलब्ध रूप किसी-न-किसी रूप में यहाँ प्राप्त हैं। हिन्दी उपन्यास के आश्वस्त और आस्थापूर्ण भविष्य के प्रति मंगलकामना करते हुए लेखक ने अपना प्रबन्ध समाप्त किया है।

इतने बड़े और बहुविध प्रयास में मतभेद की बेहिसाब गुंजायश मौजूद है। परन्तु जो चीज़ महत्त्वपूर्ण है वह है लेखक के दृष्टिकोण को सहानुभूति से समझना

और उसके निकाले गए निष्कर्षों को देखना-परखना। वैसे मतभेद के दो-एक उदाहरण देकर अपनी बात को स्पष्ट किया जा सकता है। प्रेमचंद के विषय में लेखक का कथन है "उनके (प्रेमचंद) पूर्ववर्ती उपन्यास साहित्य से उनकी तुलना करें तो स्पष्ट होगा कि उस समय तक परम्परा की जो शृंखला चलती आई उसकी एक कड़ी के रूप में वह नहीं आये।"

यह ठीक है कि प्रेमचन्द का आगमन हिन्दी उपन्यास के क्षेत्र में एक क्रान्तिकारी घटना थी और शायद इससे भी अधिक उचित यह कहना है कि वह अपने समय से बहुत आगे थे। परन्तु यह भी ठीक है कि भारतेन्दुकाल में हिन्दी के सामाजिक उपन्यासकारों—जिनके उपन्यासों से डॉ० रामविलास शर्मा हिन्दी के यथार्थवादी उपन्यासों का प्रारम्भ मानते हैं, जो तिलस्मी और ऐयारी उपन्यास के समानान्तर ही विकसित हो रही थी, वही अपने श्रेष्ठतम और विकसित रूप में प्रेमचंद में प्राप्त होती है। और इस प्रकार प्रेमचंद इसी परम्परा की एक विकसित कड़ी के रूप में ही समझे जाने चाहिए।

फ्रेंच के 'रोमन फ्लूव' उपन्यासों का वर्णन-विवेचन करते समय लेखक ने हिन्दी का एकमात्र ऐसा उपन्यास 'शेखर : एक जीवनी' को माना है जब कि उसने ऐसे उपन्यासों की जो विशेषताएँ बताई हैं उनपर अश्क के 'गिरती दीवारें' और उसके आगे की कड़ियों को भी परखा जा सकता है और नलिन विलोचन शर्मा ने उसे एक रोमन फ्लूव उपन्यास का ही उदाहरण माना है।

जहाँ कुछ उपन्यासकारों पर लेखक ने एकदम मौलिक (कहीं कहीं तो चौंका देने की हद तक) दृष्टि से विचार किया है वहाँ यशपाल पर लेखक ने कोई मौलिक और नई दृष्टि नहीं दी है। यशपाल हिन्दी के समर्थ और अतिशय महत्वपूर्ण उपन्यासकार हैं, उनपर लेखक ने न सिर्फ चलते-फिरते ढंग से कुछ कहा-सुना है, कहीं-कहीं तो डॉ० रामविलास शर्मा के मतों और विचारों को ही अपनी भाषा में दोहरा दिया है।

प्रबन्ध की भूमिका में लेखक ने यह स्पष्ट कर दिया है कि यह किसी पुस्तक या लेखक का अध्ययन नहीं है और चूंकि उसका ध्यान प्रवृत्तियों की ओर ही अधिक रहा है बहुत से महत्वपूर्ण लेखक और कृतियाँ छूट भी गई हैं। परन्तु लेखक के इस स्पष्टीकरण से भी पूर्ण सन्तोष नहीं होता है। इतने बड़े प्रबन्ध में अमृतलाल नागर, भैरवप्रसाद गुप्त और राजेन्द्र यादव का कोई उल्लेख तक नहीं है! क्या यह कहना अधिक संगत है कि ये लेखक किसी प्रवृत्ति विशेष के अन्तर्गत नहीं आते हैं? भाषा और शैली के विवेचन की दृष्टि से भी अमृतलाल नागर का 'बूंद और समुद्र' कुछ खोके ही छोड़ा जा सकता है—यहाँ भी वह इसी कीमत पर छोड़ा जा सका है। जहाँ तक राजेन्द्र यादव का सवाल है किन्हीं अर्थों में वह हिन्दी में अपनी मिसाल आप हैं। वस्तु और शिल्प का सम्यक् सामंजस्य और मध्यवर्गीय वस्तुतत्व की दृष्टि से वह न केवल अत्यन्त महत्त्वपूर्ण लेखक हैं—मध्यवर्गीय चिन्तन और समस्याओं को रेखांकित करने में वह अपने ढंग के अकेले भी हैं। जैसा कि डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अपनी

संक्षिप्त भूमिका में कहा है कि अहिन्दी भाषी होने के नाते लेखक बहुत से पूर्वाग्रहों से बच सका है जिनमें हिन्दी का आलोचक सहज ही फँस जाता है। लेकिन एक ओर उसके अहिन्दी भाषी होने का जो यह लाभ रहा है वहीं दूसरी ओर यह हानि भी रही है कि साहित्यिक वातावरण और समस्याओं की इस स्वाभाविक दूरी के कारण बहुत सी बातों को सहज रूप में ग्रहण कर सकने की स्थिति में भी वह नहीं रहा है इसलिये जहाँ एक ओर उसने यज्ञदत्त, मन्मथनाथगुप्त आदि उपन्यासकारों के नाम लिये हैं, उनकी रचनाओं के हवाले दिये हैं वहीं उपरोक्त तीन लेखकों को एकदम अनदेखा कर दिया गया है। यह ठीक है कि यह हिन्दी उपन्यास साहित्य का सामान्य अध्ययन है, किसी काल विशेष का नहीं, लेकिन कालान्तर के निर्देश से हमारे अध्ययन में निश्चय ही सुभीता हो सकता था। जैसे डॉ० सुषमा धवन ने अपने शोध में १९५५ तक के उपन्यासों को लिया है और इसका स्पष्ट निर्देश कर दिया है, यहाँ ऐसा कुछ नहीं है। इसीलिये देश के विभाजन की समस्या से सम्बन्धित उपन्यासों में जहाँ 'इंसान', 'धर्मपुत्र' और 'कठपुतली' आदि उपन्यासों का नाम लिया गया है, 'झूठासच' को एकदम भुला दिया गया है। लगभग यही स्थिति राष्ट्रीय आन्दोलन से सम्बन्धित उपन्यासों के विवेचन के समय 'भूले बिसरे चित्र' के साथ है। आपत्ति यह नहीं है कि इन उपन्यासों को क्यों छोड़ दिया गया है, आपत्ति यह है कि हम अँधेरे और कन्फ्यूजन में रहते हैं।

जहाँ उपन्यास और मनोविज्ञान से सम्बन्धित एक पूरा अध्याय है वहीं यदि उपन्यास और राजनीति से सम्बन्धित भी एक अध्याय होता तो अच्छा था। हिन्दी और रूसी दोनों ही साहित्यों में राजनीति ने उपन्यास में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है—साहित्य में राजनीति का अनुपात-निर्धारण अर्से से आलोचकों का सरदर्द रहा है। हिन्दी में आज भी ऐसे आलोचक हैं जो राहुल, यशपाल, भैरवप्रसाद गुप्त, अमृतराय आदि को उपन्यासकार मानने में आपत्ति करते हैं क्योंकि इन आलोचकों की तरह इन लेखकों को राजनीति चौकाहूत कर देने वाला हऊआ नहीं रही है।

एकाध इस तरह की भी साधारण भूलें मिलती हैं कि 'प्रत्यागत' को वृन्दावन लाल वर्मा के बदले इलाचन्द्र जोशी का उपन्यास माना गया है (पृष्ठ संख्या १५९) और इससे भी अधिक यह कि जोशीजी के अन्य अपन्यासों के साथ रखकर उस पर भी 'विषयाधिक्य' का आरोप लगाया गया है।

अन्त में यह और कि इन साधारण बातों को यदि छोड़ दिया जाये तो 'हिन्दी उपन्यास साहित्य का अध्ययन' एक अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रकाशन है। हमारे विश्वविद्यालयों में हिन्दी शोध को लेकर जैसी अनार्की चल रही है, हमारे तथाकथित आचार्य साहित्य को जिन पैमानों से आँकने-परखने के आदी हैं, आधुनिक साहित्य (और वह भी उपन्यास!) के प्रति जैसी उदासीनता बरती जाती है उन सब अरुचिकर स्थितियों से उबरने में प्रस्तुत कृति से बहुत सहायता मिल सकती है।

डॉ० चन्द्रभूषण तिवारी

'नया हिन्दी काव्य'

'नया हिन्दी काव्य' डॉ० शिवकुमार मिश्र की नव प्रकाशित शोध-कृति है, जिसमें छायावादोत्तर हिन्दी-कविता और उसके वस्तु-सन्दर्भ को समग्रता में ग्रहण करने का प्रथम प्रयास व्यक्त हुआ है। इस ग्राह्यता की शक्ति है, रचयिता की यह स्वस्थ, सकारात्मक दृष्टि—"मैंने काव्य या साहित्य को—मात्र व्यक्तिगत इच्छा-पूर्ति के रूप में स्वीकार न कर, उसे एक सामाजिक पदार्थ—एक माध्यम के रूप में देखा है।" इसे पूर्वाभिनिवेश कहें और छायावादोत्तर हिन्दी-कविता की नूतन रूप-विधाओं और अभिव्यक्ति-माध्यमों तक ही परिसीमित रहें, यह हमारी सीमा हो सकती है, लेकिन '३६ के बाद की साहित्य-प्रवृत्तियों तथा उनकी विशेषताओं का आकलन सिर्फ़ नूतन रूप-विधाओं और अभिव्यक्ति-माध्यमों के आधार पर संभव नहीं है। तत्कालीन साहित्यकार की परिस्थितियाँ (जिन्हें शोधकर्त्ता ने 'युगीन अनिवार्यता' की संज्ञा दी है) एक व्यापक सामाजिक, सांस्कृतिक तथा मानवीय भूमि पर प्रसार पाती हैं, जिनकी असंगतियों को तथा उनके बीच से उभरे अन्विति-सूत्र को ग्रहण करने के लिए अभिव्यक्ति-माध्यमों से अधिक परिवर्तित परिस्थितियों के प्रति संवेदनाशील होना आवश्यक है। प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में रचयिता का सम्पूर्ण विवेचन संवेदनशीलता के इसी धरातल पर उभरा है। एक ओर उसमें उस निस्संग वस्तुमूलकता का अभाव है, जो यान्त्रिक विधि से प्रसार पाती है, दूसरी ओर उस आदर्श-रति का जो परिवर्तित स्थितियों को आरोपित धारणाओं के पाश में आबद्ध कर वैयक्तिक और विच्छिन्न बना देती हैं।

हिन्दी-साहित्य में परिवर्तन का यह काल-बिन्दु है—१९३६, जिसका परिचय देते हुए डॉ० मिश्र ने कहा है—"यही वह वर्ष है, जबकि साहित्य और राजनीति दोनों में ही आदर्शवादी भावुकता के स्थान पर यथार्थवादी बौद्धिकता और भौतिकता को प्रश्रय मिला।" नया हिन्दी काव्य परिवर्तन के इस काल-बिन्दु तथा इसकी पट-कथा को जिस समग्रता में प्रस्तुत करता है, आधुनिक काव्य-प्रवृत्तियों के आकलन की दृष्टि से हिन्दी शोध-क्षेत्र की यह एक स्वतन्त्र उपलब्धि है। इसका प्रारम्भिक अंश—विषय-प्रवेश से लेकर क्रमागत काव्य-धाराओं के विवेचन के पूर्व तक, प्रायः इसी से सम्बद्ध है, जिसके अन्तर्गत १९३६ से '५५ तक की काव्य-प्रवृत्तियों की आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक-सांस्कृतिक पृष्ठभूमि तथा उसकी अन्तर्राष्ट्रीय पीठिका का विस्तृत वस्तुमूलक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। "इन बीस वर्षों के दौरान," जैसा कि डॉ० मिश्र का निष्कर्ष है, "जितनी ही जटिल, वैविध्यपूर्ण, गतिमान एवं जागरूक हमारे देश की परिस्थितियाँ—और उनसे सम्बद्ध काव्य-चेतना रही है, लगभग उतनी ही जटिलता, विविधता, गतिशीलता और जागरूकता हिन्दी की साहित्यिक चेतना ने भी प्रस्तुत की है।" ऐसी स्थिति में उसके ऐतिहासिक सम्बद्ध-

सूत्रों का अन्वेषन और आकलन जितना ही आवश्यक है, उतना ही दुस्तर भी। इसके लिए शोधकर्ता की दृष्टि का समसामयिक चेतना से युक्त रहना तो आवश्यक है ही, विकासमान साहित्य के मूलभूत तत्त्वों से यथेष्ट परिचित होना भी अपेक्षित है। प्रबन्ध का दूसरा आधारभूत दृष्टिकोण इसी से सम्बद्ध है। इस दृष्टि से प्रस्तुत दूसरे तथा तीसरे अध्याय की भूमिका युगीन सामाजिक तथा सांस्कृतिक मनोभूमि से जुड़कर इस दिशा में किये जाने वाले कार्य के लिए एक आवश्यक सन्दर्भ-स्रोत बन गई है।

विवेचन की सुविधा तथा सहजता की दृष्टि से शोधकर्त्ता ने छायावादोत्तर हिन्दी-कविता की जो कोटियाँ निर्धारित की हैं (उत्तर छायावादी व्यक्ति-परक काव्य, प्रगतिवादी काव्य-धारा, प्रयोगवादी काव्य-धारा, मध्यवर्ती काव्य-धारा, नव्यत्तर गीति-कविता आदि), ये सभी परिचित हैं। अपने विवेचन-क्रम में जिस सफलता के साथ उसने उनकी विभेदक रेखाओं तथा वर्णों को ग्रहण किया है, उसी सहज सूक्ष्मता के साथ उसने उनके बीच से उभरने वाले सामंजस्य के स्तर की भी कल्पना की है—वस्तुतः, वह कौन-सा ऐसा तत्त्व है, जो इन सभी प्रवृत्तियों के बीच से उभरकर एक अन्विति में इन्हें पूर्ववर्त्ती काव्य से भिन्न कर रहा है—मात्र अभिव्यंजना का धरातल, मुक्त असंगतियों, बिम्बों तथा प्रतीकों की नूतनता या वस्तु-चेतना की नूतन भूमि, मूल्यों के नये स्तर और इन्हें अपनी समस्त असंगतियों के साथ ग्रहण करता नया मनुष्य ? नया हिन्दी-काव्य का यही अन्विति-सूत्र है—प्रतिक्रिया सर्वत्र है, एक-दूसरे के विरुद्ध जितना नहीं, उससे अधिक पूर्ववर्त्ती धरातल के विरुद्ध और यह विरोध मूलक (Antithetic) सामंजस्य ही इस अन्विति-सूत्र का विधान करता है। इसीलिए भिन्न-भिन्न रुचियों के साथ 'तार सप्तक' के कवियों में एकत्र होने की आकांक्षा है। दूसरे 'सप्तक' तक शमशेर, भवानी प्रसाद मिश्र, और गिरिजाकुमार माथुर की रचनाएँ भी इसी अन्विति-सूत्र से जुड़ी हुई हैं। शोधकर्त्ता ने इस तथ्य को बड़ी ही सूक्ष्मता के साथ ग्रहण किया है, और इसी कारण उसे 'मध्यवर्ती काव्य' के रूप में नई कोटि के निर्धारण की आवश्यकता महसूस हुई है, जिसके अन्तर्गत प्रायः ऐसे ही कवियों का समाहार हुआ है, जिन्हें आश्वस्त होकर प्रगतिवाद या प्रयोगवाद की काव्य-सरणियों में से किसी एक से सम्बद्ध करके सीमित नहीं किया जा सकता। 'स्वस्थ सामाजिक विषय-वस्तु' और 'नये शिल्प' का समन्वय ही इनकी विशेषता है।

सामंजस्य का दूसरा धरातल 'नव्यतर-गीति-कविता' का है—जो सदृश काव्य-विधा के अतिरिक्त जीवन के प्रति एक आस्थामूलक दृष्टि का भी परिणाम है। इस तथ्य की ओर संकेत करते हुए डॉ० मिश्र ने कहा भी है—"ये न केवल जीवन के प्रति आस्थावान हैं, वरन् उसके निर्बाध विकास के लिए हर प्रकार की स्वीकृतियाँ प्रदान करते हैं।" सामंजस्य के इन उभय स्तरों का प्रकाशन और इनका विस्तृत विवेचन प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध के निजी प्रदेय हैं—यद्यपि इस प्रयत्न में डॉ० मिश्र ने युग के विरोधी स्वरों को तिरस्कृत नहीं होने दिया है, न सामंजस्य के प्रसंग पर अतिरिक्त बल दिया है। यह उनका अभीष्ट भी नहीं है।

वस्तुतः, १९३६ के बाद परस्पर भिन्न दृष्टियों की सजगता के सहसा न लक्षित होने की बात को एक खास सीमा तक ही स्वीकार किया जा सकता है। विरोध-मूलक सामंजस्य इस युग का औपचारिक सत्य है, संक्रमण-काल में साहित्य अथवा कला में असंगतियों की प्रच्छन्न अभिव्यक्ति अन्यत्र भी हुई है, लेकिन इसका अर्थ प्रवृत्ति-विरोध का न होना अथवा उसका पिछले दशक की वस्तु होना (जैसा कि कतिपय नये समीक्षक मानने लगे हैं) नहीं है। प्रारम्भ के कुछ वर्षों में, सृजनशील चेतना तथा युगीन मनोभूमि के बीच एक प्रकार की रिक्तता अवश्य है और यही कारण है कि इस समय का सम्पूर्ण संस्कृति-प्रवाह खण्डित आदर्शों के दलदल में फँसा हुआ दीखता है, लेकिन यह पूरे युग का सत्य नहीं है।

नया हिन्दी-काव्य' के वैशिष्ट्य का आधार इसलिए सिर्फ़ यह नहीं है कि उसने 'मध्यवर्ती काव्य' अथवा 'नव्यतर गीति-कविता' के रूप में युगीन अन्तर्विरोध के बीच से सामंजस्य का स्तर प्रकाशित किया है, बल्कि यह है कि उसने साहित्येतिहास के अतिशय सूक्ष्म प्रसंगों को तथा युग चेतना के सम्पूर्ण स्वर को ग्रहण करने का प्रयत्न किया है। उत्तर छायावादी व्यक्तिपरक काव्य से लेकर प्रगतिवादी तथा प्रयोगवादी काव्य का विवेचन करते हुए शोधकर्ता की दृष्टि असंगतियों के मुख्य प्रवाह अथवा प्रवृत्ति-विरोध पर ही निरन्तर टिकी है और इस प्रयत्न में उसने तथाकथित तटस्थता का दावा नहीं किया है। स्पष्ट ही उसकी सहानुभूति प्रगतिकामी स्वरों के साथ है, लेकिन इसका आधार कविता या कला की वह समाज-सापेक्षता है, जो कविता या कला के स्तर पर प्रसार पाकर ही स्वीकृत होती है और जिसके अभाव की ओर लक्ष्य करते हुए प्रगतिवादी कवियों के सम्बन्ध में डॉ० मिश्र का यह कथन द्रष्टव्य है—"ये कदाचित इस तथ्य के प्रति उदासीन रहे कि काव्य अथवा साहित्य अपनी साहित्यिकता—को स्थिर रखते हुए भी सामाजिकता व मानवीय मूल्यों में खरे उतर सकते हैं।" व्यवहारिक विवेचन के क्रम में हिन्दी का प्रयोगवादी काव्य और उसकी वे समस्त कलागत प्रवृत्तियाँ (जिनके समानधर्मी स्वरों को पश्चिम में 'फ्यूनेम्बूलिज़्म' कहा गया है), रचना के स्तर पर व्यक्ति-मानस की नव-प्रकाशित रेखाओं तक, उनके सामने रही हैं और हमें यह कहने में प्रसन्नता है कि डॉ० मिश्र ने बड़ी सूक्ष्मता के साथ उनके तात्विक आधारों को ग्रहण किया है।

अन्ततः, इस निष्कर्ष के साथ कि इस कृति के माध्यम से हिन्दी-कविता के दो दशकों की मनोभूमि अपने सम्पूर्ण सामाजिक और साहित्यिक सन्दर्भ को लेकर पहली बार सामने आई है, आधुनिक हिन्दी समीक्षा की एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि के रूप में इसे हम स्वीकार करते हैं।

डॉ० महेन्द्र भटनागर

काव्य का देवता : निराला[1]

श्री सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' जी की मृत्यु (सन् १९६१) के बाद उनके काव्य पर प्रकाशित होने वाली प्रथम समीक्षा-पुस्तक (सन् १९६३) 'काव्य का देवता : निराला' है। इसके लेखक प्रसिद्ध आलोचक श्री विश्वम्भर 'मानव' हैं। 'मानव'जी की आलोचनाएँ पूर्वाग्रहों पर आधारित नहीं होतीं तथा उनकी दृष्टि वाद-ग्रस्त भी नहीं है। उनकी समीक्षा-पुस्तकों का स्तर एकेडमिक रहता है। तटस्थता व निष्पक्षता उनमें पाई जाती है। आलोच्य रचना का वे सभी पहलुओं से अध्ययन करते हैं। जहाँ तक 'निराला' जी के काव्य के अध्ययन का प्रश्न है, उन्हें इस विषय का अधिकारी माना जा सकता है। जैसा कि स्वयं लेखक ने प्राक्कथन में कहा है, "जहाँ तक मेरा सम्बन्ध है, मैं अपने को छायावाद के प्रारम्भिक व्याख्याकारों में से समझता हूँ।" जागरूक पाठकों को यह बताने की आवश्यकता नहीं थी; फिर भी इसे गर्वोक्ति न मानकर तथ्य-सूचक वक्तव्य ही मानना होगा। 'मानव'जी ने महादेवी (सन् १९४४), सुमित्रानंदन पंत (सन् १८५१), और प्रसाद (सन् १९६२) पर स्वतन्त्र समीक्षा-पुस्तकें लिखी हैं तथा प्रसादजी की 'कामायनी' पर लिखी उनकी व्याख्या-पुस्तक के ऐतिहासिक महत्त्व से भी हम अनभिज्ञ नहीं हैं। इसमें सन्देह नहीं, प्रस्तुत पुस्तक 'काव्य का देवता : निराला' अपनी मौलिक विवेचना व अनेक अभिनव स्थापनाओं के कारण हिन्दी-आलोचना की उल्लेखनीय उपलब्धि है।

'काव्य का देवता : निराला' में समधीत समीक्षक ने गहन अध्ययन एवं तीव्र ग्रहण-शक्ति का ही परिचय नहीं दिया है, प्रत्युत इस तथ्य को भी सदा सामने रखा है कि किस प्रकार निरालाजी का जीवन उनकी साहित्य-साधना को प्रभावित व नियन्त्रित करता रहा है। इस पद्धति के कारण उनके निष्कर्ष विश्वसनीय हो उठे हैं। प्रारम्भ के दो अध्याय निरालाजी के जीवन और व्यक्तित्व पर ही हैं। उनके काव्य से सम्बन्धित अध्यायों के शीर्षक हैं—प्रकृति, प्रेम, अध्यात्म-चिन्तन, प्रार्थना-गीत, सौन्दर्य के चित्र, ओज की अभिव्यक्ति, करुणा के प्रसंग, हास्य-व्यंग्य, स्वतन्त्र विषय, प्रशस्तियाँ, व्यक्तिपरक रचनाएँ, संस्कृति का प्रश्न, कल्पना की दिशाएँ, कला: उपलब्धि और सीमाएँ, आदि। काव्य-समीक्षा के प्रमुख तत्त्व, अथवा छायावादी कविता के प्रमुख अंग अथवा निराला-काव्य की विशेषताओं से सम्बद्ध सभी बहुचर्चित प्रसंग उपर्युक्त सूची में समाहित हैं। निरालाजी के काव्य पर संक्षेप में, बड़े सार्थक ढंग से तथा अत्यधिक स्पष्ट बातें प्रस्तुत पुस्तक में मिलती हैं।

प्रस्तुत समीक्षा-पुस्तक की एक और विशेषता यह है कि आलोचक ने सम्पूर्ण हिन्दी-साहित्य के परिप्रेक्ष्य में निराला-काव्य का अध्ययन किया है। इससे साहित्य-धारा का अविच्छिन्न-क्रम ही स्पष्ट नहीं होता, प्रत्युत निरालाजी की देन का भी सही

१. लेखक—श्री विश्वम्भर मानव, प्रकाशक—लोक-भारती प्रकाशन, इलाहाबाद-१, मूल्य ४.५० पैसे।

मूल्यांकन होता जाता है। स्पष्ट है, एक छोटी पुस्तक में अधिक विस्तार में नहीं जाया जा सकता था, फिर भी पूर्व-पीठिका के रूप में यथास्थान सम्बद्ध सामग्री दी गई है। निरालाजी पर यद्यपि पर्याप्त लिखा गया है, फिर भी 'मानव'जी ने अपनी समीक्षा में किसी अन्य समीक्षक के उद्धरण नहीं दिए हैं। न अपनी बात की पुष्टि में और न किसी विवाद को उठाते समय ही। यद्यपि इसका सम्बन्ध उनके स्वतन्त्र व्यक्तित्व से जोड़ा जा सकता है, तथापि समीक्षा में इस सबकी अपेक्षा तो रहती ही है। अन्य समीक्षकों की स्थापनाओं का यदि कहीं उल्लेख है भी तो वह सामान्य ढंग से, विशिष्ट नहीं। प्रत्येक पाठक उन संकेतों को कहीं-कहीं तो समझ ही नहीं सकता। 'व्यक्तित्व' वाले अध्याय में "निरालाजी के सम्बन्ध में जो संस्मरण पाये जाते हैं, उनमें से अधिकतर तो ऐसे हैं जो पढ़ने योग्य ही नहीं हैं।...कुछ थोड़े से दिलचस्प हैं—दिलचस्प इस अर्थ में कि उनमें कैमरे का रुख अपनी ओर अधिक है, निरालाजी की ओर कम।...इनमें से किसी को उनकी याद सहसा उस समय आई जब वह अमरीका में एज़रा पाउण्ड से मिलने जा रहा था, किसी से जब वे मिले तो उस समय वह कम-से-कम सात भाषाएँ जानता था, किसी से ठीक ऐसे समय भेंट हुई जब उसकी किसी विशेष कहानी की चर्चा चारों ओर फैली हुई थी।" 'प्रशस्तियाँ' शीर्षक अध्याय में 'अणिमा' की किसी कविता-विशेष के बारे में, "लेकिन दूसरी रचना तो एकदम आश्चर्य में डाल देती है।...जो प्रसंग उठाया गया है वह ऐसा है कि उस पर कुछ कहने में संकोच लगता है, अतः निराला के ही शब्दों में सुनिये—।" पर निराला के शब्द उद्धृत कर देने के बाद भी बात स्पष्ट नहीं होती।

निरालाजी की सर्वाधिक सशक्त रचना 'राम की शक्ति पूजा' है। 'मानव'-जी ने इसके कथानक के सम्बन्ध में लिखा है, "रामकथा पर आधारित होते हुए भी वाल्मीक की रामायण और तुलसीदास के रामचरित मानस में यह प्रसंग इस रूप में नहीं पाया जाता, अतः लोग इसे निराला की मौलिक उद्भावना समझते रहे हैं।... लेकिन मुझे प्रारम्भ से ही ऐसा सन्देह था कि इस रचना का मूल बँगला-काव्य में कहीं होना चाहिए।...संयोग की बात है कि इस सन्देह के निवारण के लिए कहीं दूर नहीं जाना पड़ा। कृतिवास की बँगला रामायण को उलट-पलटकर देखा तो पूरे विस्तार के साथ वहाँ यह प्रसंग मिल गया।" पर, कृतिवास की बँगला रामायण और 'राम की शक्ति पूजा' के सम्बन्ध में अन्यत्र भी लिखा गया है (देखिए 'तुलसीदल' के अंक), यह एक अद्भुत संयोग की बात है कि यह तथ्य निरालाजी के निधन के बाद विदित हो सका। इसमें सन्देह नहीं, यदि यह बात पहले मालूम पड़ गई होती तो अवश्य प्रकाश में आती।

'काव्य का देवता : निराला' में निराला के परवर्ती काव्य पर अपेक्षाकृत संक्षेप में ही विचार किया गया है। 'तुलसीदास' के बाद लिखी उनकी कृतियों को काव्य-कला की दृष्टि से हीन भी माना गया है। इसके अतिरिक्त निराला-काव्य के कला-पक्ष पर सामान्य बातें ही लिखकर काम चला लिया गया है। शैली के प्रयोग, मुक्त छन्द, भाषा के बोध आदि उप-शीर्षकों में लिखित सामग्री अत्यल्प है।

(पृष्ठ ४ का शेष)

कता' ही 'नयी कहानी' के नयेपन का आधार है, उन्होंने दावा किया कि नयी कहानी देश के अस्सी फ़ीसदी ग्रामीण जनों के अन्तर्बाह्य जीवन के यथार्थ-चित्रण की कहानी है। शहर के वातावरण में पले कथाकारों ने प्रतिवाद किया कि युग का बदलता परिवेश नगरवासी मध्यवर्ग के जीवन और चेतना पर दबाव डालकर उसे संश्लिष्ट बना रहा है—इस जीवन की द्रुतगामिता, घुटन और संकुलता को नये परिवेश के सन्दर्भ में रखकर पेश करना ही नयी कहानी का कार्य है। इसमें सन्देह नहीं कि ग्राम और नगर के आधार पर किसी युग की कहानी का विभाजन कृत्रिम है और जीवन के किसी एक क्षेत्र तक ही कहानी के कथ्य को सीमित कर देने की कोशिश तो और भी ग़लत है। यह तो कथाकारों के एक वर्ग की अक्षमताओं को सैद्धान्तिक मान्यता दिलवाने के प्रयत्न जैसी चीज़ है। आज की कहानी अगर शहर के मध्यवर्ग के जीवन की ही कहानी हो सकती है तो 'रेणु' की 'तीसरी कसम' और 'लाल पान की बेगम' तथाकथित 'नई कहानी' के वृत्त में नहीं आतीं। और अगर आंचलिक जीवन का चित्रण ही 'नई कहानी' की विशेषता है तो 'मलवे का मालिक', 'मिस पॉल' और 'एक ज़िन्दगी और' को उसके वृत्त से बाहर रखना होगा। संतोष की बात है कि इस बहस की निरर्थकता शीघ्र ही समझ ली गई और यह परिच्छेद बंद हो गया। लेकिन फिर भी अन्दर-ही-अन्दर एक ऐसा तिलिस्म घटित हुआ कि 'नई कहानी' के मंच पर सिर्फ़ मध्यवर्ग के 'आकुल जन की संकुलता' का चित्रण करने वाले ही रह गये। यह क्यों और कैसे हुआ, यह महत्व की बात नहीं है। इस प्रसंग में याद रखने लायक महत्व की बात सिर्फ़ यह है कि इससे मंच छोटा हो गया और प्रचार की खातिर Mass circulation वाली सेठाश्रयी पत्र-पत्रिकाओं की मदद पाने के लिए, जो समस्त जनवादी और राष्ट्रीय उद्देश्यों और लक्ष्यों का खुले आम विरोध करती हैं, इस मंच को और भी संकीर्ण बनाते जाना पड़ा। यानी 'नई कहानी' की परिभाषाओं को अधिक-से-अधिक अस्पष्ट, दुर्बोध, अमूर्त और नकारात्मक बनाने की विवशता के आगे झुकना पड़ा—शायद जानबूझ कर नहीं, बल्कि अनजाने ही उस विकृत और रुग्ण मानसिकता के दबाव में पड़कर, जिसे सामाजिक और राजनीतिक प्रतिक्रियावाद की शक्तियाँ अपने सूचना और प्रसार के यंत्र-साधनों द्वारा पैदा कर रही हैं। इस 'बहाव' में अपने को बहने देने का परिणाम यह हुआ कि परिस्थिति के तर्क ने उन्हें इस बात के लिए मजबूर कर दिया कि वे कुछ मित्र-कथाकारों की साहित्यिक प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिए 'तू मरा हाजी बिगोयम, मैं तुरा हाजी बिगो', की कहावत के अनुसार एक-दूसरे की प्रशंसा और आत्म-प्रशंसा के लिए 'नई कहानी' के मंच का इस्तेमाल करें और अपने वक्तव्यों में कुछ ऐसी उद्धत भंगिमा अपनायें कि पाठक को लगे कि आज हिन्दी कहानी में केवल ये चार-छः रचनात्मक प्रतिभाएँ ही हैं, बाकी सब पुराने या नये लेखकों में या तो प्रेमचन्द-यशपाल की तरह आधुनिक भाव-बोध का अभाव है या वे जैनेन्द्र-अज्ञेय की तरह 'कुंठा, पराजय और घुटन' को 'स्वयं-सिद्ध सत्य' मानकर चलते हैं, उसे 'व्यापक परिप्रेक्ष्य

में, अधिक तटस्थ और निर्वैयक्तिक दृष्टि के साथ चित्रित' करने में असमर्थ हैं।

साहित्य-रचना का मुख्य उद्देश्य जब हर संभव तरीके से साहित्य में शीर्ष स्थान पाने के लिए आत्म-विज्ञापन करना हो जाय तो दृष्टि स्व-केन्द्रित हो जाती है, इतिहास का परिप्रेक्ष्य आँख से ओझल हो जाता है और विचार और भावना का संतुलन खो जाता है। 'नई कहानी' के आन्दोलनकर्त्ताओं ने भी यही ग़लती दुहराई। नामवरसिंह ने तथाकथित 'नई कहानी' को मूल्यांकन से मुक्त रखने के लिए आरंभ में ही फतवा दिया कि आलोचना की रूढ़ पद्धति के अनुसार नई कहानी पर 'अच्छी और बुरी' या 'श्रेष्ठ और घटिया' के मानदंड लागू नहीं किए जा सकते। विश्लेषण इस बात का होना चाहिए कि कहानी 'नई' है या 'पुरानी'! फिर सिद्ध किया गया कि 'नई कहानी' न परंपरा का तिरस्कार है न विस्तार, क्योंकि नई कहानी से पहले कहानी की 'कोई तात्कालिक परम्परा' ही नहीं थी (राजेन्द्र यादव)। यानी सन् ४० से ५० के दशक (प्रगतिवाद) ने आज की कहानी को कुछ नहीं दिया (यशपाल, अश्क, चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, भगवतीचरण वर्मा, रांगेय-राघव, चन्द्रकिरण, अमृतलाल नागर, विष्णु प्रभाकर, मंटो, कृशनचन्दर, राजेन्द्र-सिंह बेदी, अस्मत चुग़ताई, अब्बास और एक दर्जन दूसरे कहानीकारों की श्रेष्ठतम कहानियाँ युद्ध-काल या उसके कुछ पहले और बाद की उथल-पुथल और संक्रान्ति के बीच ही रची गई थीं और वे सारी-की-सारी न 'रिपोर्ताज' हैं, न उन सब में 'नारे और भाषण' हैं, न 'आवेश, उत्साह और आग की लपटों के साथ-साथ अन्धाधुन्ध शब्दों का लावा फूटता' है और न उन कहानियों के 'हर दूसरे वाक्य में नया सूरज निकाल दिया जाता' है।) अपने अग्रजों के ही नहीं, अपने इतिहास की प्रगतिशील परम्परा के प्रति इस तरह का हिक़ारत भरा दृष्टिकोण 'दृष्टि' की स्वस्थता के दावों के बावजूद रुग्ण और आत्म-केन्द्रित बौद्धिकता का सूचक है। परम्परा को नकारने के लिए शब्दों की विचित्र जादूगरी से काम लिया गया। कहा गया कि पुरानी कहानी ने 'समूहगत सामाजिकता' को अभिव्यक्ति दी थी, किन्तु नई कहानी 'व्यक्तिगत सामाजिकता' को अभिव्यक्ति देने का अभूतपूर्व कार्य कर रही है। परिभाषा के और भी अनेक सूत्र गढ़े गये। एक स्वयं-सिद्ध तथ्य के रूप में यह मान लिया गया (या अवान्तर से 'पुरानी' कहानी पर यह आरोप लगाया गया—जिसमें प्रेमचन्द और यशपाल की ही नहीं, मोपासां, ओ'हेनरी, तॉलस्तॉय, चेखव, गोर्की, रवीन्द्र और शरत् आदि सभी पूर्ववर्ती कथाकारों की कृतियाँ शामिल समझी जानी चाहिए) कि 'पुरानी' कहानी फार्मूला-बद्ध कहानी थी, चरित्र-चित्रण, कथोपकथन, 'नाटकीय प्रारंभ, क्लाइमैक्स और अप्रत्याशित अंत' जैसे रूढ़ सांचों में ढली, साफ़-सुथरी, कटी-छंटी, वगैरह। (कितनी बुरी बात है!) और पुराने कथाकार? वे सबके सब एक 'आरोपित आदर्शवाद' को स्वीकार करके चलते थे, जिसके कारण वे पहले 'केन्द्रीय आइडिया' चुनते थे, बाद में उसको 'उद्घाटित' करने के लिए चरित्र-चित्रण, कथोपकथन आदि को 'आलंम्बन-उद्दीपन' की तरह इस्तेमाल करते थे, या उस आइडिया के कंकाल पर हाड़-मांस थोपते थे। (कितने घटिया और

कला की रचना-प्रक्रिया से अनभिज्ञ थे वे सब !) और हर पुराने कथाकार का सब-से बड़ा क़सूर यह था कि वह 'अपने को समाज का नियामक, पथ-प्रदर्शक और भविष्य-द्रष्टा मानकर चलता था।' (कमलेश्वर) वह भोक्ता नहीं था, स्वयं 'अस्तित्व के संकट' को न झेलता था, न भोगता था, न उसकी 'रचना का बलाघात' (!) 'मनुष्य और उसकी परि-स्थितियों' पर था, न 'उसकी रचना-दृष्टि का सीधा सम्बन्ध आसपास जीये जा रहे जीवन के साथ तथा जीवन की विडम्बनाओं और विभ्रमों को झेलते हुए व्यक्ति के साथ' था। (राकेश) इन सभी संकीर्णताओं से कहानी को मुक्ति दिलाने वाला 'नया कहानीकार', इसके विपरीत, 'व्यक्ति और उसके परिवेश के अन्दर से ही संवेदना और व्यंग्य के सूत्र उठाकर इन्हें कथा-खण्डों में बुन देता है।'

इस प्रकार आज की कहानी को व्यक्ति की कुण्ठाओं के यथातथ्यवादी (नेचुरलि-स्टिक) चित्रण के मार्ग पर डाल कर, जिससे नई कहानी 'अंधेरे में एक चीख' मात्र बन गई और नया कहानीकार अस्ति-त्ववादी-दर्शन का विज्ञापक, 'नई कहानी' के मंच से एक 'विद्रोही' और 'बुतशिकन' के अन्दाज़ में कुछ कथाकारों ने अपनी और अपने मित्र वर्ग की दुन्दुभी कुछ ऐसे बेसुरे और फूहड़ ढंग से बजाई कि उसकी तीव्र प्रतिक्रिया स्वाभाविक हो गई। 'आधुनिकता' और 'नयेपन' के ये दावे, और कथ्य और विचार-स्तर पर परम्परा और 'आरोपित आदर्शवाद' से 'नई कहानी' को मुक्त कर उसे एक नई ही विधा का रूप देने की ये गर्वोक्तियाँ दरअसल उनके कृतित्व से पूरी तरह मेल नहीं खाती थीं, क्योंकि राकेश, कमलेश्वर या राजेन्द्र यादव अभी तक अपने पुराने, एक सीमा तक सामन्ती और पेटी-बुर्ज़्वा संस्कारों से पूरी तरह मुक्ति नहीं पा सके हैं जो उनकी कहानियों में मानव-सम्बन्धों के चित्रण में अनिवार्यतः झलक आते हैं। दर असल उनमें 'आदर्शवाद' (या गहरे मानवतावादी दृष्टिकोण) से अधिक 'नई कविता' वालों जैसी 'आधुनिकता' का नकली भाव-बोध ही अधिक 'आरोपित' है, और उन्होंने जो 'अच्छी' कहानियाँ लिखी हैं वे 'नई' से अधिक शुद्ध 'फार्मूला-बद्ध' कहानियाँ ही हैं और जो नये मसनूई परिभाषा-सूत्रों (यानी नये फार्मूलों) के अनुसार लिखी गई कहानियाँ हैं, जैसे 'ग्लास टैंक' (राकेश) या 'टूटना' (राजेन्द्र यादव) वे या तो अधिकतर अस्वस्थ और घटिया क़िस्म की हैं या निहायत बोर, क्योंकि 'नेचुरलिज़्म' की पद्धति से फ्लाबेयर, ज़ोला या जेम्स ज्वायस और कामू की प्रतिभा का लेखक ही किसी कलात्मक कृति का निर्माण कर सकता है। यह कला-निर्माण का विप-रीत-मार्ग है। इन सब बातों को ध्यान में रखकर ही शायद निर्मल वर्मा ने स्वी-कार किया कि सही अर्थों में 'नई कहानी' तो अभी तक हिन्दी में लिखी ही नहीं गई—जो इस नाम पर लिखी जा रही हैं वे न 'नई' हैं न 'कहानी' हैं। उन्होंने यह भी दावा किया कि चूंकि कहानी की सभी सम्भावनाएँ चेखव एक्सप्लॉट कर चुके हैं, इसलिए अब कोई 'कहानी' वास्तव में 'नई' नहीं हो सकती। इस विवशता से मुक्ति पाने का एक ही मार्ग है कि कहानी की जगह 'अ-कहानी' (एण्टी कहानी) का विकास किया जाय। 'नई

कविता' की भी परिणति 'अ-कविता' में हुई थी और पाश्चात्य देशों में (विशेषकर फ्रान्स में) नाटक की परिणति भी 'अ-नाटक' (एण्टी थियेटर) में हो चुकी है और ये आन्दोलन कलात्मक चेतना के विघटन की लकीर छोड़ते हुए तीन-चार सालों में ही दम तोड़ चुके हैं। निर्मल वर्मा ने चाहे 'नई कहानी' के दावेदारों की विचारगत असंगतियों को सही क्यों न पकड़ा हो, लेकिन 'अ-कहानी' हमारे कथा-साहित्य की अगली विकास-दिशा निश्चय ही नहीं है।

अन्त में, हमें राकेश के मन की इस वेदना से हार्दिक सहानुभूति है कि अविश्वास के वातावरण में "व्यक्ति-व्यक्ति के स्तर पर साहित्यिक अभिसन्धियाँ जन्म लेने लगती हैं। प्रश्न, प्रश्न नहीं रह जाते, केवल अभिसन्धियों के आग्रह बन जाते हैं।" लेकिन इस स्थिति के लिए ज़िम्मेदार कौन है? कल के बुतकिशन मन्दिर में अपने बुत खड़े करके यह उम्मीद नहीं कर सकते कि उनके द्वारा तिरस्कृत उनसे अगली पीढ़ी के नौजवान लेखक अपने बुतों को स्थापित करने के लिए उनके बुतों को तोड़ना शुरू नहीं करेंगे। आज के प्रचार-युग में सभी शब्द के धनी हैं, डिमॉगॉजी और वाग्जाल का सभी इस्तेमाल कर सकते हैं। शब्दों का सतर्कता, गम्भीरता, सूक्ष्मता और ज़िम्मेदारी से प्रयोग करने का चलन नहीं रहा। तर्क और चिन्तन की वैज्ञानिक पद्धति (साहित्य और कला के क्षेत्र में, जहाँ आ... आत्म-विज्ञापन अशोभन और अनैतिक नहीं समझा जाता) त्याग दी गई है। 'नई कहानी' के मंच को 'व्यक्ति-स्त... की अभिसन्धि' के रूप में परिणत कर... वाले अन्य विचित्र नामों से जन्म ले... वाली 'व्यक्ति-व्यक्ति स्तर की अभि-सन्धियों' पर क्षोभ तो प्रकट कर सकते हैं, लेकिन इस क्षोभ के लिए वे औचित्य कहाँ से जुटायेंगे? 'नई कहानी' अगर 'अन्धेरे में चीख' थी, तो कोई दूसरी कहानी 'अन्धेरे में से निकलने की चीख' होने का दावा कर सकती है। देखिए कितनी आसानी से 'बलाघात'(!) बदल गया? खैर जहाँ तक हिन्दी के प्रबुद्ध पाठकों और आधुनिक दृष्टि-सम्पन्न आलोचकों का सम्बन्ध है, उनकी नज़र में आज की कहानी 'आज की कहानी' है, उसकी उपलब्धियाँ इन संकीर्ण आन्दोलनों और प्रत्यान्दोलनों से परे की वस्तु हैं। वे श्रेष्ठ कहानी को ही पसन्द करते हैं, चाहे वह यशपाल, अश्क, विष्णु, बेदी, कृशनचन्दर की लिखी हो या नई कहानी और सचेतन कहानी के मंचधारियों की या उन तरुण कथाकारों की, जो किसी भी गुट में शामिल नहीं हैं।

शिवप्रसाद सिंह चौहान

राजकमल प्रकाशन की नई पुस्तकें

- *साहित्यिक निबन्ध* : **डॉ० लक्ष्मीनारायण सुधांशु**

बहुत अरसे के बाद सुधांशुजी के साहित्य और समीक्षा से सम्बन्धित निबन्धों का नया संकलन प्रकाशित हो रहा है।

अक्तूबर '६४ में प्रकाश्य।

- *रेखा* : **श्री भगवतीचरण वर्मा**

मानव-मन के रहस्यों का उद्घाटन करने वाला, वर्माजी का नवीनतम उपन्यास जो पाठक को बरबस अपने सम्मोहन में बाँध लेगा।

अक्तूबर '६४ में प्रकाश्य।

- *अंग्रेज़ी-हिन्दी कोश* : **रेवरेण्ड फ़ादर सी० बुल्के**

अब तक के प्रकाशित सब अंग्रेज़ी-हिन्दी कोशों से अधिक उपयोगी और प्रामाणिक। वर्षों के श्रम और अध्यवसाय का परिणाम।

प्रेस में।

- *मानविकी पारिभाषिक कोश* : **प्रधान सम्पादक डॉ० नगेन्द्र**

तीन खण्ड दिसम्बर '६४ तक प्रकाश्य।

साहित्य खण्ड : डॉ० नगेन्द्र
दर्शन खण्ड : डॉ० वी० एस० नर्वणे
मनोविज्ञान खण्ड : डॉ० पद्मा अग्रवाल



राजकमल

राजकमल प्रकाशन

दिल्ली-६ : पटना-६

एक परम मर्मस्पर्शी उपन्यास का प्रकाशन

चौरंगी

कलकत्ता की विश्व-विख्यात चौरंगी में एक है होटल—'शाहजहाँ' ! इस 'शाहजहाँ' को केन्द्र में रखकर जो ज़िन्दगी बहती है वह केवल कलकत्ता की ज़िन्दगी ही नहीं है, आज के समूचे 'मॉडर्न' हिन्दुस्तान की ज़िन्दगी है—वह हिन्दुस्तान जो अंग्रेज़ से आज़ादी पाने के साथ ख़ुद ही अंग्रेज हो गया !

"जो लोग कहते हैं कि सत्रह सौ इक्यावन ईसवी में पलासी के आम बगान में अंग्रेज़ों ने भारतवर्ष पर विजय किया था, उन्हें 'हिस्ट्री' का कुछ पता नहीं ! अंग्रेज़ जीते इन्हीं आँखों के सामने—उन्नीस सौ सैंतालीस ईसवी के १५ अगस्त के दिन ! एकदम, एक ही क्षण में, समूचा देश अंग्रेज़ बन गया ।"

सांस्कृतिक कार्यक्रमों के नाम पर जो कुछ 'शाहजहाँ' की स्टेज पर हो रहा है, वही देश में भी···

"पूरब और पश्चिम खुले दिल से, नंगे शरीर से आपस में गले मिल रहे हैं···पश्चिम ने लाज-शरम के सब दरवाज़े तोड़ दिए हैं ।···सभ्यता के नाम पर एक मकड़ी का जाल दूसरी मकड़ी के जाल में उलझ गया है !"

देश में क्या जनता का राज है ? यहाँ तो "जूट के राजा, तेल के राजा, घी के राजा, लोहा, अलमोनियम, कपड़े, कोयले के राजे-रजवाड़ों" की तूती बोल रही है ! चावल और गेहूँ का अभाव सताता होगा अभागों को, लेकिन 'शाहजहाँ' के 'रेग्युलर पेट्रन' फोकला चटर्जी कहते हैं :

"अपने दुख की बात क्या बताऊँ ? चारों ओर हर चीज़ का अभाव है । बिज़नेस लाइन में हम लोगों को लड़की नहीं मिलती है, यानी काम की लड़की···!"···"लाइए, आप एक-से-एक खूबसूरत लड़कियाँ लाइए, नाच-गाने चलते रहें—हर देश, हर जाति का मिलन-केन्द्र हो जाए, यह 'शाहजहाँ' होटल !"

"चौरंगी" में मिलिए लिज़ा, सूसन मनरो, गुड़बेरिया, विलियम घोष, लैम्ब्रेटा, डॉ० सदरलैंड, स्याटा बोस, न्याटा हरि, फोकला चटर्जी, कनि, करबी गुहा, मार्कोपोलो, मिस्टर अग्रवाल, मिसेज़ पकड़ासी, मिसेज़ चकलादार जैसे चरित्रों को !

मूल्य अग्रिम भेजने पर डाकखर्च नहीं लिया जाता ।

मूल्य ११ रुपये मात्र : चौरंगा आकर्षक कवर : सुमुद्रित ५२८ पृष्ठ



राजकमल प्रकाशन

दिल्ली-६ : पटना-६

श्री ओंप्रकाश, मैनेजिंग डाइरेक्टर, राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लि० ८ फ़ैज़ बाज़ार, दिल्ली के लिए श्री सत्यप्रकाश गुप्ता द्वारा नवीन प्रेस, दिल्ली में मुद्रित ।

सम्पादक शिवदानसिंह चौहान

३२ आलोचना

राजकमल प्रकाशन

...गड़ी विश्वविद्यालय हरि...

त्रै मा सि क आ लो च ना

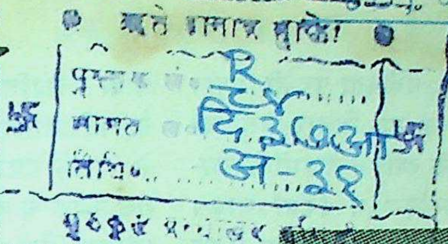
...र्षांक ३१ नवांक १ जुलाई, १९६४

...र्षिक मूल्य १२)
...५ अंक का ३)

प्रत्येक अंक रजिस्ट्री से पाने के लिए १४)

सूची

आलोचना



आज की कहानी : आन्दोलन की उपलब्धियाँ

'आज की कहानी' यानी स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद की (हिन्दी) कहानी। 'नई कहानी' उसे मैं इसलिए नहीं पुकार रहा, क्योंकि राजेन्द्र 'यादव' की तरह मुझे भी अहसास है कि "चूँकि हर युग की कहानी 'नई' होती है इसलिए पिछले दशक की कहानी को 'नई कहानी' नाम देना आगे जाकर अध्येताओं के लिए ग़लतफहमी पैदा कर सकता है।" और इसी अहसास के कारण मैं उनसे इस बात में सहमत नहीं हूँ कि चूँकि आज की कहानी की "इस धारा को कोई-न-कोई नाम तो देना ही होगा" इसलिए और किसी उपयुक्त नाम के अभाव में उसे 'नई कहानी' कह-कर ही पुकारा जाय। ऐसी किसी विवशता का तर्क-संगत आधार नहीं दिखाई देता। बल्कि, इस विवेकपूर्ण अहसास के बावजूद आज की कहानी को 'नई कहानी' का नाम देने का जो बहुप्रचारित दुराग्रह चलाया गया है, उसने आलोचकों और पाठकों से ज़्यादा स्वयं 'नई कहानी' नाम के विज्ञापक रचनाकारों के लिए जटिल उलझनें पैदा कर दी हैं।

साहित्य और कला में अब तक प्रवृत्यात्मक नामकरण की ही प्रथा रही है, जैसे यथार्थवाद और कल्पनावाद (रोमान्टिसिज़्म) जो मनुष्य की सहज, वस्तुनिष्ठ और भावनिष्ठ सौन्दर्य-दृष्टियों पर आधारित हैं, अथवा प्रतीकवाद, प्रयोगवाद आदि, जो कला-निर्माण की किसी विशिष्ट पद्धति को रेखांकित करते हैं या अन्त में प्रगतिवाद और रूपवाद (कलावाद) जो साहित्य सम्बन्धी दो दार्शनिक दृष्टिकोणों के सूचक हैं। इन सौन्दर्य-दृष्टियों और रचना-पद्धतियों में से किसी को अपने-आप में 'नये' या 'पुराने' की कोटि में रखना संभव नहीं है, क्योंकि रचना-प्रक्रिया में उनकी विवृत्ति आदिकाल से होती आई है और किसी देश-काल के विशिष्ट सन्दर्भ में ही नये उभरते सत्य या पुराने रूढ़िवादी जीवन-मूल्यों और मान्यताओं का प्रतीक मान-कर उनका समर्थन या विरोध किया जाता रहा है। इस ऐतिहासिक अनुभव का तिरस्कार करके आज की कहानी को 'नई कहानी' नाम देने का परिणाम यह हुआ है कि उसके विश्लेषण और मूल्यांकन का कोई सामान्य आधार नहीं रहा।

'नई कविता' और उससे पहले 'प्रयोगवादी कविता' वालों ने भी यह ग़लतफहमी पैदा करने की कोशिश की थी, ताकि 'प्रयोगों' की विशिष्टता, प्रतीकों

और बिम्बों की नवीनता पर ही ध्यान दिया जाय, कथ्य या विचार-वस्तु को जीवन वास्तव के व्यापक सन्दर्भों में रखकर उसका मूल्यांकन न किया जाय। सूक्ष्म संकेतों की परिमार्जित भाषा में यह बात विभिन्न ढंगों से कही और समझायी गई। 'युग-सत्य' को सार्थक और सशक्त अभिव्यक्ति देने योग्य भाषा गढ़ने और संवारने के प्रयोग प्रतिभाशाली लेखक आदिकाल से करते आये हैं, इसलिए 'प्रयोग' से किसी भी संवेदनशील कवि को कोई आपत्ति नहीं थी, और स्वस्थ प्रगतिशील चेतना तथा रुग्ण मानस के आत्मवादी, कुण्ठाग्रस्त दोनों प्रकार के कवियों ने 'प्रयोग' की इस नई धारा में समान रूप से क्रियात्मक योग दिया। लेकिन धीरे-धीरे 'प्रयोगवाद' और बाद में 'नई कविता' ने एक आन्दोलन का रूप ले लिया और एक विशेष प्रकार की समाजद्रोही और अनास्थावादी मानसिकता से इस आन्दोलन को संबद्ध करके स्वस्थमना प्रगतिशील कवियों को इस आन्दोलन के प्रचार-वृत्त से बहिष्कृत कर दिया गया। इस आन्दोलन के प्रवक्ताओं ने ईलियट, पाउण्ड और दूसरे पाश्चात्य कवियों से प्रेरणा लेकर प्रयोगवाद के सूत्र गढ़े और आरम्भ से ही काव्य की हर भारतीय परम्परा का तिरस्कार किया—केवल इसलिए नहीं कि उनकी भाषा, ग्रभिव्यक्ति के प्रकार, बिम्ब, प्रतीक और उपमाएं बहुत घिसी-पिटी और निरर्थक हो गई थीं, बल्कि इसलिए भी कि उनमें अन्तर्धारा के रूप में प्रवाहित जीवन के प्रति आस्था और आशा का स्वर उन्हें अपने विशिष्ट गुट के समाजवाद-विरोधी जीवन-दर्शन और व्यक्तिवादी मनोवृत्ति के प्रतिकूल लगा। ख़ैर, नई कविता का यह आन्दोलन जितने ढोलों से नगाड़े बजाता हुआ उठा था, वह एक दशक के अन्दर ही एक दयनीय मौन चीत्कार के साथ विस्मृति के गर्त में विलीन हो गया, अर्चिन-कट के बालों वाले फैशन की तरह जिसने सुन्दर और स्वस्थ स्त्रियों को भी एक विक्षिप्त और अकाम्य रूप दे दिया था। नई कविता के आन्दोलन की उपलब्धि? हिन्दी कविता से सामान्य पाठक की भयंकर विरुचि और उसकी काव्य-संवेदना की विकृति। कहने का यह मतलब नहीं कि इस बीच प्रयोगवादी ढंग की श्रेष्ठ और सफल कविताएँ नहीं लिखी गईं, लेकिन जितने बड़े दावे किये गए उनके मुक़ाबले में श्रेष्ठ प्रयोगवादी या 'नई' कविताओं की फ़सल नगण्य रही और नई सामाजिकता, युग-सत्य आदि को अभिव्यक्ति देने के जो वादे किये गए, वे सामाजिकता और युग-सत्य को झुठलाने के रूप में ही अक्सर पूरे हुए। स्फूर्ति, अन्तर्दृष्टि और चेतना को गहराई देने की जगह उन्होंने अवसाद, कुंठा, व्यर्थता और अनास्था ही पैदा करने की कोशिश की। फिर भी, इस प्रसंग में इस तथ्य को रेखांकित करने की ज़रूरत है कि प्रगतिवादी आन्दोलन की तरह प्रयोगवादी आन्दोलन भी (काव्यगत प्रयोग नहीं) आधुनिक युग के उस विश्व-व्यापी संघर्ष का अंग था जो समाजवादी और पूंजीवादी शक्तियों और जीवन-दर्शनों के बीच छिड़ा हुआ है। दोनों साहित्य-दृष्टियों के विरोध का आधार व्यक्तिगत नहीं था, न ये आन्दोलन कुछ व्यक्ति-लेखकों को साहित्यिक मान्यता प्रदान कराने के

निमित्त उनके कवित्व की 'अपूर्व विशिष्टताओं' के मनगढ़न्त और स्वेच्छाचारी दावों से शुरू हुए थे।

हर नया साहित्यिक आन्दोलन अपनी पूर्ववर्ती परम्परा से विद्रोह करता है, किन्तु साथ ही उस परम्परा की श्रेष्ठ और मूल्यवान उपलब्धियों का अपने अन्दर समाहार करके उसका विस्तार भी करता है। सामन्ती नैतिक भाव-बोध की संकीर्णताओं में क़ैद रीतिवादी कविता के विरुद्ध छायावाद का विद्रोह, अगर ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में देखा जाय तो, वास्तविक अर्थ में मौलिक और युगान्तरकारी था। लेकिन व्यक्ति की महत्ता का उद्घोष करते हुए भी छायावाद ने भावना और विचार के स्तर पर भक्ति-काव्य की जनवादी परम्पराओं का तिरस्कार नहीं किया। प्रगतिवाद ने छायावादी काव्य में बढ़ती हुई असामाजिक व्यक्ति-निष्ठा और पराजयवाद की प्रवृत्तियों के विरुद्ध विद्रोह किया, लेकिन साथ ही प्रसाद, पंत, निराला के काव्य के मूलतः मानववादी और मुक्तिकामी स्वर को पूरा समर्थन दिया और उसे हिन्दी साहित्य की अक्षुण्य विरासत के रूप में स्वीकारा। इसके विपरीत एक आन्दोलन के रूप में प्रयोगवाद और बाद में नई कविता ने पाश्चात्य की मानवद्रोही कला-प्रवृत्तियों के प्रभाव में समूची भारतीय साहित्य-परम्परा का तिरस्कार करके अपने को एकदम अभूतपूर्व और विशिष्ट सिद्ध करने की कोशिश की। इस आन्दोलन के संचालकों ने औद्धत्य से भरा कुछ ऐसा रुख अपनाया मानो उनसे पहले के सभी कवि और साहित्यकार मूर्ख थे, 'आरोपित आदर्शवाद' की दलदल में फंसे दयनीय प्राणी थे, जिससे वे 'यथार्थ' को खुली आँखों से देखने में असमर्थ रहे और चूंकि वे कला की 'रचना-प्रक्रिया' से अनभिज्ञ थे, इसलिए उनकी कविता सही मानों में कविता नहीं है, वह इतिहास, पुराण, दर्शन, नैतिक-उपदेश समाजशास्त्र आदि और चाहे जो कुछ हो। परम्परा का इस तरह सम्पूर्ण तिरस्कार हमारे इतिहास में पहली बार किया गया। फिर भी, जैसा मैं पहले कह चुका हूँ, इस 'विद्रोह' का मुख्य उद्देश्य कुछ व्यक्तियों को साहित्यिक मान्यता दिलवाना नहीं था, बल्कि साहित्य-जगत् में ऐसी उद्धत व्यक्तिवादी कुंठा और मानवद्रोही अनास्था का वातावरण पैदा करना था, जिसमें नई पीढ़ी के लेखकों का सहज मानवीय भाव-बोध इतना विकृत, आत्मपरक और क्षुद्र बन जाय कि युग के व्यापक प्रश्नों और जन-जीवन के यथार्थों के प्रति उनका मन एकदम असंवेदनशील हो जाय और एक संकीर्ण अस्तित्ववादी भावना के वशीभूत होकर वे सभी सामाजिक लक्ष्यों, प्रगतिशील जीवनादर्शों और मानव-मूल्यों को झूठा और व्यक्ति-स्वातन्त्र्य पर बाहर से आरोपित बन्धन के रूप में समझने लगें। संगठित आन्दोलन के रूप में प्रगतिवाद और प्रयोगवाद चाहे विघटित हो गये हों, लेकिन वे आधुनिक युग की जिन दो परस्परविरोधी विचारधाराओं का प्रतिनिधित्व करते हैं, वे आज भी उतनी ही सक्रिय हैं और उनका संघर्ष भी उतना ही गहरा है। दोनों ने अपने-अपने ढंग की मानसिकता को जन्म दिया है और कोई पुराना या नया लेखक यह दावा नहीं कर सकता कि वह इनमें से किसी भी प्रवृत्ति से प्रभावित नहीं है।

इसमें सन्देह नहीं कि स्वतन्त्रता के बाद व्यक्तिनिष्ठ प्रयोगवादी विचार-दर्शन से हमारा कथा-साहित्य भी एक सीमा तक प्रभावित हुआ और अनेक आत्मकथात्मक और नीरस उपन्यास लिखे गए। लेकिन जीवन-यथार्थ को व्यापक सामाजिक सन्दर्भ में प्रस्तुत करने की अनिवार्यता ने हमारे कथाकारों को अधिक देर तक गुमराह नहीं होने दिया और वे जीवन के बड़े कैनवास को चित्रित करने की ओर प्रवृत्त हुए। अनेक सशक्त और कलात्मक कृतियाँ सामने आईं। हिन्दी उपन्यास ने रवीन्द्र, शरत् और प्रेमचन्द की परम्परा को एक नये बौद्धिक और कलात्मक स्तर पर नया रूप-संस्कार और गहराई दी। कहानीकारों ने भी नई सामाजिक दृष्टि से प्रेरित अनेक श्रेष्ठ कहानियाँ रचीं। इनमें पुरानी और नई दोनों पीढ़ियों के लेखकों का योगदान था।

लेकिन प्रयोगवाद और नई कविता के आन्दोलनों ने परम्परा का तिरस्कार करके अपनी काव्य-शैली की विशिष्टता और प्रगतिशील विचारधारा और सामाजिक दायित्वों के प्रति उदासीन रहने की जिस प्रवृत्ति का इतने ज़ोर-शोर से प्रचार किया था, उसकी तात्कालिक सफलता ने स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद की पीढ़ी के कथाकारों और आलोचकों को एक प्रकार से चकाचौंध कर दिया और उन्हें 'आत्माभिव्यक्ति' का ही नहीं बल्कि साहित्य में जल्द-से-जल्द 'आत्म-प्रतिष्ठा' का एक प्रोग्राम भी सुझा दिया। 'नई कहानी' का मंच तैयार करने की शुरुआत हुई, जो संभवतः आरंभ में 'नई कविता' के मंच के मुक़ाबले में खड़ा किया गया था, ताकि युग के विचार-संघर्ष में तरुण कवियों की तरह तरुण कथाकार भी लक्ष्य-भ्रष्ट न हो जायं। इसके अलावा राकेश, रेणु, कमलेश्वर, राजेन्द्र 'यादव', शिवप्रसाद-सिंह, मार्कण्डेय, अमरकान्त और कई दूसरी तरुण रचनात्मक प्रतिभाएं सामने आ चुकी थीं। उनकी कहानियों में व्यक्तिगत वैशिष्ट्य के साथ-साथ, कुछ सामान्य शिल्पगत विशेषताएं भी थीं, और भाषा, अभिव्यक्ति और 'एप्रोच' में भी कुछ नवीनता थी। ऐसा होना स्वाभाविक था। अगर वे प्रेमचंद और यशपाल या जैनेन्द्र और अज्ञेय की शैली और कहानी-शिल्प की आवृत्ति ही करते तो निश्चय ही उनकी कहानियां मूल्यवान न होतीं और न कथाकार के रूप में उनके व्यक्तित्वों का विकास होता। दरअसल यह 'नवीनता' बदलते हुए सामाजिक परिवेश के सन्दर्भ में स्वाभाविक विकास-प्रक्रिया का परिणाम थी, जिस तरह यशपाल, मंटो और कृशनचन्दर की कहानियाँ प्रेमचन्द और सुदर्शन की कहानियों से भिन्न और नये ढंग की थीं। लेकिन 'नई कविता आन्दोलन' की देखा-देखी नामवरसिंह ने सन् ५० के बाद की कहानी की शैली-शिल्प-भाषा और 'एप्रोच' की 'नवीनता' को समझाने के लिए 'नई कहानी' का नया सौन्दर्य-शास्त्र और उसकी नई परिभाषा तराशने का ज़िम्मा लिया। 'नयी कहानी' का जब मंच तैयार हो गया और उसे नई परिभाषाओं के शाब्दिक बन्दनवारों से सजा दिया गया तो मंच पर कब्ज़ा जमाने के लिए आपस में खींचतान शुरू हुई। जिन्हें ग्राम्य जीवन का ज़्यादा अनुभव था और 'रेणु' के 'मैला आँचल' की अभूतपूर्व सफलता से सोच बैठे थे कि 'आँचलि-

(शेष पृष्ठ १४५)

हजारीप्रसाद द्विवेदी

सिसृक्षा का स्वरूप—आत्मदान की व्याकुलता

'मालविकाग्निमित्र' में एक प्रसंग में कालिदास ने कलाकार की असफलता का एक कारण 'समाधि की शिथिलता' को माना है। किसी चित्रकार ने मालविका का चित्र बनाया था। राजा ने उसे देखा था और मालविका के सौन्दर्य से वह प्रभावित हुआ था। पर उसके मन में संदेह था कि वस्तुतः उसे चित्र में मालविका का रूप जैसा दीख रहा है वैसा वास्तव में है या नहीं। उसे इस बात की सम्भावना अधिक दीखी थी कि चित्रकार ने वास्तविक रूप को अधिक कमनीय बना दिया होगा। परन्तु जब एक दिन सचमुच ही मालविका दीख गई तो उसे अपने हृदय का सन्देह दूर करने का मौक़ा ही नहीं मिला, यह भी लगा कि वस्तुतः वह उलटे ढंग से सोच रहा था। मालविका वास्तव में जितनी सुन्दर थी उतनी सुन्दरता चित्रकार नहीं दिखा सका था। राजा को लगा कि चित्रकार से ग़लती हो गई है। क्यों वह ठीक नहीं बना सका? क्यों वह चित्रणीय की कान्ति को यथोचित मात्रा में अपनी कृति में नहीं निखार सका? राजा ने सोचा कि ज़रूर चित्र बनाते समय चित्रकार की समाधि शिथिल हो गई थी। समाधि की शिथिलता ही चित्र को ठीक-ठीक न बना सकने का कारण हो सकता है—

चित्रगतायामस्यां कान्तिविसंवादि मे हृदयम्।
सम्प्रति शिथिलसमाधिं मन्ये येनेयमालिखिता॥

इस प्रकार का संकेत कालिदास ने अन्यत्र भी किया है। दिलीप भीतर और बाहर दोनों ओर से इतने सुन्दर और महान् थे कि कवि को यह सोचने के लिए बाध्य होना पड़ा कि जब विधाता ने इस भव्य रूप का निर्माण किया होगा तो उसने ऐसी समाधि धारण की होगी जिसमें बाहरी चेतना प्रक्रिया सम्पूर्ण रूप से अन्तर्मुखी हो गई होगी। इसे महाभूत समाधि कहते हैं। ऐसी महाभूत समाधि के बिना इतना भव्य रूप कैसे बनाया जा सकता है! **'तं वेधा विदधे नूनं महाभूत समाधिना!'** सुन्दर रूप का निर्माण बिना समाधि के नहीं हो सकता, ऐसा कालिदास का निश्चित मत है। विधाता को भी जब कुछ अच्छा बनाना होता है तो समाधि धारण करनी होती है।

आधुनिक सौन्दर्यशास्त्रियों ने एक शब्द का बहुधा व्यवहार किया है—'कन्सेन्ट्रेशन', अर्थात् चित्त को समस्त बाह्य विषयों से निवृत्त कर अन्तर्मुख या केन्द्राभिमुख करना। इसका हिन्दी प्रतिशब्द 'संकेन्द्रण' या केन्द्राभिमुखीकरण हो सकता है। पुराने योगशास्त्रियों ने इससे मिलता-जुलता, किन्तु ईषद्भिन्नार्थक, एक अन्य शब्द

का व्यवहार किया है—'एकाग्रता'। समाधि के लिये चित्त की एकाग्रता आवश्यक है पर एकाग्रता ही समाधि नहीं है। एक वस्तु का ध्यान, दूसरी की धारणा और तीसरी की समाधि से योग नहीं सिद्ध होता। पातंजल योग-सूत्र में कहा है कि एक ही वस्तु का ध्यान, उसी की धारणा और उसी पर चित्त को समाहित करने से पूरा योग सिद्ध होता है। उसी को समाधि कहा जा सकता है। संकेन्द्रण ध्यान से सिद्ध हो सकता है, उसमें 'धारणा' का रहना आवश्यक नहीं होता। निद्रा की अवस्था में भी एक प्रकार का संकेन्द्रण होता है परन्तु वह प्रयत्नसाध्य नहीं होता। शरीर जब क्लान्त हो जाता है—अर्थात् बाह्य परिस्थितियों से संघर्ष करते-करते उसकी शक्ति श्रान्त हो जाती है तो वह कुछ देर के लिए चेतना को उस संघर्ष से हटा लेता है, नई ऊर्जा की उपलब्धि के लिए। इसे ही साधारण बोलचाल की भाषा में निद्रा कहा जाता है। यह प्रकृतिदत्त विधान है। इस प्रकृतिदत्त विधान को संस्कृति नहीं कहा जा सकता। प्रकृति के अधःगमन को विकृति कहा जाता है, उद्‌गमन को संस्कृति। समाधि संस्कृति है। उत्तम संस्कृति प्रयत्न-साध्य होती है। समाधि में भी प्रयत्न होता है। कैसा प्रयत्न?

निद्रा मानसिक निश्चिन्तता से आती है। मन में कहीं भी बाह्य प्रकृति के साथ या मानव-निर्मित सामाजिक विधि-विधान के साथ (संक्षेप में, वातावरण के साथ) संघर्ष की रंचमात्र भी सम्भावना हो तो निद्रा अधूरी रह जाती है। भारतीय शास्त्रकारों ने एक आदर्श अवस्था की कल्पना की है जिसमें मन सब प्रकार की चिन्ताओं से मुक्त होता है। उस अवस्था की निद्रा का नाम 'सुषुप्ति' दिया गया है। सुषुप्ति अर्थात् अच्छी नींद। सुषुप्ति दुर्लभ अवस्था है। जंगली जन्तुओं को मनुष्य की तुलना में बहुत कम नींद आती है क्योंकि बाह्य प्रकृति के संघर्ष की चिन्ता उन्हें सदा सताती रहती है। मनुष्य अपेक्षाकृत अधिक सोता है। पर आदिम अवस्था में वह भी इतना नहीं सो सकता होगा। जिस प्रकार अन्य वन्य-जन्तु एक मामूली खटके-से भी जग जाते हैं, बहुत-कुछ उसी प्रकार। प्रयोगों से देखा गया है कि किसी बात के लिए सावधान रहने का दृढ़ संकल्प मन में रखकर सोने पर वह संकल्प अब भी मनुष्य के चित्त में काम करता रहता है। हाथ में कोई वस्तु लेकर यदि यह संकल्प करके सोया जाय कि इसे किसी भी हालत में छोड़ना नहीं है तो पूर्ण निद्रा में भी मुट्ठी ज़ोर से बँधी हुई रहती है। चार बजे उठ जाने का संकल्प लेकर यदि सोया जाय तो घड़ी चाहे धोखा दे जाय सोने वाला चार बजे अवश्य उठ जाता है। इसका मतलब यह हुआ कि इन्द्रियार्थों से इन्द्रियों को समेटकर संकेन्द्रित करने के बाद भी संकल्प-शक्ति काम करती रहती है। किसी एक ही बात पर मन को सावधान बनाए रखने की दृढ़ इच्छा का नाम संकल्प है। 'दृढ़ संकल्प' में दृढ़ विशेषण, असल में, व्यर्थ ही है। दृढ़ इच्छा को ही संकल्प कहते हैं, उसे दृढ़ विशेषण से विशिष्ट करने की खास ज़रूरत नहीं है। परन्तु सभी इच्छाएँ संकल्प नहीं होतीं। शिथिल या ढीलमढाल इच्छाएँ सदा मन में बनी रहती हैं। इच्छा किसी-न-किसी प्रकार के अभाव बोध की आनुषंगिक प्रतिक्रिया है। निद्राकाल में जब मनुष्य बाह्य प्रकृति के संघर्ष से विरत होकर 'निश्चिन्त' होता है तो भी मन में शिथिल इच्छाएँ शिथिल चिन्ताओं को उत्पन्न

करती रहती हैं और मनुष्य का सर्जक चित्त काल्पनिक मूर्तियों को गढ़कर 'निश्चिन्त' बनने का भान करता रहता है। इसी को स्वप्न कहते हैं। सभ्यता के विकास के साथ मनुष्य बाह्य प्रकृति के संघर्ष से तो निश्चिन्त हो जाता है पर साथ ही आत्मनिर्मित सामाजिक विधि-निषेधों के संघर्ष में अधिक लिप्त रहने लगता है। सभ्य मानव अन्य जन्तुओं की तुलना में अधिक सोता है और अधिक सपना भी देखता है। यहाँ प्रकृत इतना ही है कि निद्रावस्था में जो अयत्नसिद्ध संकेन्द्रण होता है उसमें दो मोटी अवस्थाओं की कल्पना की जा सकती है, एक आदर्श निद्रा की स्थिति—सुषुप्ति और एक अस्पष्ट, अधूरी अधकचरी नींद की स्थिति—स्वप्न। पुराने आचार्यों ने दो और स्थितियों की कल्पना की है जो जानबूझकर निदेशित किये गए संकेन्द्रण से उत्पन्न होती हैं। इसमें मनुष्य जागता रहता है, चैतन्ययुक्त होता है। इस संकेन्द्रण को समाधि कहते हैं। सुषुप्ति जिस प्रकार एक दुर्लभ आदर्श निद्रा की स्थिति है उसी प्रकार निर्विकल्पक समाधि भी दूसरे छोर पर एक दुर्लभ आदर्श समाधि की स्थिति है परन्तु स्वप्न जिस प्रकार मन की शिथिल इच्छाओं के द्वारा ग्रस्त होता है उसी प्रकार दूसरे किनारे पर सविकल्पक समाधि होती है जिसमें मन इच्छाओं से पूर्णतः मुक्त नहीं होता। चेतना की एक छोर पर स्वप्न और सुषुप्ति हैं और दूसरी छोर पर सविकल्पक और निर्विकल्पक समाधि।

आजकल भारतीय भाषाओं में एक प्रशंसात्मक शब्द चल पड़ा है—स्वप्नद्रष्टा। कवियों और कलाकारों को तो स्वप्नद्रष्टा कहा ही जाता है। समाज और राष्ट्र के निर्माताओं को भी स्वप्नद्रष्टा कहा जाता है। जहाँ तक मेरी जानकारी है, यह शब्द इस प्रकार के प्रशंसार्थक रूप में नया ही चला है। इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि इसका प्रयोग लाक्षणिक अर्थ में होता है, परन्तु लाक्षणिक प्रयोग किसी-न-किसी प्रकार के साम्य या अर्थयोग की अपेक्षा रखता ही है। आधुनिक शिक्षित लोग अवश्य ही स्वप्न में और कलाकारों के चिन्तन में कुछ साम्य देखते हैं। अतियथार्थवादी या सुररियलिस्ट कलाकारों में तो यह प्रवृत्ति भी दिखाई देती है कि जिस प्रकार स्वप्न में विचारमूर्तियों या बिंबों की उन्मुक्त योजना (फ्री एसोसिएशन) होती है उसी प्रकार का कुछ कविता में भी किया जा सकता है। सौभाग्यवश आजकल स्वप्नों का अध्ययन-मनन बड़ी गम्भीरता से हुआ है और तथाकथित उन्मुक्त योजना के बारे में हमें अपेक्षाकृत अधिक विश्वसनीय सामग्री उपलब्ध है। कला और स्वप्न के ऊपरी साम्य की तुलना में अन्तर्निहित गम्भीर भेद का सन्धान पाया गया है। कालिदास कलाकार की जिस समाधि की बात करते हैं उसे अब हम कदाचित ज़्यादा ठीक समझने की स्थिति में हैं।

आधुनिक समय में जिन लोगों ने स्वप्नों का रहस्य उद्घाटन किया है या करने का प्रयास किया है उनमें सिगमण्ड फ्रायड अग्रगण्य हैं। उन्होंने और उनके अनुयायियों ने रहस्यपूर्ण स्वप्न-लोक की बहुत-सी बातें और उनकी व्याख्या दी हैं। यद्यपि सभी वैज्ञानिक निष्कर्षों के समान इनके निष्कर्ष भी अन्तिम नहीं हैं और अन्यान्य सिद्धान्तों के समान ही इनके सिद्धान्त (थीसिस) भी सिद्धान्त-कल्प (हाइपोथिसिस)

ही हैं तथापि इनकी मान्यताएँ अब तक के अटकलपच्चू निष्कर्षों की तुलना में अधि
ग्राह्य और युक्तिसंगत हैं। फ्रायड के निष्कर्षों ने कवियों और कलाकारों की कृतियों
स्वप्न के नियमों से व्याख्येय समझने की प्रवृत्ति को बढ़ावा दिया है। आज के अने
कला-सम्प्रदायों पर फ्रायड का प्रभाव पड़ा है। परन्तु 'उन्मुक्त योजना' की परिकल्प
का जो प्रभाव इन कलाकारों पर पड़ा है उसे देखकर स्वयं फ्रायड भी कदाचित् चकि
हो जाते। स्वप्न में विचार-मूर्तियों की या बिम्बों की जिस उन्मुक्त योजना की बा
कही जाती है, उसका अर्थ इन कलाकारों ने समझा है प्रयोजनों का अभाव-बोध।
अचरज में डाल देनेवाला अर्थ है। कलाकृति प्रयोजन का अभाव-बोध बिलकुल नहीं है
तथाकथित 'स्थूल प्रयोजनों के अतीत' कहा जाता तो यह बात मानी भी जा सक
थी। हमने पिछले प्रकरणों में देखा है कि शब्द का अर्थ, प्रयोजन ही है। संस्कृत
अर्थ और प्रयोजन प्रायः समानार्थक शब्द हैं। जानकार लोगों ने बताया है कि फ्रायड,
युंग, मैक-कर्दी आदि मनोविज्ञानियों के विविध प्रयोगों से स्पष्ट रूप से सिद्ध हुआ है
कि स्वप्न की अवस्था में ऊपर-ऊपर से अनमिल-सी दिखनेवाली विचारमूर्तियों
बिम्बों के अन्तराल में अवचेतन के प्रयोजनों की माँग की पूर्ति का कठोर नियम का
कर रहा है। वह इतना दृढ़ और कठोर है कि कई मनोविज्ञानियों ने इन्हें लौह-नियम
(आयरन लॉ) नाम दिया है। सहजात आदिम मनोवृत्तियों के दुर्दम हाँके का ही
परिणाम है कि चित्त में कठोर गाँठें पड़ जाती हैं जिन्हें मनोविश्लेषण-शास्त्र के पंडि
'कम्प्लेक्स' या मनोग्रन्थि कहा करते हैं। स्वप्नावस्था में विचार-सम्मूर्तन की प्रक्रि
इन गाँठों के भीतर से गुजरने वाली सँकरी गलियों के रास्ते ही चला करती है। इन्हें
'उन्मुक्त' इसलिए नहीं कहा जाता कि वे प्रयोजनबद्ध नहीं हैं बल्कि इसलिए कहा
जाता है कि वे मनुष्य-निर्मित सामाजिक विधि-निषेध के बन्धनों से मुक्त हैं। जिन
कलाकारों ने इसका अर्थ प्रयोजनाभाव समझा है उन्होंने बिस्मिल्ला ही ग़लत बो
दिया है।

वस्तुतः मनोविश्लेषण शास्त्रियों के प्रयोगों से यही सिद्ध हुआ है कि स्वप्ना
वस्था में भी इच्छा-शक्ति काम करती ही रहती है। अवश्य ही वह शिथिल या सुप्त
भाव से काम करती है। उसे बलपूर्वक निश्चित दिशा में ले जाने का चेतन प्रयत्न
नहीं होता। लेकिन उसमें रचनात्मक शक्ति भी विद्यमान रहती है, उसके प्रयत्नों का
प्रयोजन भी होता है—और उसमें अन्यथाकरण की शक्ति भी होती है। सचमुच ही
उनमें वे सारी बातें होती हैं जो कलाकृति की रचना की अवस्था में होती हैं। फ
इतना अवश्य होता है कि वे (१) चेतन संकल्पजन्य नहीं होतीं (२) एकाग्रता के
अभाव से वे बिखरी रहती हैं, (३) और व्यक्तिगत होती हैं, सामाजिक नहीं। कहने
में यह अन्तर थोड़ा ही दिखता है पर असल में यह चित्र का एकदम दूसरा पीठ है।

संकलिपत चिन्तन, चेतन चित्त का धर्म है, असंकल्पित अवचेतन का। ध्यान
और धारणा की एकता से रूपायित होकर और चेतन-संकल्प से चालित होकर जो
एकाग्रता सिद्ध होती है वही समाधि है। धारणा और ध्यान दोनों का होना आवश्यक
है। ध्यान से अनुगमित और एकाग्रता की ओर उन्मुख धारणा जब भाषा के माध्य

से व्यक्त होती है तो शास्त्र का रूप ग्रहण करती है। किन्तु भाषा, जैसा कि पहले ही बताया गया है व्यक्ति-चित्त की देन (मनगढ़ंत) नहीं है, समष्टि चित्त की सामान्य अनुभूतियों की काम-चलाऊ अभिव्यक्ति है। जब समष्टि-चित्त द्वारा उपलब्ध वास्तविकता व्यक्ति चित्त के लिए ग्राह्य या उपभोग्य नहीं हो पाती तो फिर संवेदनशील व्यक्ति ज्ञात तथ्यों, ज्ञात नियमों और ज्ञात भावनाओं को नये सिरे से पुनर्व्यवस्थापन करके कुछ नया रचने का प्रयास करता है। ऐसे प्रयत्न क्रमशः शास्त्र, विज्ञान और कला को जन्म देते हैं। कालिदास ने एक प्रसंग में ऐसे प्रयत्न को 'यथा प्रदेश विनिवेशन' कहा है। यहाँ उनके द्वारा प्रयुक्त शब्द को थोड़ा और संक्षिप्त करके ग्रहण कर लिया जा रहा है। हम आगे इसे 'विनिवेशन' कहेंगे। अर्थात् ज्ञात तथ्यों, ज्ञात नियमों और भावनाओं के पुनर्व्यवस्थापन द्वारा निर्माण करने के कौशल को हम 'विनिवेशन' कहेंगे। विनिवेशन में सर्वत्र समष्टि चित्त द्वारा उपलब्ध वास्तविकता को अधिक ग्राह्य, अधिक उपयोगी और अधिक सुन्दर बनाने की प्रच्छन्न इच्छा काम करती रहती है। संकल्पित चिन्तन की भाँति ही संकल्पित भावना भी चेतन चित्त का धर्म है। भावनाओं को नए सिरे से सजाकर अधिक सुन्दर बनाने के संकल्प से ही कला का जन्म होता है। भावनाएँ रूप को आश्रय किए बिना व्यक्त नहीं हो सकतीं—स्वप्न में भी नहीं। इसलिए कविता में वे शब्द-प्रतीकों और दृश्य कलाओं में रूप-प्रतिमानों के सहारे व्यक्त होती हैं। परन्तु भावनाओं को सजाने मात्र से कलाकृति नहीं बन जाती। उसमें एक ऐसी गति होनी चाहिए जो उसे समग्रता प्रदान करे और अन्य व्यक्तियों के चित्त में प्रवेश करा सके। जो गति या वेग यह काम करती है उसी का नाम छन्द है। और भी संक्षेप में स्पष्ट रूप से कहा जाय तो ध्यान और धारणा की एकता से रूपायित, नियत संकल्प द्वारा चालित, शब्द-प्रतीकों या रूप-प्रतिमानों के सहारे अभिव्यक्त भावनाओं का विनिवेशन जिस अन्तःप्रवाहित समग्रताविधायी और सम्प्रेषणधर्मी वेग से मूर्त होता है वही छन्द है। इसके बिना कलाकृति गतिहीन, प्राणहीन, पंगु सजावट मात्र बनी रह जाती है। स्पष्ट है कि यह स्वप्न की नहीं, समाधि की अवस्था में ही सिद्ध होता है। कलाकृति रचना के प्रयत्नशील कलाकार जिस समाधि की अवस्था में पहुँचता है वहाँ छन्द पूर्णरूप से क्रियाशील होता है। स्वप्न में वह क्रियाशील नहीं होता क्योंकि वहाँ चिन्तन या भावन संकल्पित नहीं होता, ध्यान और धारणा की एकता नहीं होती। इसीलिए वहाँ समग्रता तो क्या, एकाग्रता का भी बोध नहीं होता। स्वप्नद्रष्टा 'सजग' नहीं होता, सजगता संकल्प का प्रथम सोपान है। कालिदास ने कलाकार की असफलता का कारण 'समाधि-शैथिल्य' और सफलता का कारण 'महाभूत समाधि' बताकर इसी सत्य की ओर ध्यान आकृष्ट किया था।

कालिदास भारतवर्ष के श्रेष्ठ सौन्दर्य-पारखी और सौंदर्य-निर्माता कवि थे। इस विषय में उनके अनुभव और चिन्तन का बड़ा महत्त्व है। अपने नाटकों और काव्यों में उन्होंने जो संकेत दिए हैं उनका महत्त्व स्पष्ट है। उन्होंने इंगित से अपनी बातें कही हैं। पार्वती का सौन्दर्य अनुपम था। जिस कलाकार ने

संसार के सर्वश्रेष्ठ सुन्दर रूप की रचना की उसने कैसे और क्यों यह प्रयत्न किया, इस सम्बन्ध में कालिदास ने अपने अनुमान दिए हैं। यह कलाकार स्वयं विश्व-रचयिता विधाता थे। विधाता ने कैसे और क्यों इस सुन्दर रूप को गढ़ा, यह बात हम कैसे जान सकते हैं ? निश्चय ही कालिदास ने भी उनसे कोई 'इण्टरव्यू' नहीं ली होगी। अपने भीतर के कलाकार के अनुभवों को ही उन्होंने विधाता में देखा होगा। इस विषय में उनका अनुमान है कि विधाता ने समस्त उपमाद्रव्यों का पहले संग्रह किया होगा, फिर जिसका जहाँ रहना उचित होगा वहाँ उसे रखा होगा—पुनर्योजन किया होगा, और इस काम को उन्होंने प्रयत्नपूर्वक अर्थात् पूर्ण संकल्प के साथ एक समग्र रूप में सँवारा होगा। ऐसा करने का उनका उद्देश्य भी कुछ-न-कुछ होगा ही। कालिदास कहते हैं कि उद्देश्य था, 'एकत्र सौन्दर्य दिदृक्षा'—अर्थात् बिखरे हुए सौन्दर्य-प्रतिमानों को एकत्र करके नवनिर्माण द्वारा समस्त सौन्दर्यों को एक ही जगह देखने की इच्छा—

सर्वोपमाद्रव्यसमुच्चयेन यथा प्रदेशं विनिवेशितेन।
सा निर्ममे विश्वसृजा प्रयत्नात् एकत्र सौन्दर्यदिदृक्षयेव ॥

इनमें कालिदास ने सिसृक्षा के कुछ उपादानों का आकलन किया है—

(१) सर्वोपमा द्रव्य समुच्चय (रूप-प्रतिमान और शब्द-प्रतीकों का संग्रह)
(२) यथा प्रदेश विनिवेशन (उचित स्थान पर उचित मात्रा में पुनर्योजन या विनिवेशन)
(३) प्रयत्न (समग्रता-विधायी संकल्प)
(४) एकत्र सौन्दर्य दिदृक्षा (ज्ञात भावनाओं और रूपों के विनिवेशन द्वारा आत्मानुभूत नये रूप और भाव के निर्माण की व्याकुलता)

इनमें (१) उपादान है, (२) आत्मदान है, (३) छन्द है और (४) उद्देश्य है।

समग्रता-विधान छन्द से होता है। अंग्रेज़ी में 'यूनिटी' शब्द चलता है जिसे हिन्दी में कभी 'एकता' और कभी 'अन्विति' द्वारा व्यक्त करने का प्रयत्न किया जाता है। हमारे इस प्रसंग में यूनिटी या एकता दोनों ही शब्द उस भाव को नहीं व्यक्त कर सकते जो छन्द का कार्य है। इसलिए हमने 'समग्रता'-विधान शब्द का सहारा लिया है। इसके लिए भी कालिदास के दूरस्थ होना पड़ा है। यथा-अवसर हम उनके इस प्रयोग की चर्चा करेंगे। यहाँ प्रकृत यह है कि किसी रूप में जो समग्रता पाई जाती है वह छन्द द्वारा सिद्ध होती है और विनिवेशन द्वारा कलाकार आत्मानुभूत या आत्मानुध्यात भावनाओं को नए रूप में ढालता है। 'उपमाद्रव्य' कहकर कालिदास ने उस सर्वस्वीकृत सिद्धान्त की ओर इंगित किया है जिसके अनुसार अरूप भावनाएँ (एब्सट्रैक्ट फीलिंग) अपनी अभिव्यक्ति के लिए किसी ज्ञात रूप का आश्रय खोजती हैं। उपमान दो प्रकार के होते हैं, (१) लोकसिद्ध और (२) कविकल्पित। पहला उपमा अलंकार का उपमान है, दूसरा उत्प्रेक्षा का। किन्तु अन्तिम विश्लेषण पर कवि-कल्पित उपमान भी अनेक लोकसिद्ध उपमानों का विनिवेशन या पुनर्योजन मात्र है।

इसीलिए उपमान लोकसिद्ध अर्थात् समष्टि चित्त द्वारा स्वीकृत अतएव सामाजिक होते हैं, वैयक्तिक या मनगढंत नहीं।

कलाकार के दो पक्ष हैं। एक तो उसका स्रष्टा पक्ष और दूसरा कारीगर पक्ष। समष्टि चित्त द्वारा गृहीत भावना-जगत् की वास्तविकता को पुनर्व्यवस्थापन या विनिवेशन द्वारा संकलित रूप देना उसका स्रष्टा पक्ष है। संकल्प में वह स्वयं विद्यमान रहता है। उसका यही उत्तम पक्ष है। उसका कारीगर पक्ष भी है किन्तु यह गौण है। यह उसके स्रष्टा पक्ष का सहायक होने के कारण ही गौण है। प्राचीन आचार्यों की भाषा में इसी बात को 'गुणीभूत' कहते हैं। कलाकार का यह पक्ष कलाकृति को समाज द्वारा सहज ग्राह्य बनाने में सहायता करता है। जब वही मुख्य हो जाता है तो कलाकृति मध्यम कोटि की हो जाती है और कलाकार शिल्पी मात्र रह जाता है। विनिवेशन का उद्देश्य है 'जैसा-होना-चाहिए-वैसा' की रचना—नवनिर्माण। कई बार कलाकार चित्रितव्य को हू-ब-हू उरेहने का प्रयास करता है। उस समय उसकी प्रधान चिन्ता यह रहती है कि चित्रितव्य को ज्यों-का-त्यों कागज़ या अन्य आधारभूत सामग्री पर कैसे उतारा जाय। क्या होना चाहिए, यहाँ भी प्रधान चिन्ता है पर वह चित्रितव्य (अर्थ) से बुरी तरह बँधा होता है। ऐसे चित्रों को पुराने आचार्य 'विद्ध चित्र' कहते थे। मालविका के जिस चित्र की ऊपर चर्चा की गई है उसके कलाकार की असफलता इस बात में थी कि मालविका की कान्ति जैसी वास्तव में थी वैसी वह निखार नहीं सका था। किसी उद्दिष्ट वस्तु (अर्थ) से इस प्रकार बँधे रहने से विनिवेशन का उद्देश्य सफल नहीं होता। इसमें कलाकार अपने-आप को यथासम्भव असंपृक्त रखता है और उसके संकल्प में आत्मदान का अवसर नहीं आ पाता। क्योंकि वह समष्टि चित्त की ज्ञात भावनाओं या गृहीत धारणाओं के पुनर्व्यवस्थापन या विनिवेशन के द्वारा समष्टि चित्त को बदलने का प्रयास नहीं करता बल्कि उसे ज्यों-का-त्यों उतारने में ही लगा रह जाता है। अर्थबन्धन का निर्देशन उसे शिल्पी या कारीगर की मर्यादा से ऊपर नहीं उठने देता। वह चित्र में आत्मदान नहीं कर पाता। आत्मदान नए अर्थ की खोज है, पहले से ही गृहीत अर्थ का यथावत् स्थापन नहीं। प्रसंग मालविका के चित्र का था इसलिए ये बातें चित्रकला की भाषा में कही गई हैं। वस्तुतः यह सभी कलाओं का सत्य है। कवि शब्द-प्रतीकों के (जो समष्टि चित्त में पहले से ही गृहीत होते हैं) विनिवेश द्वारा जब नया अर्थ देना चाहता है तो स्रष्टा की मर्यादा का अधिकारी होता है। उसका शब्द-विनिवेश अर्थ का अनुगमन नहीं करता बल्कि अर्थ ही—नया अर्थ ही—उसका अनुगमन करता है। भवभूति ने ठीक ही कहा था—'ऋषीणां पुनराद्यानां वाचमर्थोऽनुधावति' (जो आद्य ऋषि हैं उनकी वाणी के पीछे-पीछे अर्थ दौड़ा करता है)! इसी तत्त्व का स्थूल पौराणिक रूप वह कथा है जिसमें कहा गया है कि राम के पैदा होने के पहले ही आदि-कवि वाल्मीकि ने रामायण लिख दी थी। 'आद्य' का अर्थ प्रथम भी होता है और श्रेष्ठ भी। 'प्रथम' के अर्थ में वह कालपरक है और 'श्रेष्ठ' के अर्थ में योग्यता-क्रम परक।

आत्मदान कलाकृति की रचना के लिए छन्द के समान ही आवश्यक तत्त्व

है। नये सौन्दर्यशास्त्रियों ने संकेन्द्रण (कन्सेन्ट्रेशन) को उत्तम रचना की आवश्यक भूमिका स्वीकार की है। बाह्य विषयों से चित्त को सर्वथा निवृत्त करने का अर्थ है धारणा को अन्तर्वृत्तियों के साथ एकमेक कर देना। कालिदास ने इसी को 'महाभूत-समाधि' कहा है। यह समाधि आत्मदान की भूमि प्रस्तुत करती है। केवल समाधि कलाकृति की रचना नहीं करती, वह साधनमात्र है। कलाकार की सर्जनेच्छा या सिसृक्षा में आत्मदान महत्त्वपूर्ण उपादान है। इसके बिना चित्र 'रस चित्र' नहीं बन पाता, कविता 'सरस कविता' नहीं बन पाती।

सभी जानते हैं कि कलाएं ज्ञातृ-सापेक्ष होती हैं और विज्ञान ज्ञेय-सापेक्ष। हिन्दी में साधारणतः प्रयुक्त होने वाले 'विषयि-परक' और 'विषय-परक' शब्द तथा अंग्रेजी में प्रयुक्त होने वाले 'सब्जेक्टिव' और 'ऑब्जेक्टिव' शब्द हमारे विवेचन के लिए बहुत उपयुक्त नहीं हैं क्योंकि अपने विशुद्ध अर्थ में वे आदर्श स्थिति की ओर इंगित करते हैं जो सिसृक्षा के क्षेत्र में दुर्लभ ही नहीं, अज्ञात भी है। कला की अभिव्यक्ति में ज्ञाता की अधिक अपेक्षा रहती है, परन्तु ज्ञेय एकदम अननुभूत या अगृहीत नहीं होता। विज्ञान में ज्ञेय की अधिक अपेक्षा रहती है पर ज्ञाता एकदम छूट नहीं जाता। ज्ञेय की सापेक्षता ज्ञाता के निरपेक्ष या असंपृक्त बने रहने के प्रयास की मात्रा से निर्धारित होता है। वस्तुतः कला में ज्ञेयपक्ष एकदम तिरोहित नहीं होता और न विज्ञान में ज्ञातृपक्ष ही।

कविता में व्यवहृत होने वाले शब्द अपने अर्थ के लिए समष्टि-चित्त की स्वीकृति की अपेक्षा रखते हैं, अतएव सामाजिक होते हैं, वैयक्तिक नहीं। वस्तुतः भाषा द्वारा जो-कुछ भी व्यक्त होता है वह सामाजिक ही होता है। सामाजिक अर्थात् समष्टि-चित्त द्वारा गृहीत और स्वीकृत। इसी प्रकार चित्र या मूर्ति में जिन रूप-प्रतिमानों का प्रयोग होता है वे भी समष्टिचित्त द्वारा स्वीकृत होते हैं। इसीलिए काव्य हो, चित्र हो, मूर्ति हो, अभिव्यक्त होते ही उन्हें सामाजिक बनना पड़ता है। जो अर्थ या रूप-प्रतिमान समष्टि-चित्त-निरपेक्ष हैं वे कभी कला को अभिव्यक्ति नहीं दे सकते। मध्यकाल के अलंकारशास्त्रियों ने मीमांसा के उस सिद्धान्त का विरोध किया था जिसमें बताया गया है कि वक्ता जिस उद्देश्य से शब्द का प्रयोग करता है वही उसका अर्थ होता है—यत्परः शब्दः स शब्दार्थः। इस सिद्धान्त को मान लेने से अर्थ का नियमन वक्ता की इच्छा (विवक्षा) के अधीन हो जाता है। मीमांसकों ने इसीलिए व्यंजना वृत्ति को मानने की ज़रूरत नहीं समझी। आनन्दवर्धन और मम्मट आदि आचार्यों ने व्यंजना वृत्ति की आवश्यकता सिद्ध करने में बड़ा महत्त्वपूर्ण योग दिया है। व्यंजना वृत्ति स्वीकार करने का मतलब है अर्थ की सामाजिकता की स्वीकृति। क्योंकि व्यंजना, वक्ता-बोद्धा-वातावरण, सबको आवश्यक मानती है। व्यंजना वृत्ति का स्वीकारना अर्थ को वैयक्तिक विवक्षा के अधीन मानने का निरास है और उसकी सामाजिकता की स्वीकृति है। इसीलिए शब्द-प्रतीकों और रूप-प्रतिमानों द्वारा अभिव्यक्त कलाएँ विशुद्ध रूप में विषयि-परक नहीं हो सकतीं। वे अधिक मात्रा में ज्ञातृ-सापेक्ष और कुछ कम मात्रा में ज्ञेय-सापेक्ष होती हैं।

परन्तु यह मात्रा सभी कलाओं में समान नहीं होती। संगीत में ज्ञातृसापेक्षता की मात्रा अधिक होती है, उसकी तुलना में कविता में कम और उपन्यास में और भी कम। ये सभी श्रोत्रग्राह्य या श्रव्य कलाएँ हैं। इनमें अपनी ही ज्ञातृ-सापेक्षता की मात्रा ज्ञेय-सापेक्षता की तुलना में अधिक होती है। संगीत में शब्दार्थ की मात्रा बहुत कम, कविता में उससे अधिक और उपन्यास में और भी अधिक होती है। कविता शब्द-प्रतीकों पर उपन्यास की तुलना में अधिक निर्भर करती है जब कि उपन्यास, प्रतीकों की तुलना में, साक्षात् अर्थ पर अधिक निर्भर है। विज्ञान में ज्ञेय-सापेक्षता की मात्रा अधिक है।

कविता में जैसे कवि, शब्द-प्रतीकों पर सीधे जाता है और उनके द्वारा प्रक्षेपित अर्थरूपा वास्तविकता पर बाद में, उसी प्रकार गणित में गाणितिक, संख्या प्रतीकों पर पहले जाता है और उनके द्वारा प्रक्षेपित अर्थरूपा वास्तविकता पर बाद में। विज्ञान में भी दो प्रकार की प्रक्रियाएँ हैं। एक प्रकार के विज्ञान में वर्गीकरण की प्रवृत्ति है और दूसरे विकसनशील हैं। वर्गीकरणात्मक विज्ञान में गणित प्रमुख है। उसमें प्रतीकों का ही कारबार है। विकसनशील विज्ञान में (उदाहरणार्थ प्राणिविज्ञान में) वैज्ञानिक, पहले अर्थ पर जाता है बाद में उसे शब्द प्रतीकों द्वारा अभिव्यक्त करता है। ठीक यही स्थिति कविता और उपन्यास की है। कविता में शब्द-प्रतीकों का कारबार अधिक है, उपन्यास में अर्थ का कारबार अधिक होता है। शब्दों पर अधिक केन्द्रित रहने से ही कविता में छन्द का प्रामुख्य है। उपन्यासकार अर्थ पर पहले जाता है, शब्द पर बाद में। इसीलिए उसमें छन्द का वैसा प्रामुख्य नहीं है।

शब्द बाह्य और आन्तरिक वास्तविकता (अर्थ) के प्रतीक हैं। वे वास्तविकता के प्रक्षेपण का काम करते हैं। उन्हें सामाजिक स्वीकृति प्राप्त हुई रहती है। कवि इन शब्दों की चारुता से ही अर्थ-विनिवेश के द्वारा नव-निर्माण करता है। शब्दों के उचित विनिवेश को गतिशील बनाने का काम छन्द करता है और अर्थ को गरिमा और महनीयता देने का काम आत्मदान से होता है। संगीत अर्थभार से प्रायः मुक्त छन्द है। उससे बाह्य अर्थों का प्रक्षेपण होता अवश्य है पर बहुत अस्पष्ट। इसका कारण है संगीत का आदिम होना। वह उस अवस्था की कला है जब सामाजिक विकास के कारण स्पष्ट वैविध्य का आविर्भाव नहीं हुआ था। बाद में संगीत में अर्थ का अधिकाधिक समावेश होता गया है और वह कविता के अधिकाधिक निकट आता गया है। कविता संगीत की तुलना में कम आदिम और अधिक सामाजिक वैविध्य की देन है। उसमें अर्थ का भार क्रमशः बढ़ता गया है। उपन्यास पूर्णतः सामाजिक वैविध्य के आविर्भाव के बाद की देन है। उसमें अर्थ साक्षात् परिस्यूत होता है। संगीत-कविता-उपन्यास में क्रमशः अर्थ की साक्षात् परिस्युति बढ़ती गई है और उसी मात्रा में छन्द की घटती गई है। गतिशील दृश्यकलाओं में यही स्थिति क्रमशः नृत्य, नाटक और शिल्प की है। स्थितिशील कलाओं में चित्र, मूर्ति और वास्तु में छन्द का स्वरूप बदलने पर भी अर्थ की परिस्युति का क्रम कुछ इसी प्रकार है। छन्द समग्रता देता है। संगीत में वह स्वर-विन्यास के द्वारा, काव्य में भाव-विनिवेश के द्वारा और

उपन्यास में उद्देश्य की केन्द्रीयता के द्वारा इस समग्रता को बनाए रखता है।

परन्तु सभी कलाओं में उत्तमता की कसौटी आत्मदान की मात्रा होती है। ज्ञातृसापेक्ष कलाओं में आत्मदान ज्ञाता की इस योग्यता पर निर्भर करता है कि वह कहाँ तक विशुद्ध रूप में ज्ञातृ-परिसर को बढ़ाकर सम्पूर्ण विश्व के साथ एकमेक कर सकता है और ज्ञेय-सापेक्ष्य विज्ञान में इस बात पर कि वह कहाँ तक ज्ञातृ-परिसर को क्षीण करके ज्ञेय के साथ एकाकार हो सकता है। ज्ञातृ-सापेक्षता का मूल स्वर है—मैं अनुभव कर रहा हूँ और ज्ञेय-सापेक्षता का मूल स्वर है—मैं जानता हूँ। 'मैं अनुभव करता हूँ' का 'मैं' जितना ही विशुद्ध और व्यापक होगा, कला उतनी ही महिमामयी होगी और जितना ही ज्ञेय-मिश्रित और संकुचित होगा उतनी ही कला की महिमा संकुचित होगी। विशुद्धता की कसौटी आनन्द का उच्छलभाव है और व्यापकता की कसौटी साधारणीकरण की क्षमता। इस प्रकार, आत्मदान के दो पक्ष हैं, उच्छल आनन्द—ऐसा अनुभवजन्य आनन्द जो अनुभव करने वाले के हृदय में अँटाए नहीं अँट रहा है, उफनकर बाहर निकल जाना चाहता है—और साधारणीकरण की क्षमता—ऐसी क्षमता जो अनुभूत भाव को सर्वसाधारण की अनुभूति बना सकती है।

आत्मदान एक प्रकार की निस्संगता देता है। विज्ञान में वह ज्ञेय की ओर से आती है और कला में ज्ञाता की ओर से। पुराने आचार्य इसी को स्वस्थ होना कहते हैं। यह रस-निष्पत्ति की आवश्यक शर्तें हैं।

इस प्रकार छन्द की उपलब्धि और आत्मदान की व्याकुलता कलाकार की सर्जनेच्छा के दो तत्त्व हैं। आदि कवि की कहानी में दोनों का महत्त्व बताया गया है

डॉ० नगेन्द्र

साधारणीकरण

काव्य में वर्णित विशिष्ट रामादि पात्रों के 'भाव' सर्वसाधारण या कम-से-कम सहृदय-साधारण के आस्वाद के विषय किस प्रकार हो जाते हैं ?—काव्यशास्त्र का यह अत्यन्त मौलिक प्रश्न है। काव्य मानव-जीवन का अत्यन्त प्राचीन एवं मूल्यवान् उपकरण है। वह सहस्राब्दियों से संस्कृत मानव की आत्माभिव्यक्ति तथा आत्मास्वाद का सुन्दर माध्यम रहा है। ज्यों ही चिंतनशील मनुष्य ने जीवन और जगत् के अनेक तथ्यों के साथ-साथ काव्य के आस्वाद के विषय में विचार आरम्भ किया होगा, पहला प्रश्न यही उठा होगा कि राम और दुष्यन्त आदि से हमारा क्या सम्बन्ध ? जब देश और काल का विराट् व्यवधान हमारे और उनके बीच विद्यमान है, तब उनके भाव हमारे आस्वाद्य किस प्रकार बन जाते हैं ? इस प्रश्न का सबसे प्रामाणिक समाधान है साधारणीकरण सिद्धान्त, जिसके बीज तो नाटच-शास्त्र आदि में भी मिल जाते हैं—यथा **'एभ्यश्च सामान्यगुणयोगेन रसा निष्पद्यन्ते'**, अर्थात् जब इन भावों को सामान्य रूप से प्रस्तुत किया जाता है तो रसों की निष्पत्ति होती है (नाट्यशास्त्र का० भा० १०७३); परन्तु निश्चित उल्लेख भट्टनायक के उद्धरणों में ही पहली बार मिलता है।

भट्टनायक के उद्धरण का अभीष्ट अंश इस प्रकार है : **"विभावादिसाधारणी-करणात्मना × भावकत्वव्यापारेण भाव्यमानो रसः × योगेन परं भुज्यत इति।'** अर्थात् विभावादि के साधारणीकरण रूप भावकत्व नामक व्यापार द्वारा भाव्यमान स्थायीभाव-रूप रस × भोजकत्व व्यापार के द्वारा आस्वादित किया जाता है।"—इसका विश्लेषण करने पर निम्नलिखित तथ्य प्राप्त होते हैं—

(क) साधारणीकरण विभावादि का होता है।

(ख) यह साधारणीकरण ही वस्तुतः भावकत्व व्यापार का प्राण है—अर्थात् दोनों एक ही हैं।

(ग) भावकत्व व्यापार द्वारा भाव्यमान स्थायी भाव ही रस रूप में परिणत हो जाता है। भाव्यमान को काव्यप्रकाश के टीकाकारों ने 'साधारणीकृत' का ही पर्याय माना है और इसमें विप्रतिपत्ति के लिए विशेष अवकाश नहीं होना चाहिए।

(घ) साधारणीकरण रसास्वाद से पूर्व की प्रक्रिया है, यह वह प्रक्रिया है जो रस के विभिन्न अवयवों को अपने-अपने वैशिष्ट्य से मुक्त कर आस्वाद्य रूप

में प्रस्तुत कर देती है।

अभिनवगुप्त ने भट्टनायक के मत में संशोधन कर साधारणीकरण के प्रसंग को अपने ढंग से प्रस्तुत किया है; उनके उद्धरण इस प्रकार हैं :

"तस्यां च यो मृगपोतकादिर्भाति तस्य विशेषरूपत्वाभावाद्भीत इति, त्रासकस्यापारमार्थिकत्वाद् भयमेव परं देशकालाद्यनालिंगितम्।" अर्थात् काव्य की उस प्रतीति में जो मृगशावक आदि विषय-रूप से भासता है, उसके विशेष-रूप न होने से यह भीत है, यह ज्ञान तथा त्रासक (दुष्यन्त आदि) के वास्तविक न होने से, भय ही देशकाल आदि से पूर्णत: असम्बद्ध रूप में प्रतीत होता है।

इसका अभिप्राय यह हुआ कि **आश्रय और आलम्बन का साधारणीकरण हो जाने से स्थायी भाव ही देशकाल के बन्धन से मुक्त हो जाता है।**

इस तथ्य को और स्पष्ट करते हुए अभिनवगुप्त लिखते हैं : "तत एव भीतोऽहं भीतोऽयं शत्रुर्वयस्यो मध्यस्थो वा इत्यादिप्रत्ययेभ्यो दु:खसुखादिकृतबुद्ध्यन्तरोदयनियमवत्तया विघ्नबहुलेभ्यो विलक्षणं निर्विघ्नप्रतीतिग्राह्यं × × भयानको रस:।" इसीलिये 'मैं भीत हूँ,' 'यह भीत है' या 'शत्रु, मित्र अथवा तटस्थ भीत है' इत्यादि सुखदु:खकारी अन्य प्रत्ययों (ज्ञान) को नियमत: उत्पन्न करने के कारण विघ्नबहुल प्रतीतियों से भिन्न, निर्विघ्न-प्रतीत-रूप में ग्राह्य [भय स्थायी भाव ही] भयानक रस बन जाता है—अर्थात् काव्य में स्थायी भाव सभी प्रकार के व्यक्ति-संसर्गों से मुक्त हो जाता है—ये व्यक्तिसंसर्ग अपनी परिमिति के कारण दु:खादि के कारण होते हैं, अत: **इनसे मुक्ति का अभिप्राय होता है लौकिक दु:ख-सुख आदि की चेतना से मुक्ति।**

यह साधारणत्व परिमित न होकर सर्वव्याप्त होता है—अनादि संस्कारों से चित्रित चित्तवाले समस्त सामाजिकों की एक-जैसी वासना होने के कारण सभी को एक-जैसी ही प्रतीति होती है : "तत एव न परिमितमेव साधारण्यमपि तु विततम् × अतएव सर्वसामाजिकानामेकघनतैव प्रतिपत्ति: × सर्वेषामनादिवासनाचित्रीकृतचेतसाम् वासनासंवादात्।" इस प्रकार, एकाग्रचित्त होने के कारण, समस्त सामाजिक जन को रंगमंच पर उपस्थित नृत्त, गीत आदि सुधासागर के समान प्रतीत होते हैं :

"तथा ह्येकाग्रसकलसामाजिकजन: खलु। नृत्तं गीतं सुधासारसागरत्वेन मन्यते।" इन उदाहरणों के आधार पर अभिनव के अनुसार—

(क) साधारणीकरण विभावादि का ही नहीं होता, स्थायी भाव का भी होता है। जिस प्रकार विभावादि स्थायी भाव के कारण होते हैं, इसी प्रकार विभावादि का साधारणीकरण भी स्थायी भाव के साधारणीकरण का कारण होता है।

(ख) स्थायी भाव के साधरणीकरण का अर्थ है देशकाल के बन्धन—व्यक्तिसंसर्ग आदि से मुक्ति। व्यक्ति-चेतना के कारण ही भाव की प्रतीति में सुख-दु:खात्मकता का समावेश रहता है, उसके अभाव में ऐन्द्रिय सुख-दु:ख की भावना भी नष्ट हो जाती है।

(ग) कला के क्षेत्र में भाव का साधारणीकरण वैयक्तिक नहीं वरन् सामूहिक क्रिया है; केवल एक प्रमाता का ही भाव मुक्त नहीं होता—वरन् समस्त सामाजिक

एकाग्रचित्त होकर मुक्त भाव का सामूहिक रूप से अनुभव करते हैं।

(घ) अतः साधारणीकरण का सार है स्थायी भाव का साधारणीकरण।

उपर्युक्त संशोधन के प्रकाश में काव्यप्रकाश के टीकाकार गोविन्द ठक्कुर ने भट्टनायक के साधारणीकरण सिद्धान्त को संक्षिप्त एवं स्वच्छ रूप में इस प्रकार उपस्थित किया है—"भावकत्वं साधारणीकरणम्। तेन हि व्यापारेण विभावादयः स्थायी च साधारणीक्रियन्ते। साधारणीकरणं चैतदेव यत्सीतादिविशेषाणां कामिनीत्वादिसामान्येनोपस्थितिः। स्थाय्यनुभावादीनां च सम्बन्धिविशेषानवच्छिन्नत्वेन। (निर्णयसागर प्रेस, पृ० ६६) अर्थात् भावकत्व का अर्थ है साधारणीकरण। इस व्यापार के द्वारा विभावादि का और स्थायी भावों का साधारणीकरण होता है। साधारणीकरण से अभिप्राय है सीतादि विशेष पात्रों का कामिनी आदि सामान्य रूपों में उपस्थित होना। स्थायी भाव और अनुभाव के साधारणीकरण का आशय है विशिष्ट सम्बन्धों से मुक्ति।[1]

इस व्याख्या के अनुसार विभाव अर्थात् आश्रय, आलम्बन और उद्दीपन, अनुभाव, स्थायी तथा संचारी (स्थायी के द्वारा संचारी की भी व्यंजना स्पष्ट ही है) —सभी का साधारणीकरण होता है। उदाहरण से स्थिति और भी स्पष्ट हो जाएगी—

१. इस प्रसंग में कुछ विप्रतिपत्तियाँ प्रस्तुत की गयी हैं। (देखिए रसगंगाधर का शास्त्रीय विवेचन पृ० १५४-१५८)। विषय के निर्भ्रान्त ज्ञान के लिए उनका समाधान कर लेना चाहिए। एक विप्रतिपत्ति तो यह है कि साधारणीकरण भावकत्व की आत्मा या मूलतत्त्व है, पर्याय नहीं है। इसके समर्थन में दो तर्क दिए गए हैं- (१) भट्टनायक ने 'साधारणीकरणात्मना' पद का प्रयोग किया है, 'साधारणीकरणरूपेण' का नहीं (२) भावकत्व व्यापार का कार्य विभावादि का साधारणीकरण मात्र नहीं है, निजमोहसंकटता का निवारण भी है। हमारा विचार है कि इतना बारीक कातने से मूल सिद्धान्त के प्रतिपादन में बाधा पड़ती है। पहला तर्क शाब्दिक अधिक है, दोनों पदों के मूल अर्थ में विशेष भेद नहीं है। दूसरे तर्क का उत्तर यह है कि निजमोहसंकटता का निवारण भी तो साधारणीकरण क्रिया का ही अंग है जिसके आधार पर आगे चलकर स्थायी भाव के (निर्विघ्नप्रतीति रूप) साधारणीकरण की व्यवस्था की गयी है। दूसरी विप्रतिपत्ति भट्टनायक के ही कुछ ऐसे वाक्यों को लेकर उपस्थित की गई है जो उपर्युक्त स्थापनाओं के विरोधी प्रतीत होते हैं। ये वाक्य इस प्रकार हैं: न च सा प्रतीतिर्युक्ता। सीतादेरविभावत्वात्। स्वकान्तास्मृत्यसंवेदनात्। देवतादौ साधारणीकरणायोग्यत्वात्। समुद्रलंघनादेरसाधारण्यात्। अर्थात् वह प्रतीति मान्य नहीं है। वास्तविक सीतादि के विभावारूप में उपस्थित न होने से। अपनी स्त्री आदि की स्मृति अभिनय-काल में न होने से। देवतादि (सीता, पार्वती आदि पूजनीया देवियों) के साधारणीकरण के अयोग्य होने से। समुद्रलंघन आदि के असाधारण होने से (हिं०अ०भा०, पृ० ४६२-६३)। इन वाक्यों को पढ़कर ऐसा प्रतीत होता है मानो भट्टनायक को अलौकिक पात्रों और कार्यों का साधारणीकरण मान्य नहीं है। किन्तु स्थिति बिल्कुल विपरीत है; भट्टनायक तो उसे मान कर ही चलते हैं और चूँकि इनका साधारणीकरण सिद्ध है, इसलिए रस की (प्रत्यक्ष) प्रतीति असिद्ध हो जाती है। उनका तर्क स्पष्ट है: यदि रस की प्रत्यक्ष प्रतीति मान ली जाए तो सीतादि देवियों का और समुद्रलंघन आदि देवकार्यों का साधारणीकरण नहीं हो सकेगा; परन्तु चूँकि इनका साधारणीकरण सिद्ध है, इसलिए रस की प्रतीति असिद्ध है।

भूप बागु बर देखेउ जाई । जहँ बसन्त रितु रही लोभाई।
लागे बिटप मनोहर नाना । बरन बरन बर बेलि बिताना।
नव पल्लव फल सुमन सुहाए। निज संपति सुररूख लजाए।
चातक कोकिल कीर चकोरा । कूजत बिहग नटत कल मोरा।
मध्य बाग सरु सोह सुहावा। मुनि सोपान बिचित्र बनावा।
बिमल सलिलु सरसिज बहुरंगा। जल-खग कूजत गुँजत भृंगा।

× × × ×

तेहि अवसर सीता तहँ आई। गिरिजा पूजन जननि पठाई।

× × × ×

कंकन किंकिन नूपुर धुनि सुनि । कहत लषन सन राम हृदयँ गुनि।
मानहुँ मदन दुन्दुभी दीनी । मनसा बिस्व बिजय कहँ कीन्ही।
अस कहि फिरि चितए तेहि ओरा। सिय मुख ससि भए नयन चकोरा।
भए बिलोचन चारु अचंचल। मनहुँ सकुचि निमि तजे दृगंचल।
देखि सीय सोभा सुखु पावा। हृदयँ सराहत बचनु न आवा।

× × × ×

सिय सोभा हिअँ बरनि प्रभु, आपनि दसा बिचारि।
बोले सुचि मन अनुज सन, बचन समय अनुहारि॥

तात जनकतनया यह सोई। धनुषजज्ञ जेहि कारन होई।
पूजन गौरि सखीं लै आई। करत प्रकास फिरहिं फुलवाई।
जासु बिलोकि अलौकिक सोभा। सहज पुनीत मोर मनु छोभा।
सो सबु कारनु जान बिधाता। फरकहिं सुभद अंग सुनु भ्राता।

× × ×

करत बतकही अनुज सन, मनु सिय रूप लोभान।
मुख सरोज मकरन्द छबि, करै मधुप इव पान।

(रामचरितमानस : बालकांड, दोहा २२६ से २३१)

यहाँ राम आश्रय हैं, सीता आलम्बन हैं, वासन्ती वैभव से समृद्ध जनक-वाटिका उद्दीपन है, राम के पुलक आदि अनुभाव हैं, रति स्थायी है और हर्ष, वितर्क मति आदि संचारी हैं। उपर्युक्त व्याख्या के अनुसार प्रस्तुत प्रसंग की रसास्वादन-प्रक्रिया में इन सभी का साधारणीकरण हो जाता है। आश्रय राम के साधारणीकरण का अर्थ यह है कि वे राम न रहकर रति-मुग्ध सामान्य पुरुष बन जाते हैं—उनका देश और काल तथा उनसे अनुबद्ध वैशिष्टच तिरोभूत हो जाता है और नारी के सौन्दर्य से अभिभूत सामान्य किशोर मन उभरकर सामने आ जाता है। आलम्बन सीता के साधारणीकरण का आशय भी बहुत कुछ ऐसा ही है—अर्थात् उनका भी देशकालावच्छिन्न वैशिष्टच समाप्त हो जाता है और सामान्य कामिनी रूप शेष रह जाता है। अनुभाव के साधारणीकरण से अभिप्राय यह है कि राम की चेष्टाएँ राम से सम्बद्ध न रहकर सामान्य मुग्ध पुरुष की चेष्टाएँ बन जाती हैं। इसी प्रकार रत्यादि

स्थायी भाव और हर्ष, वितर्क आदि संचारी भाव भी एक ओर राम-सीता से और दूसरी ओर सहृदय तथा उसके आलम्बन से सम्बद्ध नहीं रह जाते—वे वैयक्तिक राग-द्वेष से मुक्त हो जाते हैं। उपर्युक्त प्रसंग में जो रति स्थायी भाव है वह न राम की सीता के प्रति रति है, न सहृदय की सीता के प्रति और न सहृदय की अपने प्रणय-पात्र के प्रति—यह तो निर्मुक्त रति भाव है जिसमें स्व-पर की चेतना निश्शेष हो चुकी है। मूलतः यह सहृदय का ही स्थायी भाव है, परन्तु साधारणीकृति के कारण व्यक्ति-चेतना से निर्मुक्त हो गया है। इस प्रकार रस के अवयवों में जो मूर्त्त हैं वे विशेष से सामान्य बन जाते हैं और जो अमूर्त भाव रूप हैं वे व्यक्ति-संसर्गों से मुक्त हो जाते हैं—विभावों की देश-काल के बन्धन से मुक्ति होती है और भावों की स्व-पर की चेतना से।

संस्कृत के परवर्ती शास्त्रकार प्रायः इसी मत की आवृत्ति करते रहे—केवल दो आचार्यों—विश्वनाथ और जगन्नाथ—के विवेचन में विभेद के कुछ संकेत मिलते हैं। विश्वनाथ ने वैसे तो स्थायी भाव और विभावादि सभी का साधारणीकरण माना है :

साधारण्येन रत्यादिरपि तद्वत्प्रतीयते ।
परस्य न परस्येति ममेति न ममेति च ।। सा० द० ३।१२।।
तदास्वादे विभावादेः परिच्छेदो न विद्यते । ३।१३ का पूर्वार्ध ।।

श्रृंगारादि रसों के स्थायी भाव रति आदिक भी काव्य-नाट्यादि में सामान्य रूप से प्रतीत होते हैं। रसास्वाद के समय विभावादिकों का 'ये [विभावादि] मेरे हैं अथवा मेरे नहीं हैं—अन्य के हैं अथवा अन्य के नहीं हैं,' इस विशेष रूप से परिच्छेद अर्थात् सम्बन्ध-विशेष का स्वीकार अथवा परिहार नहीं होता।"—किन्तु उन्होंने आश्रय के साथ प्रमाता के अभेद या तादात्म्य को औरों की अपेक्षा अधिक महत्त्व दिया है :

व्यापारोऽस्ति विभावादेर्नाम्ना साधारणी कृतिः ।।३।९।।
तत्प्रभावेण, यस्यासन् पाथोधिप्लवनादयः
प्रमाता तदभेदेन स्वात्मानं प्रतिपद्यते ।।३।१०।।
उत्साहादिसमुद्बोधः साधारण्याभिमानतः ।
नृणामपि समुद्रादिलंघनादौ न दुष्यति ।।३।११।।

—यही साधारणीकरण विभावादि का विभावन नामक व्यापार है। इसी के प्रभाव से उस समय प्रमाता अपने को समुद्रलंघन करने वाले हनुमान् आदि से अभिन्न समझने लगता है। (हनुमान आदि के साथ) साधारण्याभिमान अर्थात् अभेदज्ञान हो जाने पर मनुष्यों का भी समुद्रलंघन आदि में उत्साह दूषित नहीं है।"

इसका सारांश यह है कि साधारणीकरण व्यापार के प्रभाव से प्रमाता का आश्रय के साथ तादात्म्य हो जाता है—सामान्य आश्रय के साथ ही नहीं वरन् अलौकिक शक्ति-सम्पन्न देवादि के साथ भी। उदाहरण के लिए लौकिक परिस्थिति में सामान्य जन के लिए समुद्रलंघन के उत्साह का अनुभव सम्भव नहीं है, किन्तु काव्य-

नाटचादि में, साधारणीकरण के प्रभाव से उसका हनुमान आदि के साथ तादात्म्य हो जाने के कारण, इस प्रकार का उत्साह भी सहज सम्भव हो जाता है। यह प्रश्न अभावात्मक रूप में भट्टनायक ने भी उठाया था—विश्वनाथ ने भावात्मक रूप में उसे और भी उभार कर सामने रखा है। पण्डितराज जगन्नाथ ने भी नव्यन्याय के आलोक में प्रकारान्तर से आश्रय के साथ तादात्म्य का ही कथन किया है, किन्तु इस सन्दर्भ में उन्होंने 'दोष' शब्द का प्रयोग अधिक शुद्ध माना है :

काव्ये नाट्ये च, कविना नटेन च प्रकाशितेषु विभावादिषु, व्यञ्जनव्यापारेण दुष्यन्तादौ शकुन्तलादिरतौ गृहीतायामनन्तरं च सहृदयतोल्लासितस्य भावनाविशेषरूपस्य दोषस्य महिम्ना, कल्पितदुष्यन्तत्वावच्छादिते स्वात्मन्यज्ञानावच्छिन्ने शुक्तिकाशकल इव रजतखण्डः समुत्पद्यमानोऽनिर्वचनीयः साक्षिभास्य-शकुन्तलादि-विषयक-रत्यादिरेव रसः।" (हिन्दी रस० गं०, प्र० आ०, पृ० १०१)

इसका अभिप्राय यह है कि पहले तो हमें काव्य और नाटक में कवि तथा नट द्वारा प्रस्तुत विभावादि का ज्ञान होता है। फिर व्यंजना व्यापार के द्वारा यह प्रतीति होती है कि दुष्यन्त शकुन्तला के प्रति अनुरक्त है। इसके उपरान्त सहृदयता के कारण हमारे चित्त में एक प्रकार की भावना उत्पन्न हो जाती है, अर्थात् हम अपनी सहृदयता के कारण दुष्यन्तादि के विषय में पुनः पुनः अनुसन्धान करने लग जाते हैं। यह भावना एक ऐसा दोष है जिससे हमारी आत्मा कल्पित दुष्यन्तत्व आदि से आच्छादित हो जाती है, अर्थात् उस समय हम अपने को दुष्यन्त समझने लगते हैं— "और जब हम अपने को दुष्यन्त समझ लेते हैं, तब हमें अपने को शकुन्तला का प्रेमी समझने में कोई बाधा नहीं रह जाती, अर्थात् उक्त दोष के कारण कल्पित दुष्यन्तत्व से आच्छन्न आत्मा में कल्पित-शकुन्तला-विषयक रति भी भासित होने लगती है, जैसे दूरत्व आदि दोषों के कारण जब सीपी के टुकड़े अज्ञान से ढक जाते हैं—वास्तविक रूप में नहीं समझ पड़ते, तब उन टुकड़ों में ही चाकचिक्य दोष से चाँदी के टुकड़े उत्पन्न हो जाते हैं—अर्थात् वे सीप के टुकड़े चाँदी के टुकड़े प्रतीत होने लगते हैं। यद्यपि न हम में शकुन्तला आदि की रति वास्तविक रूप में रहती है, न सीप के टुकड़ों में चाँदीपन, तथापि साक्षी आत्मा उनका भान करा देती है।"[1]

बात यह भी वही है जो विश्वनाथ ने कही है, किन्तु इस पर दर्शन का वर्क चढ़ा हुआ है। पण्डितराज के दार्शनिक विधान में साधारणीकरण के लिए स्थान नहीं

१. वस्तुतः पण्डितराज ने सामान्य रूप से साधारणीकरण को स्वीकार नहीं किया—यद्यपि विभावादीनां साधारण्यं प्राचीनैरुक्तम् तदपि काव्येन शकुन्तलादिशब्दैः शकुन्तलात्वादिप्रकारकबोधजनकैः प्रतिपाद्यमानेषु शकुन्तलादिषु दोष-विशेषकल्पनं विना दुरुपपादम्। अर्थात् यद्यपि प्राचीन आचार्यों ने विभावादि के साधारणीकरण का कथन किया है, फिर भी यह बात दोष-विशेष की कल्पना के बिना बन नहीं सकती, क्योंकि काव्यों में शकुन्तला आदि शब्दों के द्वारा ही शकुन्तला आदि का प्रतिपादन रहता है और जो शब्द शकुन्तलात्वेन शकुन्तला आदि के बोधक हैं, फिर कान्तात्वेन उनका बोध कैसे हो सकता है? (हिन्दी रस० गं० पृ० १०५)—कहने की आवश्यकता नहीं कि यह अस्वीकृति केवल शाब्दिक या सैद्धान्तिक है, व्यवहार में साधारणीकरण का निषेध यहाँ भी नहीं है।

है—यहाँ तो 'भ्रम' है : भावनादोष है। किन्तु दर्शन के आवरण को हटाकर देखें तो ये भी आश्रय के साथ प्रमाता के तादात्म्य और समानुभूति की ही बात कर रहे हैं : कवि की भावनारूढ़ कल्पना से सामाजिक की सहृदयता (भावना-कल्पना) उद्बुद्ध हो जाती है और वह आश्रय के साथ तादात्म्य का अनुभव करता हुआ समान भाव की अनुभूति करता है। लौकिक-अलौकिक का व्यवधान यहाँ नहीं रहता—दुष्यन्त के साथ तादात्म्य होने से जिस प्रकार वह (कल्पित) रति का अनुभव करता है, इसी प्रकार हनुमान की भावना से आच्छादित होने के कारण वह समुद्रलंघन के उत्साह का भी अनायास ही (कल्पित) अनुभव कर लेता है।

पण्डितराज के बाद गम्भीर शास्त्रीय विवेचन का क्रम प्राय: समाप्त ही हो गया। हिन्दी के रीति-कवियों का अनुराग काव्यशास्त्र के रोचक एवं सरल प्रसंगों तथा कविशिक्षा तक ही सीमित रहा—साधारणीकरण आदि तात्त्विक विषयों के प्रति उनके मत में कोई आकर्षण नहीं था। अत: काव्यशास्त्र के इस अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं मौलिक विषय का विवेचन गतिरुद्ध पड़ा रहा और लगभग तीन शताब्दियों के उपरान्त आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने प्रसिद्ध लेख[1] 'साधारणीकरण और व्यक्ति-वैचित्र्य-वाद' में सहसा इसका पुनरुद्धार किया। शुक्लजी का यह लेख भारतीय काव्यशास्त्र-विषयक अनुसन्धान का परिच्छेद या अंग न होकर स्वतन्त्र चिन्तन का ही परिणाम है। उनकी दृष्टि अतीत पर न होकर वर्तमान पर ही स्थिर है और उन्होंने इस प्राचीन सिद्धान्त की अपने अभिमत 'लोकधर्म' सिद्धान्त के समर्थन में ही उद्धृति एवं व्याख्या की है। अत: इस लेख में साधारणीकरण सिद्धान्त का शास्त्रीय विवेचन नहीं पुनराख्यान ही प्रमुख है और इसी रूप में उसकी स्थापनाओं का मूल्यांकन करना चाहिए।

विवेच्य विषय से सम्बद्ध शुक्लजी के उद्धरण इस प्रकार हैं—

१. "जब तक किसी भाव का कोई विषय इस रूप में नहीं लाया जाता कि वह सामान्यत: सबके उसी भाव का आलम्बन हो सके, तब तक उसमें रसोद्बोधन की पूरी शक्ति नहीं आती। इसी रूप में लाया जाना हमारे यहाँ साधारणीकरण कहलाता है।"

२(क) "काव्य का विषय सदा विशेष होता है, सामान्य नहीं, वह व्यक्ति सामने लाता है, जाति नहीं।"

(ख) "साधारणीकरण का अभिप्राय यह है कि पाठक या श्रोता के मन में जो व्यक्ति-विशेष या वस्तु-विशेष आती है, वह जैसे काव्य में वर्णित 'आश्रय' के भाव का आलम्बन होती है, वैसे ही सब सहृदय पाठकों या श्रोताओं के भाव का आलम्बन हो जाती है।"

(ग) "जिस व्यक्ति-विशेष के प्रति किसी भाव की व्यञ्जना कवि या पात्र करता है, पाठक या श्रोता की कल्पना में यह व्यक्ति-विशेष ही उपस्थित रहता है।"

३. "कल्पना में मूर्ति तो विशेष ही की होगी, पर वह मूर्ति ऐसी होगी जो

१. यह लेख प्रथम बार सन् १९३३ में 'द्विवेदी अभिनन्दन ग्रन्थ' में प्रकाशित हुआ था।

प्रस्तुत भाव का आलम्बन हो सके, जो उसी भाव को पाठक या श्रोता के मन में भी जगाए, जिसकी व्यञ्जना आश्रय अथवा कवि करता है। इससे सिद्ध हुआ कि साधारणीकरण आलम्बनत्व धर्म का होता है।"

४. "व्यक्ति तो विशेष ही रहता है, पर उसमें प्रतिष्ठा ऐसे सामान्य धर्म की रहती है, जिसके साक्षात्कार से सब श्रोताओं या पाठकों के मन में एक ही भाव का उदय थोड़ा या बहुत होता है।"......"विभावादि सामान्य रूप से प्रतीत होते हैं, इसका तात्पर्य यही है कि रसमग्न पाठक के मन में यह भेदभाव नहीं रहता कि यह आलम्बन मेरा है या दूसरे का। थोड़ी देर के लिए पाठक या श्रोता का हृदय लोक का सामान्य हृदय हो जाता है।"

५. "साधारणीकरण में आलम्बन द्वारा भाव की अनुभूति प्रथम कवि में चाहिए, फिर उसके वर्णित पात्र में और फिर श्रोता या पाठक में। विभाव द्वारा जो साधारणीकरण कहा गया है, वह तभी चरितार्थ होता है।"

साधारणीकरण का विवेचन करते समय भट्टनायक और अभिनवगुप्त के अभिमत शुक्लजी के सामने नहीं थे—केवल विश्वनाथ का मत ही उनके सामने था। उसका भी उन्होंने शास्त्रीय विवेचन न कर केवल स्वतन्त्र चिन्तन या अपने सिद्धान्त के अनुकूल प्रयोगमात्र किया है। पहला तथ्य शुक्लजी की सामयिक परिसीमा का द्योतक है और दूसरा उनकी मौलिक प्रतिभा का।

वे मूलतः आलम्बन का साधारणीकरण मानते हैं। आलम्बन का अर्थ है भाव का विषय। उसका साधारणीकरण इस प्रकार होता है कि पहले वह कवि के भाव का विषय बनता है और फिर समस्त सहृदय समाज के भाव का विषय बन जाता है।

आलम्बन के साधारणीकरण का अर्थ यह नहीं कि उसका व्यक्तित्व ही तिरोहित हो जाता है—अर्थात् वह व्यक्ति न रहकर जाति बन जाता है। उसका व्यक्तित्व तो बना रहता है, पर उसमें कुछ ऐसे गुणों का समावेश हो जाता है जिनके कारण वह समस्त सहृदय-समाज के उसी भाव का विषय बन जाता है—अर्थात् सीता कामिनी मात्र बनकर रह जाती हैं, यह बात नहीं, वरन् वे अपने शील-सौन्दर्य आदि सामान्य गुणों के कारण सभी के प्रेम का विषय बन जाती हैं। आलम्बन का व्यक्तित्व बना रहे और फिर भी उसका साधारणीकरण हो जाए—इस विषमता का समाधान करने के लिए शुक्लजी अपनी मूल स्थापना में थोड़ा संशोधन करते हुए कहते हैं कि साधारणीकरण वस्तुतः आलम्बन-धर्म का होता है, अर्थात् उन सामान्य गुणों का होता है जिनके कारण सीता राम को प्रिय लगती हैं। यहाँ कई बातें उलझ जाती हैं: सीता केवल कामिनी नहीं हैं, व्यक्ति हैं; वे राम की प्रिया हैं किन्तु राम के प्रेम का आधार उनके शील-सौन्दर्य आदि ऐसे सामान्य गुण हैं जो समस्त सहृदय समाज में रतिभाव उत्पन्न करते हैं; सीता राम की प्रिया हैं किन्तु प्रेम का आधार चूंकि सीता के सामान्य गुण ही हैं, अतः वे सहृदय-समाज को भी प्रिय हैं—अर्थात् सहृदय-समाज के प्रेम की

१, २, ३ और ४. चिन्तामणि भाग (१) १९५७—पृ० २२७-२३०।
५. रसमीमांसा, पृ० ९६।

विषय सीता व्यक्ति नहीं वरन् उस व्यक्ति के शील-सौन्दर्य आदि गुण हैं। शुक्लजी के सामने वास्तव में अपने दो सिद्धांतों के बीच सामंजस्य स्थापित करने की समस्या उपस्थित हो गई है (१) काव्य का विषय (आलम्बन) विशिष्ट होता है और (२) काव्य का आस्वादन भाव की सामान्य भूमिका पर होता है। इस समस्या का समाधान उन्होंने अपने बुद्धि-बल से इस प्रकार कर लिया है: आलम्बन के वैशिष्ट्य की रक्षा करते हुए समर्थ कवि, जिसे लोक-हृदय की पहचान होती है, सामान्य गुणों के आधार पर उसका साधारणीकरण कर लेता है। निदान, सहृदय सीता के प्रति अनुरक्त हो जाता है, परन्तु उसके हृदय में यह भेद-भाव नहीं रहता कि सीता राम के प्रेम की आलम्बन है या उसके अपने प्रेम की। सहृदय का चित्त व्यक्ति-चेतना से मुक्त हो जाता है।

पहले कवि के हृदय में सीता के प्रति अनुराग का उदय होता है, फिर वह आश्रय के द्वारा उसे व्यक्त करता है और अन्त में काव्य का आस्वादयिता समस्त सहृदय-समाज उस भाव का अनुभव करता है। अभिनव के गुरु भट्टतोत का भी यही मत है—नायकस्य कवेः श्रोतुः समानोऽनुभवस्ततः।

शुक्लजी के मत का सार कदाचित् यही है—यहाँ हमने उन्हीं के मत को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है; उसके सत्यासत्य का निर्णय बाद में करेंगे।

यह मत भारतीय काव्यशास्त्र के स्वीकृत सिद्धान्त से थोड़ा भिन्न है। इसीलिए संस्कृत के शास्त्रविद् पण्डितों ने इस पर आक्षेप किए हैं। पण्डित केशवप्रसाद ने शुक्लजी के इस मन्तव्य को 'भ्रम' की संज्ञा देते हुए लिखा है—'साधारणीकरण से यहाँ यह अर्थ लिया गया है कि विभाव, अनुभाव आदि का साधारण अथवा लोकमान्य होना दो अर्थों में माना जा सकता है। एक तो स्वरूपतः सामान्य होना और दूसरे परिणाम अथवा उद्देश्य में सामान्य होना। स्वरूपतः सामान्य होने का आग्रह करना ठीक न होगा, क्योंकि उस अवस्था में विभाव, अनुभाव आदि सीमित और शृङ्खलाबद्ध हो जायेंगे और काव्य की व्यापकता नष्ट हो जायगी। परिणामतः या अन्तिम ध्येय में सामान्यता (साधारणीकरण) मानने के भी दो प्रकार हो सकते हैं। एक तो बौद्धिक या द्वैतवादी, जिसमें काव्य को नैतिक और अनैतिक के द्वन्द्वों के भीतर देखा जाता है और नैतिक पक्ष का रसास्वाद किया जाता है और दूसरा मनोवैज्ञानिक, ध्वन्यात्मक अथवा कलात्मक जिसमें नैतिकता का प्रश्न पृथक् नहीं रहता, 'ध्वनि' में अवसित हो जाता है। इनमें पहला प्रकार भट्टनायक के 'भुक्तिवाद' के अनुकूल पड़ता है और दूसरा अभिनवगुप्त के ध्वनिवाद से सम्बन्धित है। कहने की आवश्यकता नहीं कि उक्त विद्वान् पहले प्रकार के समर्थक हैं, किन्तु हम आचार्य अभिनवगुप्त का मत मानते हैं। साधारणीकरण तो कवि अथवा भावुक की चित्तवृत्ति से सम्बन्ध रखता है। चित्त के एकतान और साधारणीकृत होने पर उसे सभी कुछ साधारण प्रतीत होने लगता है।"[1]

केशवजी ने अपना मन्तव्य अन्त में सर्वथा स्पष्ट कर दिया है। वे अभिनवगुप्त के अनुसार साधारणीकरण से अभिप्राय चित्तवृत्ति के साधारणीकरण का ही

१. साहित्यालोचन, डा० श्यामसुन्दरदास (१९९९) पृ० २८४-८५ पर उद्धृत।

मानते हैं। सहृदय का चित्त जब एकतान हो जाता है तो उसे सभी कुछ साधारण प्रतीत होने लगता है। विभाव का साधारणीकरण एकांगी है, भाव का साधारणीकरण ही वास्तविक एवं पूर्ण है। अभिनव ने अपने अद्वैत सिद्धान्त के आधार पर इसी अखण्ड चेतना में साधारणीकरण का अनुसन्धान किया था। विभाव पर बल देने का अर्थ है विषय की सत्ता की महत्त्व-प्रतिष्ठा अर्थात् द्वैत की प्रतिष्ठा और द्वैतवादी रस-कल्पना का आधार मूलतः बौद्धिक एवं नैतिक ही रहेगा। इस प्रकार केशवजी आचार्य शुक्ल की रस-दृष्टि को द्वैतवादी भट्टनायक के भुक्तिवाद के साथ सम्बद्ध कर उसे उतने ही अनुपात में अपूर्ण मानते हैं। अभिनव के अनुसार रस आध्यात्मिक प्रक्रिया है और केशवजी भी इसी आध्यात्मिक कल्पना में रस-दृष्टि की पूर्णता मानते हैं। उनके आक्षेप का सारांश यह है : विभाव बद्ध या सीमित है, भाव मुक्त या असीम; अतः विभाव का साधारणीकरण अपूर्ण एवं सीमित है—वह बौद्धिक एवं नैतिक है जबकि भाव का साधारणीकरण चित्त की मुक्ति अथवा संविद्विश्रांति का पर्याय है, अतः वह पूर्ण है। पं० केशवप्रसाद मिश्र का विवेचन अत्यन्त सूक्ष्म एवं तात्त्विक है। उन्होंने आचार्य शुक्ल की विभाव-निष्ठ दृष्टि तथा नैतिक चेतना के सम्बन्ध का उद्घाटन अत्यन्त मार्मिकता के साथ किया है और अंततः उसे अभिनवगुप्त के अद्वैत की अपेक्षा भट्टनायक के द्वैत-सिद्धान्त के सन्निकट माना है। फिर भी उनके सभी निष्कर्ष यथा-वत् ग्राह्य नहीं हैं। यह तो ठीक है कि प्राचीन आचार्यों में भट्टनायक के दृष्टिकोण में द्वैत का आधार होने से विषय की सत्ता की स्वीकृति है और चूँकि उन्होंने ही सबसे पहले रसास्वाद के प्रसंग में नैतिक प्रश्न उठाया है, अतः यह भी कल्पना संगत ही है कि उनका दृष्टिकोण आध्यात्मिक या शुद्ध आनन्दवादी न होकर नैतिक आधार लिए हुए है। ये दोनों तत्त्व ऐसे हैं जो शुक्लजी के दृष्टिकोण में भी विद्यमान हैं, अतः उनका मत भट्टनायक के अनुकूल है—यह निष्कर्ष भी अशुद्ध नहीं है। किन्तु भट्टनायक और शुक्लजी के मन्तव्यों में कुछ स्पष्ट भेद भी हैं—(१) उदाहरण के लिए भट्ट-नायक ने सभी का साधारणीकरण माना है, आलम्बन पर बल नहीं दिया, (२) निजकान्तास्मृति की सत्ता को उन्होंने रसास्वाद की प्रक्रिया में सर्वथा अस्वीकृत कर दिया है, पर शुक्लजी विकल्प रूप में यह भी मान लेते हैं कि 'यदि किसी पाठक या श्रोता का किसी सुन्दरी से प्रेम है तो श्रृङ्गार रस की फुटकल उक्तियाँ सुनने के समय रह-रहकर आलम्बन रूप में उसकी प्रेयसी की मूर्ति ही उसकी कल्पना में आएगी।' (३) भट्टनायक करुणादि समस्त रसों की अनुभूति को आनन्दमयी मानते हैं, परन्तु शुक्लजी की रस-कल्पना हृदय की मुक्तावस्था का ही पर्याय है—अर्थात् वह भट्टनायक के भावकत्व-व्यापार-जन्य 'निजमोहसंकटतानिवारण' पर ही समाप्त हो जाती है, 'भोग' तक नहीं पहुँच पाती।

पं० केशवप्रसाद मिश्र के उपरान्त भी यह विवेचन-क्रम चला और डा० गुलाब-राय तथा पं० रामदहिन मिश्र आदि ने प्रस्तुत प्रसंग पर विस्तार से अपने विचार व्यक्त किये, किन्तु इनके विवेचन में विषय की व्याख्या का ही प्राधान्य है—कोई नवीन विचार हमारे सामने उपस्थित नहीं होता।

सारांश

इस सम्पूर्ण विवेचन का सारांश यह है :

१. रस के समस्त अवयवों—विभाव अनुभाव, स्थायी और संचारी का साधारणीकरण होता है। साधारणीकरण की प्रक्रिया में थोड़ा-सा (असंलक्ष्य) क्रम रहता है—विभावादि का साधारणीकरण पहले होता है और स्थायी का उसके परिणाम-स्वरूप बाद में। यह भट्टनायक का मत है और इसमें विषय तथा विषयी दोनों पक्षों का सन्तुलन है।

२. मूलतः रस के विभावादि समस्त अवयवों का ही साधारणीकरण होता है और विभावादि के साधारणीकरण के फलस्वरूप ही स्थायी का साधारणीकरण होता है जिससे सहृदय की चेतना व्यक्ति-संसर्गों से मुक्त एकतान हो जाती है। परन्तु स्थायी का यह साधारणीकरण—अर्थात् सहृदय-चेतना की निर्मुक्ति ही अन्ततः मुख्य हो जाती है और शेष ज्ञान (सामान्य तथा विशेष दोनों प्रकार का) उसमें लीन हो जाता है। यह अभिनवगुप्त का मत है और इसमें अन्ततः भाव एवं विषयी पक्ष की ही स्वीकृति है।

३. तीसरे मत के अनुसार भी साधारणीकरण तो सभी का माना गया है, किन्तु यहाँ साधारणीकरण की प्रक्रिया में आश्रय के साथ तादात्म्य को रेखांकित कर दिया गया है—प्रमाता की चेतना विकसित होकर हनुमान की चेतना के साथ तादात्म्य कर समुद्रलंघन जैसे अलौकिक कार्यों के प्रति भी उत्साह का अनुभव करती है। यहाँ हनुमान (विभाव) का उत्साही पुरुष मात्र के रूप में साधारणीकरण नहीं माना गया, वरन् सम्पूर्ण प्रमातृवर्ग का अलौकिक शक्ति-सम्पन्न हनुमान के साथ तादात्म्य स्वीकार किया गया है। इस रूप में यह भट्टनायक और अभिनव के मत से किंचित् भिन्न है।—यह मत विश्वनाथ का है, जगन्नाथ ने भी दर्शन की शब्दावली में इसे ही प्रस्तुत किया है, उनके विचार से भी (भ्रमवश ही सही) आश्रय के साथ तादात्म्य ही मुख्य क्रिया है।

४. शुक्लजी के मत से साधारणीकरण मूलतः आलम्बन या आलम्बनत्व धर्म का होता है, अर्थात् कवि आलम्बन का इस प्रकार वर्णन करता है कि वह अपने वैशिष्ट्य की रक्षा करता हुआ भी साधारण धर्मों के कारण सभी पाठकों के मन में वैसा ही भाव उद्‌बुद्ध करता है जैसा कि काव्य-प्रसंग के अन्तर्गत आश्रय के मन में आता है। इस प्रकार भाव के साधारणीकरण को शुक्लजी भी यथावत् स्वीकार करते हैं, किन्तु बल उनका विभाव अर्थात् आलम्बन या आलम्बन-धर्म के साधारणीकरण पर ही है।

५. साधारणीकरण की प्रक्रिया में तीन बिन्दु हैं—कवि, नायक (आश्रय) और श्रोता। इन तीनों के भाव-तादात्म्य से साधारणीकरण पूर्ण हो जाता है। यह भट्टतोत का मत है, आचार्य शुक्ल ने भी इसे यथावत् मान्यता प्रदान की है।

विवेचन

इन विकल्पों में से कौन-सा सत्य है—साधारणीकरण वस्तुतः किसका होता

है ? मूल प्रश्न यही है, जिसका समाधान किये बिना साधारणीकरण का वास्तविक आशय और महत्त्व स्पष्ट नहीं हो सकता ।

'मानस' के 'जनक-वाटिका' प्रसंग का अध्ययन करते समय दो सत्ताएँ विद्यमान रहती हैं—एक वस्तु या विषय की और दूसरी प्रमाता या विषयी की । विषय के अन्तर्गत विभाव अर्थात् आश्रय और आलम्बन, उद्दीपन, अनुभाव और संचारी आते हैं, विषयी स्वयं सहृदय या प्रमाता है । भट्टनायक के मत से विषय के समस्त अंगों का साधारणीकरण होता है और परिणामत: प्रमाता के स्थायी भाव का भी । यही मौलिक सिद्धान्त है, परन्तु मूल सिद्धान्त की समीक्षा करने से पूर्व इसके विषय में प्रस्तुत संशोधनों पर विचार करना अधिक उपयोगी होगा ।

आश्रय के साथ तादात्म्य—साधारणीकरण की प्रक्रिया में, जहाँ रस के समस्त अवयवों का साधारणीकरण होता है, आश्रय का साधारणीकरण भी अन्तर्भूत है—अर्थात् जैसा कि हमने ऊपर स्पष्ट किया है, आश्रय का साधारणीकरण भी समस्त प्रक्रिया का अनिवार्य अंग है । किन्तु आश्रय के साधारणीकरण और प्रमाता द्वारा आश्रय के साथ तादात्म्य की अनुभूति में अन्तर है । पहले का अर्थ यह है कि राम या हनुमान अलौकिक शक्ति-सम्पन्न व्यक्ति न रहकर सामान्य पुरुष बन जाते हैं और दूसरे का अर्थ यह है कि प्रमाता उन क्षणों में अपने को राम या हनुमान समझने लगता है और धनुर्भंग अथवा समुद्रलंघन-जैसे अलौकिक कृत्यों के प्रति उसके मन में उत्साह जागृत हो जाता है । एक में राम या हनुमान का सामान्य मानव-धरातल पर उतरना विवक्षित है और दूसरे में प्रमाता का उठकर विशेष अलौकिक धरातल पर पहुँचना । किन्तु आश्रय के साधारणीकरण का आशय यह नहीं है कि ये अपने गौरव से वंचित होकर जन-साधारण के स्तर पर उतर आते हैं । ऐसा मान लेने पर तो काव्य द्वारा उदात्तीकरण का सिद्धान्त ही खण्डित हो जाएगा । साथ ही उसका यह अर्थ भी नहीं है कि काव्य में 'व्यक्ति' का नहीं 'जाति' या वर्ग का चित्रण होता है और आश्रय अपना व्यक्तित्व खोकर वर्गगत या जातिगत गुणों का प्रतीक-मात्र रह जाता है, क्योंकि इस प्रकार तो काव्य भावना का विषय न रहकर विचार का ही विषय रह जाएगा और उसकी प्रभावी शक्ति ही नष्ट हो जाएगी । इसका अर्थ यह है कि आश्रय के गौरव का वैशिष्ट्य—देशकालबद्ध रूप तिरोहित हो जाता है और सामान्य मानवीय औदात्य उभर कर सामने आ जाता है जो सहृदय-समाज के संस्कारों में भी निसर्गत: विद्यमान है । फिर भी 'प्रमाता का आश्रय के साथ तादात्म्य' यह नहीं है, क्योंकि तादात्म्य की प्रक्रिया में आश्रय तो बदलता ही नहीं : विश्वनाथ के अनुसार प्रमाता अपने में हनुमान का अभिमान करने लगता है—यहाँ तक कि समुद्रलंघन जैसे अलौकिक कृत्यों के प्रति भी उसमें उत्साह जग जाता है । यह स्थिति प्राचीन मत के अनुसार ग्राह्य नहीं है । वास्तव में इसी प्रकार के अलौकिक पात्रों और उनके कार्यों को सामान्य पाठक के लिए ग्राह्य बनाने के उद्देश्य से ही तो साधारणीकरण की आवश्यकता और भी है । इसके अतिरिक्त 'आश्रय' शब्द का अर्थ तो बहुत व्यापक है । यहाँ आश्रय का व्यक्तित्व प्रेय और भाव मधुर होने के कारण हम थोड़ी देर के लिए सन्देह में

सकते हैं, परन्तु राम और दुष्यन्त या हनुमान और अंगद ही नहीं रावण और शूर्पणखा भी तो आश्रय हो सकते हैं अर्थात् आश्रय तो घृणित, क्रूर, भिन्न-लिंगी, नीच—हमारे व्यक्तित्व के ठीक विपरीत भी हो सकता है, हम उसके साथ कहाँ तक तादात्म्य करते फिरेंगे ? यदि प्रेय चरित्रों को ही लें, तब भी तादात्म्य सर्वत्र ग्राह्य नहीं हो सकता; मृतवत्सा शैव्या के साथ तादात्म्य तो शोक का कारण ही हो सकता है रस का नहीं। पंडितराज के अनुसार, भावना-दोष के कारण कल्पित दुष्यन्तत्व द्वारा सहृदय-चेतना के आच्छादन की प्रकल्पना को भी यदि यथावत् स्वीकार कर लें तब भी इस प्रश्न का उत्तर नहीं मिलता। कल्पना के बीच में आ जाने से वास्तविक शोक का आघात कम तो हो सकता है, पर इस कल्पित शोक की रस में परिणति नहीं हो सकती। पण्डित-राज भी काव्य के चमत्कार के अतिरिक्त इसका कोई तर्कसम्मत उत्तर नहीं दे सके। अतः 'आश्रय के साथ तादात्म्य' की स्वतन्त्र या प्रमुख स्थिति अग्राह्य है : साधारणी-करण की सम्पूर्ण प्रक्रिया के अंग रूप में ही तादात्म्य मान्य हो सकता है।

आश्रय के प्रसंग में ही नायक का प्रश्न भी उठाया जा सकता है। नायक के साथ प्रमाता का तादात्म्य होता है : नायकस्य कवेः श्रोतुः समानोऽनुभवस्ततः (तोत)। इसमें क्या आपत्ति है ? आपत्ति स्पष्ट है। संस्कृत काव्य का नायक ऐसे गुणों से विभूषित होता था कि उसके साथ तादात्म्य करना प्रत्येक सहृदय के लिए सहज और स्पृहणीय था। काव्य के मूल अर्थ की अभिव्यक्ति कवि प्रायः नायक के माध्यम से ही करता था अर्थात् कवि स्वयं नायक से तादात्म्य स्थापित कर लेता था, अतः सहृदय-समाज का भी उसके साथ सहज तादात्म्य हो जाता था। इस प्रविधि का उपयोग आज भी होता है और नायक की परम्परागत गरिमा आज भी नष्ट नहीं हुई। किन्तु स्थिति में थोड़ा परिवर्तन तो हो ही गया है। आज अनेक प्रथम श्रेणी के उपन्यासों में नायक का रूप उक्त आदर्श के बिलकुल विपरीत मिलता है जिसके साथ तादात्म्य सहृदय के लिए न सहज होगा न स्पृहणीय। उदाहरण के लिए एक साम्यवादी उपन्यास-कार किसी हृदयहीन पूंजीपति को नायक के रूप में हमारे सामने लाकर अपनी सम्पूर्ण घृणा को उसके व्यक्तित्व में पुंजीभूत कर देता है। उपन्यास व्यक्ति-प्रधान है, क्योंकि उसका उद्देश्य पूँजीवाद की मूल-चेतना—व्यक्तिवाद के प्रति घृणा जगाना है। नायक असन्दिग्ध रूप से वही घृणित व्यक्ति है। परन्तु क्या आप उसके साथ तादात्म्य कर सकेंगे ? यदि ऐसा कर सकेंगे, तो यह उपन्यासकार की घोर विफलता होगी। इस तरह 'नायक के साथ तादात्म्य' भी सर्वथा सिद्ध नहीं होता और रस-परिपाक के लिए नायक का साधारणीकरण भी आश्रय के साधारणीकरण के समान ही (यद्यपि उतना नहीं) अपर्याप्त ही रहता है।

आलम्बन या आलम्बन-धर्म का साधारणीकरण—आलम्बन-धर्म के साधारणी-करण का अर्थ यह है कि काव्य में वर्णित भाव का विषय—व्यक्ति या वस्तु—यद्यपि विशेष रूप में ही प्रत्येक सहृदय के मानस-पटल पर अंकित होता है, फिर भी वह अपने कुछ सामान्य, अर्थात् सभी को प्रायः समान रूप से प्रभावित करनेवाले, गुणों के कारण समस्त सहृदय-समाज के चित्त में प्रायः एक-सा ही भाव जगाता है। इस प्रकार

साधारणीकरण मूलतः आलम्बन के उन गुणों का होता है जो सम्बद्ध भाव की जागृति के कारण हैं। सीता का सीतात्व तो नष्ट नहीं होता, पर उनके ऐसे सामान्य गुण उभरकर सामने आ जाते हैं जिनके कारण वे केवल राम के ही नहीं सम्पूर्ण सहृदय-समुदाय के अनुराग की भाजन बन जाती हैं। मैं समझता हूँ कि आचार्य शुक्ल के मत का और अधिक स्पष्टीकरण सम्भव नहीं है। परन्तु क्या यह मान्य है?

इस विषय में कुछ बातें बिलकुल साफ़ हैं। एक तो यह कि प्रस्तुत मत भट्ट-नायक तथा अभिनवगुप्त दोनों के मतों से भिन्न है, केवल विश्वनाथ के मन्तव्य से ही इसमें परिणामी समानता है। भट्टनायक और अभिनव दोनों ही आलम्बन आदि के व्यक्तित्व का विगलन मानते हैं—उसके बिना न विभाव का और न भाव का ही साधारणीकरण पूर्ण हो सकता है। इस स्वतःस्पष्ट तथ्य को स्वीकार करने में परेशान होने की ज़रूरत नहीं है—शुक्लजी के युग की अपनी मर्यादाएँ थीं, क्योंकि अभिनव-गुप्त आदि के ग्रन्थ उस समय सुलभ नहीं थे और साथ ही उनकी चिन्तन-पद्धति भी एकान्त रूप से शास्त्रबद्ध नहीं थी। दूसरी बात यह है कि विशेष रूप को सुरक्षित रखते हुए आलम्बन के साधारणीकरण की सिद्धि वास्तव में नहीं हो सकती। स्वयं शुक्लजी को इसकी प्रतीति हुई है, इसीलिए वे आलम्बन से हटकर आलम्बनत्व या आलम्बन-धर्म तक पहुँच गये हैं—और फिर उन्हें उसको नैतिक आधार प्रदान करना पड़ा है। ऐसा आलम्बन शुक्लजी को ग्राह्य नहीं है जिसका आधार नैतिक न हो, क्योंकि उसका तो साधारणीकरण ही नहीं हो सकता। यहाँ आप देखें कि कठिनाई किस प्रकार बढ़ती जा रही है—आलम्बन, फिर आलम्बन-धर्म, और फिर उसका औचित्य या नैतिक आधार। यह सब इसलिए हो रहा है कि भाव के विषय को भाव से अधिक महत्त्व दिया जा रहा है और साधारणीकरण की प्रक्रिया में एक अंग स्वतन्त्र हो गया है। तीसरा आक्षेप यह किया जा सकता है कि इस प्रकार आलम्बन का क्षेत्र सीमित हो जाता है और परम्परा द्वारा निर्धारित आलम्बन ही काव्य में ग्राह्य हो सकते हैं—अर्थात् रामादि सदा प्रीतिकर भावों के और रावणादि अप्रीतिकर भावों के ही आलम्बन सकते हैं। अतः यह रस-दृष्टि परम्परागत नैतिक मूल्यों से परिबद्ध है। सामान्यतः परम्परा एवं नैतिक मूल्यों का अनुशासन श्रेयस्कर ही होता है और काव्य-मूल्य उनसे सर्वथा स्वतन्त्र नहीं हो सकते, फिर भी नैतिक मूल्य और साहित्यिक मूल्य पर्याय नहीं बन सकते। इस तरह तो भाव-क्षेत्र का विकास ही रुक जाएगा। 'मेघनाथ-वध' जैसे महान् काव्यों की रसवत्ता ही खण्डित हो जाएगी। वास्तव में परम्परा और नीति-संहिता का बड़ा महत्त्व है, परन्तु मानवता उनसे भी बड़ी है। अतएव परम्परा और नीतिविधान के प्रति निष्ठावान् रहते हुए भी काव्य-मूल्यों को तो मानवीय और सार्व-भौम ही बनना पड़ेगा। प्रस्तुत सिद्धान्त को यथावत् स्वीकार कर लेने पर रस का क्षेत्र सीमित हो जाता है—मानवात्मा की वह दिव्य कान्ति, जो प्रथा और नीति के आवरण को चीर जीवन के असाधारण क्षणों में कौंध जाती है, इस रस-दृष्टि के [illegible] में नहीं आती और केवल माइकेल के साथ ही नहीं सूर और तोल्सतोय जैसे कलाकारों के साथ भी अन्याय हो जाता है।

सहृदय की चेतना का साधारणीकरण—सहृदय की चेतना का साधारणीकरण या निर्मुक्ति रसास्वादन की अन्तिम एवं आधारभूत क्रिया है। किन्तु यह परिणाम है: विभावादि के साधारणीकृत रूप में उपस्थित होने से अन्ततः प्रमाता की चेतना भी स्व-पर की भावना से मुक्त एकतान हो जाती है। स्वर्गीय पं० केशवप्रसाद मिश्र ने अभिनवगुप्त के प्रमाण से इसी को प्रधानता दी है: "चित्त के एकतान और साधारणीकृत होने पर उसे (प्रमाता को) सभी कुछ साधारण प्रतीत होने लगता है।"[1] किन्तु यह धारणा भी यथावत् मान्य नहीं है।—चित्त की एकतानता ही तो संविद्विश्रान्ति है और वही रस है, अतः वह साधारणीकरण का कारण नहीं हो सकती, वह तो कार्य या परिणति है। चित्त के एकतान होने पर तो प्रमाता, अभिनव के अनुसार, आत्मास्वाद-रूप रस का अनुभव करता है, उस समय उसे अन्य पदार्थों की साधारण प्रतीति के लिए अवकाश ही नहीं रहता। साधारणीकरण रसास्वाद का समरूप, सहचारी या संचारी नहीं है, वह तो कारण है। अतः यह स्थापना भी सर्वथा मान्य नहीं है कि प्रमातृ-चेतना की एकतानता ही वस्तुतः साधारणीकरण है।

सर्वांग का साधारणीकरण—अन्त में हम घूम-फिर कर भट्टनायक के इस मन्तव्य पर लौट आते हैं कि साधारणीकरण वास्तव में सर्वांग का ही होता है। उदाहरण के लिए ऊपर उद्धृत 'जनक-वाटिका प्रसंग' में आश्रय राम, आलम्बन सीता, आश्रय की चेष्टाएँ—अनुभाव, जनक-वाटिका का रमणीक वातावरण—उद्दीपन, राम के मन में संचरण करने वाले हर्ष, मति आदि भाव सभी साधारणीकृत हो जाते हैं। दूसरे शब्दों में सम्पूर्ण प्रसंग ही, विशिष्ट देशकाल-बद्ध घटना न रहकर, साधारणीकृत हो जाता है जिसके परिणामस्वरूप प्रमाता की चेतना भी व्यक्ति-संसर्गों से मुक्त—साधारणीकृत हो जाती है। किन्तु यह काव्य-प्रसंग तो अपने-आप में जड़ वस्तु है—इसका चैतन्य अंश तो इसका 'अर्थ' है। और यह अर्थ क्या है? कवि का संवेद्य—कवि की अनुभूति, सामान्य भावानुभूति नहीं, सर्जनात्मक अनुभूति, भाव की कल्पनात्मक पुनःसर्जना की अनुभूति—भारतीय काव्यशास्त्र की शब्दावली में 'भावना'; इसी का शास्त्रीय नाम 'ध्वन्यर्थ' है जो एक ओर कवि के अर्थ को व्यक्त करता है और दूसरी ओर प्रमाता के चित्त में समान अर्थ को उद्‌बुद्ध करता है। काव्य-प्रसंग इसी का मूर्त रूप या बिम्ब है। अर्थ के अनुरूप ही यह बिम्ब सरल अथवा संश्लिष्ट होता है—प्रायः संश्लिष्ट ही होता है। उपर्युक्त बिम्ब निश्चय ही संश्लिष्ट है, उसमें अनेक लघु बिम्बों का समन्वय है। राम के विषय में कवि की भावात्मक कल्पना 'आश्रय राम' के रूप में बिम्बित हुई है, सीता-विषयक भावना 'आलम्बन सीता' के रूप में, उनके प्रथम मिलन के पावन-रमणीय वातावरण की भावना 'उद्दीपक जनकवाटिका' के रूप में और राम के मन में उद्‌भूत भावनाओं की कल्पना 'हर्ष, मति आदि संचारियों' के रूप में बिम्बित हुई है। ये छोटे-छोटे बिम्ब मिलकर एक संश्लिष्ट बिम्ब का निर्माण करते हैं जो 'रामसीता-प्रथममिलन'-विषयक कवि की संश्लिष्ट 'भावना' को शब्द-मूर्त करता है। अतः काव्य-प्रसंग और कुछ नहीं कवि की 'भावना' का बिम्ब-मात्र है—यह काव्य-

१. साहित्यालोचन—(१९९१ वि०) पृ० २८१।

प्रसंग या बिम्ब शरीर है और कवि-भावना उसको प्रकाशित करनेवाली चैतन्य आत्मा है; और, चूँकि साधारणीकरण जड़ यांत्रिक क्रिया न होकर चैतन्य क्रिया है, अतः काव्य-प्रसंग या रस के समस्त अवयवों का साधारणीकरण मानने की अपेक्षा कवि-भावना का साधारणीकरण मानना मनोविज्ञान[१] के अधिक अनुकूल है। भट्टनायक की विषयप्रधान धारणा और अभिनव की विषयिप्रधान धारणा—दोनों के साथ इसकी संगति बैठ जाती है, वस्तुतः यह दोनों के बीच अनुस्यूत सम्बन्धसूत्र है और वर्तमान युग में रससिद्धान्त के सबसे समर्थ प्रतिष्ठापक आचार्य शुक्ल को भी इसमें कोई आपत्ति नहीं है।

पिछले दशक में मेरी इस स्थापना को लेकर काफ़ी विवाद हुआ है और उसके विरुद्ध अनेक प्रकार के तर्क एवं शंकाएँ व्यक्त की गई हैं। इनमें से अनेक आक्षेप तो पूर्वग्रह अथवा व्यक्तिगत निष्ठा पर आश्रित हैं, अतः उनके पीछे तर्क अथवा सत्यान्वेषण का आग्रह इतना नहीं है जितना कि शुक्लजी के प्रति अतर्क्य विश्वास तथा गुरु-द्रोही के प्रति आक्रोश है। ये अबोध तार्किक दया के ही पात्र हैं क्योंकि ये नहीं जानते कि ये क्या कहना चाहते हैं और क्या कह रहे हैं। किन्तु दो आक्षेप ऐसे हैं जिनका समाधान विषय के स्पष्टीकरण के लिए आवश्यक है। एक आक्षेप स्वर्गीय डॉक्टर गुलाबराय का है—वे यह स्वीकार नहीं करते कि सम्पूर्ण काव्य-प्रसंग (आश्रय-आलम्बन तथा उनसे सम्बद्ध घटना आदि) कवि की अनुभूति का प्रतीक मात्र है, उसकी स्वतन्त्र वस्तु-स्थिति नहीं है : "यद्यपि यह बात किसी अंश में ठीक है कि राम-सीतादि का रूप विभिन्न कवियों की भावनाओं की अभिव्यक्ति पर ही आश्रित रहता है तथापि जनता के मन में भी परम्परागत संस्कारों से एक सामान्य भावना बनी रहती है, वही आलम्बन का विषयगत अस्तित्व है। जो बात सब के मन में वर्तमान हो वह मानसिक रहती हुई विषयगतता (Objectivity) धारण कर लेती है।"

(सिद्धान्त और अध्ययन द्वि० सं० पृ० २१३)

वास्तव में बाबूजी के इस मन्तव्य का मेरी स्थापना से कोई विशेष विरोध नहीं रह जाता, क्योंकि अन्ततः वे भी आलम्बन आदि का अस्तित्व मानसिक या संस्कारगत ही मान लेते हैं। एक जनकवाटिका-प्रसंग 'प्रसन्नराघव' में है और दूसरा 'रामचरित-मानस' में—'बाल्मीकि-रामायण' और 'साकेत' में वह है ही नहीं। ऐसी दशा में उसकी वस्तुस्थिति क्या रही ? बाबूजी कहेंगे कि जन-मानस में इस प्रसंग का जो 'साधारण' संस्कार विद्यमान है—वही उसका वस्तुगत आधार है। किन्तु यह साधारण संस्कार भी तो कवि की अनुभूति से ही बना है—अथवा यों कहिए कि यह अनेक कवियों की अनुभूतियों का संघात ही तो है। और फिर, 'मानस' का जनकवाटिका-प्रसंग जनमानस के साधारण संस्कार का बिम्ब मात्र नहीं है—तुलसी के तद्विषयक मनोबिम्ब का शब्द-रूप है। इसलिए बाबूजी द्वारा प्रतिपादित विषय-सत्ता भी अन्ततः विषयिगत ही सिद्ध हो जाती है और उनका मतभेद मूल सिद्धान्त से न रहकर बलाबल

१. कुछ पण्डितप्रवर मनोविज्ञान से ही चिढ़े हुए हैं, पर इसमें न तो मनोविज्ञान का दोष है और न मेरा।

मात्र तक सीमित रह जाता है—अर्थात् उन्हें ऐसा लगा है जैसे मैंने पूरा बल कवि की विशिष्ट अनुभूति पर ही केन्द्रित कर 'साधारण' संस्कार की उपेक्षा कर दी हो। परन्तु ऐसा तो है नहीं—मैंने तो कहीं भी कवि की अनुभूति को 'विशिष्ट' या 'वैयक्तिक' अनुभूति नहीं माना।

दूसरा आक्षेप यह है कि जिस प्रकार प्रत्येक स्थिति में आश्रय के साथ तादात्म्य स्थापित करना हमारे लिए सम्भव नहीं है, इसी प्रकार प्रत्येक स्थिति में कवि के साथ तादात्म्य करने में कठिनाई हो सकती है। जिस प्रकार आश्रय की भावनाएँ हमारी भावनाओं के सर्वथा विपरीत हो सकती हैं, इसी प्रकार कवि की भी। उदाहरण के लिए यदि कोई प्रगतिवादी कवि विद्रोह की उग्र भावना से अभिभूत होकर भारतीय परम्पराओं का उपहास करता है या चिरन्तन प्रयोगशीलता का आग्रही कवि जीवन के शाश्वत मूल्यों पर व्यंग्य करता है तो उसके साथ हमारा तादात्म्य कैसे हो सकता है? अर्थात् उक्त प्रगतिवादी या नए कवि की अनुभूति का साधारणीकरण कैसे माना जा सकता है? साम्प्रदायिक भक्त कवियों के सम्बन्ध में भी यही समस्या सामने आती है। उनके 'सहचरी भाव' का साधारणीकरण किस प्रकार हो सकता है? इस समस्या का समाधान भी कठिन नहीं है। ये सभी परिस्थितियाँ वास्तव में ऐसी हैं जहाँ स्वयं कवि अपनी भावना का साधारणीकरण करने में असमर्थ रहता है—साम्प्रदायिक चेतना अथवा राजनीतिक या साहित्यिक पूर्वग्रह के कारण उसकी अनुभूति विशिष्ट ही रहती है। और, जब कवि स्वयं ही अपनी अनुभूति के साधारणीकरण में असमर्थ रहता है तब पाठक या पाठक-समाज के चित्त में समान अनुभूति का उद्बोध वह कैसे कर सकता है? इस प्रकार मूलतः असाधारणीकृत या साधारणीकरण के अयोग्य कवि-अनुभूति का उदाहरण देकर हमारी स्थापना को असिद्ध नहीं किया जा सकता। वास्तव में उपर्युक्त उदाहरणों में तो अनुभूति व्यक्तिगत ही रह जाती है, काव्यानुभूति बन ही नहीं पाती, क्योंकि कवि अथवा यों कहें कि कवि-कर्म में रत व्यक्ति स्वयं अपने चित्त को एकतान नहीं कर पाया—वह तो अपने व्यक्तिगत, वर्गगत या सम्प्रदायगत[1] भाव को ही वाणी दे रहा है और व्यक्तिगत भाव की अभिव्यक्ति कविता नहीं होती। इसके विपरीत जहाँ उसका कवि-कर्म सफल हो जाता है, जैसे कि 'मेघनाद वध' में, वहाँ साधारणीकरण हो जाता है और हिन्दू पाठक भी अपने व्यक्तिगत या जातिगत संस्कारों से मुक्त होकर शुद्ध सहृदयता की भूमि पर कवि के साथ कुछ समय के लिए तादात्म्य कर लेता है।

"अतएव निष्कर्ष यही निकला कि साधारणीकरण कवि की अनुभूति का होता है अर्थात् जब कोई व्यक्ति अपनी अनुभूति की इस प्रकार अभिव्यक्ति कर सकता है कि वह सभी के हृदयों में समान अनुभूति जगा सके तो पारिभाषिक शब्दावली में हम कहते हैं कि उसमें साधारणीकरण की शक्ति वर्तमान है। अनुभूति सभी में होती है, सभी व्यक्ति उसे यत्किंचित् व्यक्त भी कर लेते हैं, परन्तु साधारणीकरण करने की शक्ति सब में नहीं होती। इसीलिए तो अनुभूति और अभिव्यक्ति के होते

१. वर्ग-चेतना और साम्प्रदायिक चेतना भी व्यक्ति-चेतना का ही प्रक्षेपण मात्र है।

हुए भी सब कवि नहीं होते। कवि वह होता है जो अपनी अनुभूति का साधारणीकरण कर सके, दूसरे शब्दों में 'जिसे लोक-हृदय की पहचान हो।' यहाँ आकर ये सभी बाधाएँ आप दूर हो जाती हैं कि किसी आश्रय का व्यक्तित्व हमारे विपरीत है, या कोई नायक हमारे घृणा और क्रोध का विषय है, अथवा किसी आलम्बन के प्रति हमारा भाव-विशेष अनुचित है। आश्रय-रूप रावण यदि कहीं राम की भर्त्संना करता है तो क्या हुआ ? हमारी रसानुभूति में कोई बाधा नहीं आती, क्योंकि हमारे अन्तर में तो वही अनुभूति जागेगी जो कवि ने इस प्रतीक द्वारा व्यक्त की है। माईकेल को रावण से सहानुभूति है इसलिए 'मेघनाद-वध' का यह प्रसंग हमारे हृदय में रावण के लिए सहानुभूति और राम के प्रति तुच्छभाव जागृत करेगा। तुलसी को यदि राम के प्रति भक्ति और रावण के प्रति घृणा है तो यह प्रसंग उसी के अनुकूल हमारे लिए रावण को उपहास्य या तुच्छ भाव या घृणा का विषय बनाकर राम के प्रति हमारी भक्ति जागृत करेगा। हमको रस दोनों ही अवस्थाओं में आएगा। आश्रय यदि भिन्नलिंगी है—पुरुष पाठक के सामने 'खण्डिता' का विरह-निवेदन या नारी पाठक के समक्ष खलनायक की मनुहारों का वर्णन है—तब भी कोई अन्तर नहीं पड़ता क्योंकि हम न खण्डिता से तादात्म्य करते हैं और न खलनायक से : हमारा तादात्म्य तो इन बिम्बों द्वारा व्यक्त कवि-भाव के साथ होता है। इसी प्रकार यदि साम्यवादी लेखक के उपन्यास का पूँजीपति नायक अपनी कुत्साओं में जघन्य है तो हुआ करे, हम उससे तादात्म्य थोड़े ही स्थापित करते हैं। हम (हमारी अनुभूति) लेखक (की अनुभूति) से तादात्म्य स्थापित करते हैं। अतएव हम लेखक की तरह ही उसकी जघन्यता के प्रति अपनी घृणा और क्रोध जागृत कर उपन्यास का रस लेंगे। ठीक इसी तरह यदि सीता में हमारी परम्परागत पूज्य-बुद्धि है तो हो। यह सीता नहीं है, यह तो कवि की अनुभूति का प्रतीक है। तुलसी को यदि उसके प्रति अमिश्रित रति की अनुभूति न होकर श्रद्धा-मिश्रित रति की अनुभूति होती है तो हमको भी वैसी ही होगी। हम राम से तादात्म्य न करके तुलसी से ही तादात्म्य कर पाएँगे। ऐसी दशा में हमको रसानुभूति तो होगी पर अमिश्रित शृङ्गार की नहीं। इसके विपरीत 'कुमारसम्भव' या रीतिकालीन राधा-कृष्ण-प्रेम-प्रसंगों को पढ़कर यदि हमें अमिश्रित शृंगार की अनुभूति होती है तो उसका कारण यही है कि तुलसी के विपरीत कालिदास या रीतियुग के कवि की तद्विषयक अनुभूति अमिश्रित रति की ही अनुभूति थी। उसमें कोई मानसिक ग्रन्थि नहीं थी। यह सीधा सत्य है जिसे एक ओर साधारणीकरण के आविष्कारक भट्टनायक और अभिनवगुप्त भारत की अव्यक्तिगत काव्य-परम्परा के कारण, दूसरी ओर आधुनिक आलोचना में उसके सबसे प्रबल पृष्ठपोषक शुक्लजी अपनी वस्तुपरक या नैतिक रस-दृष्टि के कारण, अभिज्ञ होते हुए भी, सर्वथा स्पष्ट रूप में व्यक्त नहीं कर पाए।

अगर आप ऊब न गए हों तो आइए एक और आवश्यक प्रश्न का समाधान कर लिया जाय। साधारणीकरण कवि के लिए किस प्रकार सम्भव होता है ? वह किस प्रकार अपनी अनुभूति का साधारणीकरण करता है ? स्वदेश-विदेश के पण्डितों

ने इसके दो उत्तर दिए हैं—(१) साधारणीकरण भाषा का धर्म है। (२) साधारणीकरण का मूलाधार मानव-सुलभ सहानुभूति है, जो सभी मनुष्यों के हृदय में एकतार अनुस्यूत है।

पहले उत्तर में भट्टनायक और अभिनवगुप्त की ध्वनि है। भट्टनायक काव्य (काव्यमय शब्द) में ही एक ऐसी 'भावकत्व' शक्ति मानते हैं जिससे कि भाव का आप-से-आप साधारणीकरण हो जाता है। अभिनवगुप्त शब्द में भावकत्व की कल्पना को निराधार मानते हुए शब्द की सर्व-प्रधान शक्ति व्यंजना में साधारणीकरण की सामर्थ्य मानते हैं। विदेश के पण्डित भी भाषा को ऐसे ज्ञान और भाव-प्रतीकों का समूह मानते हैं, जो उन विशेष ज्ञान-खण्डों और भावों को समान रूप से सबकी चेतना में जगा सकें। ज्ञान और भाव वास्तव में एक-दूसरे के विपरीत न होकर चेतना के दो संस्थान हैं : ज्ञान पहला संस्थान है, भाव दूसरा। कभी तो ऐसा होता है कि कोई प्रतीक-विशेष हमारी चेतना में किसी वस्तु का ज्ञान-मात्र ही जगाकर रह जाता है, और कभी ज्ञान के आगे उसका 'भावन' भी करा देता है। भाषा के ये ही दो प्रयोग हैं। एक वह जिसमें प्रतीक केवल ज्ञान जगाते हैं, दूसरा वह जिसमें भाव भी जगाते हैं। पहला प्रयोग हम सभी साधारणतः व्यवहार में लाते हैं, दूसरा केवल भाव-दीप्त क्षणों में—जब हमारे अपने भाव प्रतीकों पर आरूढ़ होकर उन्हें इतना भावमय बना देते हैं कि उनमें सुननेवालों के हृदयों में भी समान भाव उद्बुद्ध करने की शक्ति आ जाती है। तात्पर्य यह है कि शब्दों को भावोद्दीपन करने की शक्ति मूलतः हमारे भावों से ही प्राप्त होती है। अब यदि आप पूछें कि एक व्यक्ति का भाव दूसरों के हृदयों में समान भाव कैसे उत्पन्न कर देता है तो इसका उत्तर यही है कि मूलतः सम्पूर्ण मानवता एक चेतना से चैतन्य है। मानव-मानव के हृदय में (भारतीय दर्शन तो चराचर को भी अपनी परिधि में समेट लेता है) चेतना का ऐसा एक तार अनुस्यूत है जो एक स्थान पर भी स्पर्श पाकर समग्रतः झंकृत हो जाता है। आपको चाहे इस कथन में रहस्यवाद की गन्ध आए, परन्तु मनोविज्ञान, शरीर-शास्त्र और अध्यात्म अभी इससे आगे नहीं बढ़ पाए हैं।

अतएव साधारणीकरण का आधार है भाषा का भावमय प्रयोग। भाषा का भावमय प्रयोग प्रयोक्ता की अपनी भाव-शक्ति पर निर्भर रहता है, और प्रयोक्ता के भावों की संवेदन-शक्ति का आधार है—मानव-सुलभ सहानुभूति।

"भाव-शक्ति थोड़ी-बहुत सभी में होती है। इसलिए साधारणीकरण की भी शक्ति थोड़ी-बहुत सभी में होती है, अन्यथा जीवन की स्थिति ही सम्भव नहीं। परन्तु साधारणीकरण की विशेष शक्ति उसी व्यक्ति में होगी जिसकी भाव-शक्ति विशेष रूप से समृद्ध हो, जिसकी अनुभूतियाँ विशेष रूप से सजग हों। ऐसा ही व्यक्ति भाषा का भावमय प्रयोग कर सकता है, अर्थात् अपने समृद्ध भावों के बल पर वह उनके प्रतीकों को सहज ही ऐसी शक्ति प्रदान कर सकता है कि वे दूसरों के हृदयों में भी समान भाव जगा सकें। ऐसा ही व्यक्ति कवि है।"

(रीतिकाव्य की भूमिका से उद्धृत)

मधुरे

रांगेयराघव के उपन्यास

रांगेयराघव का अति लेखन और उनके साहित्य का विपुल आकार उनके सम्य मूल्यांकन में सदैव एक बाधा रहा है। उनकी बहुमुखी सृजनशक्ति के प्रति आद करते हुए भी आलोचकों ने बहुधा ही उसकी उपेक्षा की है। यही कारण है कि अ दूसरे लेखकों की साधारण कृतियों पर भी बहुत-कुछ कहा-लिखा गया, एकाधिक दृष्टि कोणों से उन पर चर्चाएँ हुईं, रांगेयराघव की श्रेष्ठ और महत्वपूर्ण कृतियाँ भी अ देखी और उपेक्षित रह गईं। इसके कारणों का विवेचन-विश्लेषण अन्यत्र मैं विस्ता से कर चुका हूँ।[1] यहाँ प्रस्तुत निबन्ध में रांगेयराघव के सम्पूर्ण उपन्यास-साहित्य की विवेचना और उसकी उपलब्धियों एवं सीमाओं का निर्देश ही अपेक्षित है।

रांगेयराघव हिन्दी-भाषी नहीं थे। परन्तु अपनी मातृभाषा तमिल में न लि कर उन्होंने हिन्दी में लिखा और बहुत थोड़े अर्से में साहित्य की लगभग सारी विधा पर छा गए। उपन्यासकार के रूप में उनका आगमन 'घरौंदे' के साथ हुआ। 'घरौं उनका प्रथम उपन्यास था परन्तु उसके लेखक के भविष्य और विस्मयकारी क्षमता का संकेत उससे मिल सका। प्रो० प्रकाशचन्द्र गुप्त ने उसकी समीक्षा करते हुए लि था, "श्री रांगेयराघव हिन्दी में धूम्रकेतु की गति से उदय हुए हैं···आपकी रचना में बल, वेग और सामाजिक-चेतना है; उन्माद, आँधी की गति और बरसाती नदी वेग है; और किनारे काटकर वन-भूमि में फैल जाने की स्वच्छन्दता है।"[2] कि नये लेखक की प्रथम रचना होने के नाते अनिवार्य रूप से उसमें बहुत सी त्रुटियाँ विचार और शिल्पगत अपरिपक्वता भी उसमें है। परन्तु जो बात महत्वपूर्ण है यह है कि वह स्रष्टा के गौरवपूर्ण भविष्य के स्पष्ट संकेत छोड़ता है और सहज ही विश्वास और आस्था पैदा करता है। प्रो० गुप्त ने समीक्षा समाप्त करते हुए लि था, 'लेखक ने 'घरौंदे' बनाये हैं, आगे चलकर वह घर भी बनायेगा। यह वि का स्वाभाविक क्रम है। जैसी शक्ति श्री रांगेयराघव ने अपने प्रथम प्रयास में प्र की है, वह साहित्य की साधारण घटना नहीं। यह हिन्दी में एक नयी सृजन-श के अभ्युदय की सूचना है।"[3]

'घरौंदे' से 'आख़िरी आवाज़' तक रांगेयराघव ने एक लम्बा रास्ता तय कि

१. देखिए 'लहर' सितम्बर '६३ में मेरा लेख "रांगेयराघव : अध्ययन की समस्याएँ"।
२. आधुनिक हिन्दी साहित्य : एक दृष्टि १८०।
३. वही १८३।

है। कुल मिलाकर उन्होंने लगभग अड़तालीस उपन्यास लिखे हैं। आलोचकों ने उनके प्रति अपनी उपेक्षा को बहुधा सिद्धान्त की आड़ में ढाँकने की कोशिश की है। उनकी असामयिक मृत्यु के बाद जब उनके साहित्य के प्रति इस उदासीन रवैये को अपेक्षाकृत अधिक गम्भीरता से महसूस किया गया तो समीक्षकों ने या तो उनकी कुछ सामान्य स्वीकृत त्रुटियों को ही ज़ोर-ज़ोर से दोहराया (जैसे वही उनके रवैये का जॅस्टीफिकेशन भी हो!) या फिर कुछ साधारण कृतियों को लेकर उनके सम्पूर्ण साहित्य पर निष्कर्ष निकाले और मनचाहे फ़तवे दिये। एक समीक्षक का मत है: "उनकी अधिकांश रचनाओं में संयम और चयन की, स्रष्टा के मौलिक कलाबोध की, स्थिर सम्वेदना की बड़ी भारी कमी है...आत्मा को झकझोरने वाली तीव्र अनुभूति का प्रचण्ड वेग बहुत ही कम, उनमें बुद्धि का विलास अधिक है, मन का विक्षोभ कम। इसलिये इतना अधिक लिखने पर भी (या कि इसी कारण ही?) रांगेयराघव हिन्दी कविता या उपन्यास के क्षेत्र में वह स्थान कभी न प्राप्त कर पाये जो उनके कई समकालीनों या परवर्तियों को केवल एक-दो रचनाओं के बल पर ही सहज प्राप्त हो सका है।"[1] आलोचकों को आपत्ति है कि रांगेयराघव का ज्ञान और पांडित्य उनके सृजन को अवरुद्ध करता है कि उस 'कच्चे-पक्के ज्ञान के प्रदर्शन' में ही उनकी कला चुक जाती है। अपने मत के समर्थन में वे जिन भारी-भरकम शब्दों और लम्बी-चौड़ी दलीलों का प्रयोग करते हैं उनके स्पष्टीकरण और विश्लेषण की कोई आवश्यकता नहीं समझते। 'संयम और चयन', 'मौलिक कलाबोध' और 'स्थिर सम्वेदना' आखिर इन वजनी शब्दों का क्या अर्थ है? और फिर 'पतझर' और 'आखिरी आवाज' के सन्दर्भ में निकाले गये यह निष्कर्ष उनके सम्पूर्ण साहित्य पर लागू करना कहाँ तक उचित है? वैसे यह कुछ ऐसे 'रेडीमेड' आरोप हैं जो समय-समय पर यशपाल, रांगेयराघव, राजेन्द्र यादव या किसी भी और लेखक पर आसानी से चस्पा किये जा सकते हैं, बहुधा किये भी गये हैं। अपने 'लहर' वाले लेख में मैंने रांगेयराघ के उपन्यासों और इतर औपन्यासिक कृतियों के अपेक्षाकृत घटिया स्तर के स्वाभाविक कारणों का विश्लेषण किया है। उस सबको दोहराये बिना यह संकेत करना उचित होगा कि रांगेयराघव का अधिकांश लेखन ज़िद और आग्रह के परिणाम के तौर पर हुआ है। शायद ही किसी और लेखक ने प्रकाशकों और मित्रों के आग्रह और सुझाव पर इतना लिखा हो जितना रांगेयराघव ने। उस ज़िद और आग्रह के भी विविध रूप रहे हैं। बहुधा वह ज़िद सैद्धान्तिक रूप में 'विषाद-मठ' और 'सीधा-सादा रास्ता' में प्रकट हुई है। इसके विपरीत प्रकाशकों की माँग को पूरा करने के लिए उन्होंने 'राई और पर्वत' एवं 'कब तक पुकारूँ' जैसे उपन्यास क्रमशः तीन दिन और एक महीने में लिखे हैं। नौकरी छोड़कर वह स्वतन्त्र लेखन की ओर आये और उसी पर निर्भर करने की ज़िद पाले रहे। आज भी हिन्दी और दूसरी भारतीय भाषाओं में कितने ऐसे लेखक हैं जो महज लेखन पर ही रह सकते हैं, रह रहे हैं? उनके उपन्यासों का स्तर निर्विवाद रूप से अत्यन्त असम है। एक ही स्थान पर अच्छा और बुरा बहुधा ही अपने आत्यन्तिक

१. नेमिचन्द्र जैन : 'धर्मयुग' १२ सितम्बर '६२।

छोरों पर—जुड़ा-गुँथा है। जो चीज़ खेदजनक है वह यह कि बुरे के साथ उनके अच्छे को भी अनदेखा किया गया है और इस उपेक्षा के मूल में बहुधा ही समीक्षकों का दुराग्रह रहा है।

अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से रांगेयराघव के सम्पूर्ण उपन्यास-साहित्य का विभाजन इस प्रकार कर सकते हैं :

(१) सामाजिक उपन्यास : (अ) शहरी जीवन से सम्बन्धित उपन्यास
(ब) ग्रामीण जीवन-सम्बन्धी उपन्यास

(२) ऐतिहासिक उपन्यास

(३) जीवन चरितात्मक उपन्यास

(४) आंचलिक उपन्यास

शहरी जीवन से सम्बन्धित उपन्यासों में रांगेयराघव ने बहुत-सी समस्याओं को लिया है। 'छोटी सी बात', 'विषाद-मठ', 'राई और पर्वत', 'सीधा-सादा रास्ता', 'हुज़ूर', 'प्रोफ़ेसर', 'कल्पना', 'उबाल', 'पतझर' आदि उपन्यास इसी कोटि में आते हैं। 'छोटी सी बात' पत्र-शैली का उपन्यास है जिसमें स्त्री-पुरुष के पारस्परिक सम्बन्धों और स्त्री की सामाजिक स्थिति का विश्लेषण मिलता है। 'विषाद-मठ' बंगाल के अकाल की पृष्ठभूमि पर लिखा गया है जिसमें लेखक ने त्रस्त मानवता का करुणापूर्ण चित्र अंकित किया है। यह एक ऐसी कृति है जो लेखक के मानवतावादी पक्ष को उसकी सम्पूर्णता में उभारती है। उपन्यास लिखने से पूर्व लेखक ने उस क्षेत्र का दौरा किया था और अभिशप्त-पीड़ित मानवता को मुँह-दर-मुँह देखा था। पुस्तक में एकाध स्थान पर बलात्कार आदि के दृश्य भी हैं। परन्तु आश्चर्यजनक संयम के साथ सहज कुछ संकेत देकर और अपेक्षित प्रभाव पैदा करके लेखक आगे बढ़ जाता है। कहीं भी ऐसा नहीं होता कि लेखक रुचि लेकर, तल्लीन होकर कुरुचि और कुत्सा को उभारता हो। 'सीधा-सादा रास्ता' और 'हुज़ूर' अलग-अलग ढंग से लेखक के साम्यवादी रूप को उद्घाटित करते हैं। 'सीधा-सादा रास्ता' भगवतीचरण वर्मा के 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' के उत्तर में लिखा गया है। दोनों ही उपन्यासों को लेकर आलोचकों में गहरा मतभेद रहा है। भगवती बाबू ने, जैसा कि सामान्यत: स्वीकार किया गया है, वैज्ञानिक समाजवाद की पीठ में छुरा भोंका है। अपने मत के समर्थन में उन्होंने अपने साम्यवादी पात्रों को तोड़-मरोड़कर विकृत रूप में प्रस्तुत किया है। रांगेयराघव ने उसी कथा को साम्यवादी दृष्टिकोण से लिखा है। डॉ० गणेशन ने पता नहीं किस आधार पर माना है : " 'टेढ़े-मेढ़े राते' में पात्रों को लेखक ने अपने से पूर्णतया मुक्त रखा है, कहीं उन पर जबर्दस्ती अपने मतों का आरोप नहीं किया है। इसके विरुद्ध रांगेयराघव ने जो सीधा-सादा रास्ता दिखाया है, वह लेखक के विचारों से स्वतन्त्र नहीं है। किसी एक मार्ग को ठीक बताने के लिए लेखक को कुछ विचारधाराओं का समर्थन करना पड़ता है और वह निरपेक्ष नहीं रह पाता। रांगेयराघव जातीय आदर्श प्रस्तुत कर पाये हैं; कलात्मक दृष्टि से उनके सज्जित दृश्य यथार्थवादी हैं पर उनके दृष्टिकोण

पर व्यक्तिगत विचारों का प्रभाव अवश्य है।[1]

लेखक के दृष्टिकोण पर व्यक्तिगत विचारों के आरोप का कोई विशेष कारण नहीं है। हर लेखक अपनी कृति में अपने व्यक्तिगत विचारों को व्यक्त करता है और जितनी ईमानदारी से वह ऐसा कर पाता है उसी अनुपात में वह अपनी कृति को शक्ति-सम्पन्न करता है। विरोधी विचारधारा के प्रति हठधर्मी और अनावश्य दुराग्रह लेकर रांगेयराघव नहीं चले हैं। अपने मन्तव्य को स्पष्ट करने के लिए अपने तथाकथित विरोधीपक्ष को उन्होंने कहीं भी ग़लत ढंग से पेश नहीं किया है। 'हुज़ूर' अपेक्षाकृत कमज़ोर कृति है क्योंकि उसके शिल्प से लेखक बँध-सा गया है और उसका 'प्रयोजन' कृति की आत्मा बन सकने की अपेक्षा उस पर आरोपित-सा अधिक है। उपन्यास के अन्त तक पहुँचते-पहुँचते वह विदेशी कुत्ता जो सारी कहानी कहता है, सोचता है—"इंसान दौलत के पीछे पागल है। उसका निज़ाम ऐसा है कि वह गलाज़त से भरा है। जातियों का उठना-गिरना उसके धन और शक्ति के बल पर चलता है। आज मैं अनुभव करता हूँ कि जब तक श्रम करनेवाले को ही समाज में उत्पादन के साधनों पर अधिकार नहीं मिलेगा इंसान और उसकी दुनिया निरन्तर ऐसे ही भटकती रहेगी। उसे कहीं भी चैन नहीं मिलेगा।"[2]

इस विचारधारा का निर्वाह पूरे उपन्यास में कहीं नहीं हुआ है अन्त में बस टिप्पणी के तौर पर इसे चिपका दिया है। 'कल्पना' और 'प्रोफ़ेसर' में भी लगभग ऐसा ही होता है गोकि उनमें लेखक ने कोई राजनैतिक दृष्टिकोण या 'दर्शन' देने की कोशिश एकदम नहीं की है। 'कल्पना' में आधुनिक नारी की समस्या है और 'पतझर' के समान इसमें भी इतिहास और समाजशास्त्र के आधार पर अपने मत और दृष्टिकोण की पुष्टि की गई है। 'प्रोफ़ेसर' देश के पेशेवर भिखमंगों की समस्या से सम्बन्धित है। परन्तु उसमें समस्या को न तो गम्भीर स्तर पर उठाया ही गया है और न उसके इस रूप में निर्वाह का ही कोई प्रयास उसमें मिलता है। स्पष्ट लगता है कि महज़ एक साधारण-सी कहानी को खींचकर उपन्यास का रूप दे दिया गया है।

इस प्रकार सामाजिक उपन्यासों में रांगेयराघव ने अपने बहुविध चिन्तन को व्यक्त किया है। चूंकि संख्या और परिमाण की दृष्टि से उन्होंने बहुत अधिक लिखा है, बहुधा किसी सयस्या को देखकर या कल्पना करके उन्होंने उपन्यासों का ताना-बाना बुना है, उसी के अनुरूप पात्र गढ़ लिये हैं और सामान्यतः बहुत जल्दबाज़ी में उन्हें खत्म कर दिया है। परन्तु बेहिसाब सीमाओं-त्रुटियों के बावजूद इस कोटि के उपन्यासों में भी उनका मानवतावादी दृष्टिकोण, मार्क्सवादी जीवन-दर्शन और स्वतन्त्र भारत की अव्यवस्था पर व्यंग-आक्रोश एवं अर्थहीन मान्यताओं का विरोध स्थान-स्थान पर उभरे हैं।

ग्रामीण जीवन के बारे में रांगेयराघव के दो उपन्यास अधिक प्रसिद्ध हैं 'पथ का पाप' और 'आखिरी आवाज़'। इन उपन्यासों में लेखक ने स्वतन्त्रता प्राप्ति के

१. हिन्दी उपन्यास साहित्य का अध्ययन : ३४५।
२. हुज़ूर : ११०।

बाद के बदले हुए गाँवों के और भी तेज़ी से बदले हुए रूप को लिया है। आज़ादी के बाद समस्याएँ भी बदली हैं और उनका रूप भी। 'पथ का पाप' एक ऐसे व्यक्ति की कहानी है जो अपनी सारी व्यक्तिगत-सामाजिक बुराइयों के बावजूद समाज का सबसे सुखी और सफल व्यक्ति है। उपन्यासों का रूढ़, भोला-भाला किसान न होकर वह ऐसा हर-फन मौला है जो धोखा देने में गज़ब की हद तक माहिर है और इससे भी बड़ी बात यह कि अन्त तक वह अपने असली चेहरे को ढाँककर रख सका है। 'आखिरी आवाज़' गाँव के नैतिक स्खलन, पंचायतों का स्वरूप और मुकदमेबाज़ी आदि से सम्बन्धित है। इसमें लेखक ने अन्तःकरण की विजय दिखाई है कि सारी बुराइयों के बीच भी कुछ है जो मनुष्य के पथ को आलोकित करता है और उसे अन्धकार से प्रकाश की ओर ले जाता है।

रांगेयराघव के ऐसे उपन्यासों की सबसे बड़ी कमज़ोरी यह है कि इनमें गाँवों के अनैतिक, दुर्बल और अमानवीय पक्ष को ही लिया गया है। सब मिलाकर वे गाँवों की एकांगी, फलतः अपूर्ण तस्वीर पेश करते हैं। जीवन के उदात्त पक्ष से उनका अधिक सम्बन्ध नहीं है। गाँवों में फैले बहुविध व्यभिचार को ही उनमें अधिक विस्तार मिला है। जमींदारी खतम हुई, किसानों के शोषण का रूप बदला परन्तु वह ख़तम नहीं हो गया। आज़ादी के बाद नेताओं का एक ऐसा वर्ग उभरा जो मकड़ी के समान अपना जाला गाँवों में भी पूरता गया। 'आखिरी आवाज़' में बड़े निर्विकार और निर्मम भाव से लेखक ने ऐसे वर्ग का रूप उद्‌घाटित किया है। परन्तु अधिकांश में यह उपन्यास सारी प्रतिक्रियावादी ताकतों को उभारने में ही चुक जाते हैं। उनके सक्रिय विरोध के लिए संघर्ष के अनिवार्य तत्त्वों की उनमें प्रायः ही विरलता है। इस प्रकार समाजवादी यथार्थ की अपेक्षा यथार्थ के विकृत और अस्वस्थ रूप को ही वे अधिक प्रस्तुत करते हैं। 'पथ का पाप' की शैली और कथ्य व्यंगात्मक है। उसमें लेखक ने यह स्पष्ट किया है कि व्यभिचारी और नैतिक मान-मूल्यों से हीन व्यक्ति ही समाज का सबसे सफल व्यक्ति है और समाज का इससे भी बड़ा व्यंग यह है कि वही व्यक्ति समाज का आदर्श व्यक्ति भी समझा जाता है। परन्तु सब मिलाकर कला की दृष्टि से वह एक नितान्त असफल रचना है। स्वाभाविक-अस्वाभाविक घटनाओं की उसमें भरमार है और कोई भी सकारात्मक जीवन-दृष्टि उससे नहीं उभरती है।

रांगेयराघव के सृजन का सर्वश्रेष्ठ रूप उनके ऐतिहासिक उपन्यासों में मिलता है। वह एक चिन्तनशील लेखक थे। अपनी प्रगतिवादी मान्यताओं और जीवन-दर्शन को उन्होंने भारतीय इतिहास और संस्कृति की विशाल पटभूमि पर देखा-परखा था। प्राचीन भारतीय संत-परम्परा के मानवतावादी रूप ने उन्हें अत्यधिक प्रभावित किया था। बौद्ध-धर्म उनके लिए किसी धर्म विशेष से अधिक सम्पूर्ण मानव-जाति की शान्ति और जनमंगल का प्रतीक है। यही कारण है कि उनका चिन्तन और विचारधारा अतीत इतिहास के परिप्रेक्ष्य में अधिक स्पष्टता से उभरी है। भारतीय इतिहास के बहुत बड़े अंश को उन्होंने अपने उपन्यासों और गाथाओं के माध्यम से

प्रस्तुत किया है। ऐतिहासिक उपन्यास लिखने की आभ्यन्तरिक अनिवार्यता का विश्लेषण करते हुए रांगेयराघव ने लिखा है : " 'घरौंदे' के बाद मेरे सामने दो रूप खड़े हुए। एक ओर जीवन के यथार्थ ने मुझे वर्तमान में अपनी ओर अधिक खींचा तो दूसरी ओर भारत की आत्मा, उसकी यात्रा और संस्कृति की महान् गति ने मुझे आकर्षित किया और मैंने अतीत के विभिन्न युगों के संघर्षों में मनुष्य को पहचानने का प्रयत्न किया..."[1] परिणामस्वरूप प्रमुख ऐतिहासिक उपन्यासों के अतिरिक्त उन्होंने डॉ० भगवतशरण उपाध्याय के 'गर्जन' और 'सवेरा' एवं राहुल सांकृत्यायन के 'वोलगा से गंगा' के ढंग पर 'महायात्रा' प्रारम्भ की थी। अपने पूर्ववर्तियों की अनिवार्य सीमाओं से बचते हुए वह मानव-समाज के ऐतिहासिक विकास को इस प्रकार गाथाओं के माध्यम से प्रस्तुत करना चाहते थे। मूलरूप में उनकी योजना चार बृहद खण्डों में उसे पूर्ण करने की थी परन्तु 'महायात्रा' की परिसमाप्ति से पूर्व अपेक्षाकृत और भी महान् यात्रा पर वह निकल गए! इसके प्रथम खण्ड 'अँधेरा रास्ता' में प्रगैतिहासिक काल से लगभग १५००० ई० पू० तक के मानव-समाज की विकास-यात्रा को लिया गया है।

इसके अतिरिक्त उनके प्रमुख ऐतिहासिक उपन्यास 'मुर्दों का टीला', 'चीवर' 'पक्षी और आकाश', 'राह न रुकी' और 'अँधेरे के जुगनू' आदि हैं। इन सारे उपन्यासों में रांगेयराघव ने अपनी अबाध कल्पना-शक्ति द्वारा सुदूर अतीत को विश्वसनीय और मोहक रंगों में प्रस्तुत किया है। इन उपन्यासों में मनुष्य और समाज के सन्दर्भ में कुछ शाश्वत समस्याओं को लिया गया है। 'मुर्दों का टीला' मोहनजोदड़ो की महान् सभ्यता-संस्कृति के विनाश की गाथा है। अत्यन्त निर्विकार और असम्पृक्त भाव से लेखक ने द्रविड़-सभ्यता के स्वर्णयुग की कहानी कही है। प्रकारान्तर से दासप्रथा का स्वरूप और गणतन्त्रात्मक शासन की समस्याओं को भी लिया गया है। 'मुर्दों का टीला' की भूमिका में रांगेयराघव ने इतिहास के प्रति वैज्ञानिक दृष्टि-कोण—तटस्थता और निरपेक्षता की बात कही है : "इसमें मैंने विशेष ध्यान रखा है कि उस काल के अनुसार ही सबका वर्णन किया जाए।...खेद है आपको यहाँ 'दास' दासों की सी बात करता मिलेगा। उसकी परिस्थिति प्रगट है। वह उस काल के दार्शनिकों की सी शिक्षित बहस नहीं कर सकता, न वह वैज्ञानिक भौतिकवाद मानता है न द्वन्द्वात्मक—ऐतिहासिक व्याख्या ही। मैं समझता हूँ इतिहास को इति-हास की सफल झलक करके देना ठीक है, न कि अपने-आपको पात्र बनाकर किये कराए पर पानी फेर देना।"

लेखक के इस दृष्टिकोण पर टिप्पणी करते हुए जगदीश गुप्त[2] ने लिखा था "रांगेयराघव का दृष्टिकोण व्यक्तिगत रूप से मुझे अधिक संयत और मोहनजोदड़ो की सभ्यता को अपेक्षाकृत तटस्थभाव से देखने का संकल्प अधिक श्लाघनीय प्रतीत हुआ। उनका 'दास' दासों की सी बात करता है या नहीं इसके आत्यन्तिक निर्णय के

१. साहित्य-सन्देश : आधुनिक उपन्यास अंक : 'उपन्यास कैसे लिखे गए ?' ८७।
२. 'मुर्दों का टीला' की भूमिका।

साधन तो किसी के पास उपलब्ध नहीं हैं, क्योंकि उस समय की लिपि तक अभी पढ़ी नहीं जा सकी है, किन्तु जो विचार आधुनिक हैं उनसे हमारा परिचय अवश्य है। हमारे लिये इतना ही पर्याप्त है कि वह आधुनिक जीवन-दर्शन, तर्क-शैली तथा विचार-प्रवाह से प्रायः मुक्त है और आदिम समाज के संस्कार उसमें परिलक्षित होते हैं। कहीं भी लेखक ने सप्रयास आधुनिक जीवन की समस्याओं को आरोपित करने का कौशल नहीं दिखाया है।"[1] यह ठीक है कि आधुनिक जीवन की समस्याओं का प्रक्षेपण उनके उपन्यासों में बहुधा नहीं मिलता है परन्तु कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी या दूसरे अतीत प्रेमी उपन्यासकारों की भाँति केवल गौरवमण्डित अतीत का चित्रांकन ही उन्हें अभीष्ट नहीं है। इतिहास को मार्क्सीय दृष्टि से देखने वाले अन्य लेखकों की भाँति रांगेयराघव के लिए भी वह विश्वास की अपेक्षा विवेचन-विश्लेषण की वस्तु ही अधिक है। परन्तु शुष्क ऐतिहासिक तथ्यों का संकलनमात्र उनके उपन्यासों में नहीं मिलता है। उनका चिन्तन और दृष्टिकोण उनके पात्रों के माध्यम से व्यक्त हुआ है, होना चाहिए था, परन्तु वे पात्र अपने युग की सीमाओं से अधिकांश में नियन्त्रित और अनुशासित रहते हैं। व्यक्ति से अधिक उनकी दृष्टि युग पर रहती है और युग के अन्दर से उनका व्यक्ति उभरता है : "प्रायः ही मैंने अपनी ऐतिहासिक रचनाओं में युग को देखा है और युग के माध्यम से देखा है व्यक्ति। और व्यक्ति के बारे में कह सकता हूँ कि वह निरन्तर सत्य की खोज करता रहा है।"[2]

उनका यह दृष्टिकोण ही उनके उपन्यासों में नारी की सामाजिक स्थिति और उसके परिवर्तितरूप, व्यक्ति और समाज का पारस्परिक सम्बन्ध तथा युद्ध और शान्ति की समस्याएँ आदि चिरन्तन और शाश्वत महत्त्व के प्रश्नों पर ही बल देता रहा है और अतीत के व्यापक परिप्रेक्ष्य में उनका परीक्षण हुआ है। मानव-जाति की मंगलकामना की धुरी पर ही वे घूमते रहे हैं। 'चीवर' में वह यशपाल की 'दिव्या' की भाँति बौद्धधर्म का निकृष्ट और स्खलित रूप स्वीकार नहीं करते हैं। बौद्धधर्म उनके लिए मनुष्य जाति की अबाध मंगल-कामना का एक प्रतीक मात्र है। यही कारण है कि तपस्या और संयम की गरिमा तथा गृहस्थ-सांसारिकता का सामंजस्य ही उन्हें अभीष्ट रहा है और राज्यश्री के माध्यम से यही उन्होंने किया है। 'चीवर' का प्रकाशन १९५८ में हुआ था। यह वह समय था जब तृतीय विश्व-युद्ध की सम्भावनाएँ और तनाव बहुत बढ़ गया था। इससे पूर्व यशपाल की 'अमिता' और डॉ० धर्मवीर भारती का 'अन्धायुग' प्रकाशित हो चुके थे। अभिव्यक्ति के माध्यम के भेद के बावजूद दोनों ही कृतियाँ अतीत के परिप्रेक्ष्य में युद्ध के निषेध की आवाज़ उठाती हैं। 'चीवर' में राज्यश्री कहती है : "युद्ध हर्षवर्द्धन और पुलकेशिन का है फिर यह परस्पर द्वन्द्वयुद्ध कर लें। व्यर्थ असंख्य प्राणियों का यह नाश क्यों किया जा रहा है ?"

सेनापति स्कन्दगुप्त ने आगे बढ़कर कहा, "देवी ! यह शक्ति और राजनीति

१. इतिहास और ऐतिहासिक उपन्यासकार : 'आलोचना'—१३ : १८२।
२. रांगेय राघव : 'राह न रुकी' की भूमिका : ४।

की बात है। साम्राज्य की मर्यादा का प्रश्न है। यह पुष्यभूति वंश के गौरव की बात है।''

राज्यश्री ने हँसकर कहा, ''नहीं सेनापति, यह सब कुछ नहीं है। यह एक प्रमाद है। पुरुष की बर्बरता है। लूट है। उत्पात है।''[1]

जैन और बौद्ध धर्मों का पलायनवादी रूप उन्हें ग्राह्य नहीं है क्योंकि वह असामाजिक है, अस्वस्थ है। जनहित और स्वस्थ सामाजिक दृष्टिकोण का सामंजस्य ही उन्हें प्रिय है और उनके समस्त ऐतिहासिक उपन्यासों का मूल इसी सत्य में निहित है। दधिवाहन कहता है: ''लोक में संयम का अर्थ तपस्वियों के कारण पलायन हो गया है। भाग जाओ, छोड़कर भाग जाओ। मैं भागूँगा नहीं। संयम का अर्थ घुटना और सड़ना नहीं है, स्वस्थ बहाव है। अपने स्वार्थ की चिन्ता करना पशुत्व का उत्तराधिकार है। उससे ऊपर उठने की आवश्यकता को देखकर (भी) मनुष्य उठ नहीं रहा है।''[2]

यही स्वस्थ और शुभ-दृष्टि उनके ऐतिहासिक उपन्यासों की मौलिक और आधारभूत विशेषता है। इसके कारण ही वह विल्लभिलूर, हर्ष, राज्यश्री और दधिवाहन जैसे उदात्त पात्रों की सृष्टि कर सके हैं। ऐतिहासिक वातावरण और परिवेश पर से उनकी दृष्टि हटती नहीं है। वर्तमान का अनिवार्य सामयिक सन्दर्भ उनकी उपयोगिता और सफलता को और भी असन्दिग्ध करता है।

ऐतिहासिक उपन्यासों का ही एक किंचित् भिन्न रूप रांगेयराघव के जीवन-चरितात्मक उपन्यासों में मिलता है। अन्तर इतना है कि जहाँ ऐतिहासिक उपन्यासों में अधिकांश पात्र महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक व्यक्ति और युगनिर्माता हैं, इन उपन्यासों में युग का कोई विशिष्ट पुरुष, लोकनायक या साहित्यकार ले लिया गया है। व्यक्ति के माध्यम से उसके युग की रेखाओं को स्पष्ट करने का लेखक का आग्रह यहाँ मिलता है। 'देवकी का बेटा' से लेकर 'भारती का सपूत' तक रांगेयराघव के नौ जीवन-चरितात्मक उपन्यास प्रकाशित हुए हैं। विस्मृति या परम्पराओं और किंवदन्तियों के घटाटोप में खोजाना साहित्यकारों का अनिवार्य दुर्भाग्य रहा है। इन उपन्यासों के माध्यम से लेखक ने उन महान साहित्यिकों और युगनायकों की साधारण जीवनियाँ ही नहीं प्रस्तुत की हैं, उन्हें उनके ऐतिहासिक परिवेश में भी देखा गया है। युग की सीमाओं के बीच उनके संघर्ष को देखते हुए मानवता के विकास में उनके साहित्यिक-सांस्कृतिक अवदान का मौलिक मूल्यांकन भी लेखक ने किया है। 'देवकी का बेटा' कृष्ण के प्रारम्भिक सोलह वर्षों की कथा है जिसका अन्त कंस के पतन से होता है। अवतार और चमत्कारों के आग्रह ने कृष्ण को साधारण पुरुष माने जाने में सदैव एक बाधा उपस्थित की है। 'धूनी और धुआँ' में अपने नायक (गोरखनाथ) और उसकी स्वाभाविक युग-सीमाओं के कारण लेखक चमत्कारों से पूर्णतः बच नहीं सका—बचकर वह युग की ऐतिहासिक सीमाओं और अनिवार्यताओं की अवहेलना ही

१. चीवर : २४६।
२. राह न रुकी : १४०।

अधिक करता—वैसे 'देवकी का बेटा' और 'यशोधरा जीत गई' आदि उपन्यासों में चमत्कारों और परम्परागत-विश्वासों को तर्क और बुद्धि के प्रकाश में ही उसने देखा-समझा और प्रस्तुत किया है, "मैंने कृष्ण चरित्र को चमत्कारों से अलग करके देखा। धर्म मूढ़ लोग तो शायद इसे नहीं सह सकेंगे, उनसे मैं क्षमा चाहता हूँ, परन्तु वैसे जो महानता कृष्ण के मनुष्य रूप में प्रगट होती है वह वैसे नहीं मिलती। चमत्कारों में सत्य डूब जाता है।"[१]

'लोई का ताना', 'रत्ना की बात' और 'लखमा की आँखें' क्रमशः कबीर, तुलसी और विद्यापति से सम्बन्धित हैं। 'मेरी भव बाधा हरो' विहारी को उनके समग्र परिवेश में प्रस्तुत करता है। इन सारे उपन्यासों में नायक का व्यक्तित्व प्रमुख रहा है परन्तु लेखक के सहज रचना-कौशल द्वारा युग अपनी सम्पूर्णता में उसके समानान्तर ही उभरता चलता है और अतीत के परिप्रेरक में कोई-न-कोई सामयिक सन्दर्भ यहाँ भी अनिवार्य रूप से उपस्थित है। कबीर ने जनता के सत्य को समझा था, तुलसी ने असत्य का विरोध अपनी सम्पूर्ण शक्ति से किया था, कृष्ण उगते हुए सूरज के समान है जो अन्याय और अत्याचार के अन्धकार को चीरकर आगे बढ़ता है। वह उस तरुण पीढ़ी का प्रतिनिधि है जो अत्याचार के विरोध को अपना धर्म समझती है। कंस से उसका संघर्ष वैयक्तिक नहीं है। लेखक ने सत्य को पूर्णता में उभारा है और संघर्ष के सामाजिक-सैद्धान्तिक पक्ष पर ही अधिक बल दिया है। कंस एक निरंकुश सत्ता का प्रतीक है, कृष्ण उगती हुई जनशक्ति का। कृष्ण का चरित्र अतीत का निरुद्देश्य सिंहावलोकन मात्र नहीं है। वर्तमान और भविष्य के लिए उसमें एक महत्त्वपूर्ण सन्देश निहित है। यशोधरा अपनी सीमाओं से नियन्त्रित होकर भी आधुनिक नारी की गरिमा और अधिकारों को वाणी देती है, "वे मेरे पति थे, मैं उनकी दया नहीं समान अधिकार चाहती हूँ।"[२] पलायन उसकी दृष्टि में अधर्म है। स्वस्थ पारिवारिक-सांसारिक जीवन का जय-घोष वह भी करती है। पुरुष के अहं पर व्यंग करती हुई वह कहती है : "पुरुष स्त्री से संभोग करके सोचता है वह भोक्ता है। मूर्ख है वह ! स्त्री भी समान भोक्ता है। वे एक-दूसरे के पूरक हैं। जन्म तो दुख नहीं है। कारण नहीं जान सकने के कारण क्या सत्ता को ही दुख कह देने से वह दर्शन बन जाता है !"[३]

इन सारे उपन्यासों का मूलस्वर भी लोक-मंगल की कामना है। कृष्ण कहता है, "मेरे लिये जन कुल से ऊपर है। मैं केवल इसलिये जीवित रहना चाहता हूँ कि इस संसार में सुख आ सके। अत्याचार का विध्वंस हो सके।"[४]

व्यक्ति पर दृष्टि रखते हुए भी लेखक का आग्रह तत्कालीन धार्मिक-ऐतिहासिक और सामाजिक-राजनैतिक परिस्थितियों पर ही अधिक है। चमत्कारों से वह

१. 'देवकी का बेटा' की भूमिका : ६।
२. यशोधरा जीत गई : १०५।
३. वही १३८।
४. देवकी का बेटा : १३८।

बचा है परन्तु योग की शक्ति और आत्मा के विकास में उसकी गहरी आस्था है। अपने समन्वयवादी दृष्टिकोण के आधुनिक रूप को उसने इस प्रकार स्पष्ट किया है, "भारत के भविष्य में सम्भवतः संसार को पथ दिखाने वाली ज्योति उदय होगी, जो रूस-चीन के अनुभवों की अच्छाइयाँ लेगी, अपनी परम्परा से मानवतावाद को लेगी और लेगी योग में निहित मानवजाति की अपार शक्ति को और नए समाज, संसार और व्यक्ति का उदय होगा जिसमें समाज के विकास के साथ व्यक्ति घुटेगा नहीं, विकास करेगा।"[1]

बहुधा ऐसा भी हुआ है कि अपने नायक की साहित्यिक या सामाजिक-ऐतिहासिक स्थिति को सही रूप में प्रतिष्ठापित करने के लिए उन्हें दूसरों का विरोध भी करना पड़ा है। जब भी ऐसा अवसर आया है अलौकिक आत्मविश्वास के साथ उन्होंने अपना मौलिक मत रखा है। उदाहरण के तौर पर उनकी कबीर सम्बन्धी मान्यताओं को लिया जा सकता है। कबीर का विकास चमत्कार-अवतारवाद से होकर जनशक्ति के आवाहन तक होता है। बहुधा कबीर के प्रति साहित्य के इतिहासकार न्याय नहीं कर सके हैं। रांगेय राघव ने स्पष्ट लिखा, "कबीर को लोगों ने ग़लत समझा है। कबीर में सूफीमत, वेदान्त, रहस्यवाद, नारी की निन्दा तथा अनेक बातें हैं जैसे संसार की असारता पर ज़ोर, मायावाद आदि का वर्णन, पर यह अनेक विकास की मंज़िलें हैं। वे धीरे-धीरे आगे बढ़ गये हैं।...कबीर के विद्रोह और सत्य को दबा दिया गया। कबीर इतिहास में एक उलझन बन गया। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ब्राह्मणवादी आलोचक थे। उन्होंने कबीर को नीरस निर्गुणिया कह दिया। वे कह गये हैं कि कबीर ने कोई राह नहीं दिखाई। कबीर ज्ञान के रहस्य में डुबाता था। साधारण जनता कबीर को समझ नहीं सकी।...यह सब ब्राह्मणवादी दृष्टिकोण हैं अतः त्याज्य है। अवैज्ञानिक है।"[2]

इस दृष्टि से देखने पर उनके जीवन-चरितात्मक उपन्यासों का महत्त्व सहज बढ़ जाता है। भारतीय सन्त-परम्परा का मानवतावादी रूप उनके समस्त युगनायकों के माध्यम से उभरता है। उनका युग-चित्रण उनकी धार्मिक-ऐतिहासिक तथा सामाजिक-राजनीतिक स्थिति को स्पष्ट करता है। उनका सामयिक-सन्दर्भ लेखक को मात्र अतीतजीवी होने से बचाता है और सबसे बड़ी बात यह कि इतिहास के शुष्क-नीरस आँकड़ों और तथ्यों से बचकर नितान्त मौलिक रंगों से वह साहित्य का शृङ्गार करता है।

'रेणु' के 'मैला आँचल' के बाद हिन्दी में आंचलिक उपन्यासों का आग्रह बढ़ता गया। उसकी सफलता और प्रसिद्धि के कारण चाहे नितान्त भिन्न रहे हों परन्तु उसकी तेज़ी से फैलने वाली ख्याति ने लेखकों को आँचलिकता के प्रति आकर्षित अवश्य किया। रांगेय राघव के उपन्यासों में 'कब तक पुकारूँ' को आलोचकों ने आंचलिक उपन्यासों के अन्तर्गत रखा है। परन्तु उसकी तथाकथित आँचलिकता 'रेणु' के

१. 'धूनी और धुआँ' की भूमिका : ११।
२. 'लोई का ताना' की भूमिका : ५

उपन्यासों की आँचलिकता से भिन्न है। उसमें किसी अंचल विशेष के व्यापक और बहुविध जीवन को अंशतः ग्रहण करके सम्पूर्ण देश के प्रतिनिधित्व का आग्रह एकदम नहीं है। न ही किसी अंचल विशेष के निवासियों की बोली-बानी और लोकगीतों आदि के प्रयोग का इतना अधिक आग्रह उसमें है जैसा 'मैला आँचल' या 'परती : परिकथा' में पाया जाता है। 'कब तक पुकारूँ' राजस्थान के नटों के जीवन पर आधारित है। उनके स्त्री-पुरुषों के सामाजिक सम्बन्धों को, उनके आचार-विचार और यौन-नैतिकता को बड़े विस्तार के साथ प्रस्तुत किया गया है। उनके रीति-रिवाज, क़ायदे-कानून और जीवन-पद्धति ही उसे आँचलिक रंग देते चलते हैं। चूँकि उसका क्षेत्र राजस्थान की सीमा में आता है, राजस्थानी भाषा और बोली के शब्द और रंग भी उक्त उपन्यास में प्रचुरता से पाये जाते हैं।

यदि 'कब तक पुकारूँ' पूर्णतया एक आंचलिक उपन्यास नहीं है तो 'धरती मेरा घर' अंशतः इस दावे को पूरा करता है। वह भी राजस्थान की पृष्ठभूमि पर आधारित है और लोहपीटों की सामाजिक स्थिति और दैन्य को उद्घाटित करता है। लेखक की दृष्टि पैनी और पारदर्शी है। केवल बाह्य आकर्षण के लिये ही उसने इस नितान्त उपेक्षित वर्ग को नहीं लिया है। उनके अन्धविश्वासों, रूढ़ियों और सामान्य जीवन-पद्धति को लेखक ने अति निकट से देखा है। समाज में उनकी स्थिति लेखक के अन्दर विक्षोभ और आक्रोश पैदा करती है और उसका आग्रह सदैव यही रहा है कि इस अतिशय उपेक्षित वर्ग में भी और लोगों के समान साधारण मनुष्य होते हैं जो अपनी सारी साधारणता के बावजूद मनुष्यता की गरिमा और महानता के अंश को छिपाये रहते हैं।

इन उपन्यासों के पात्र अपेक्षाकृत अधिक आकर्षक और प्रभावशाली बन पड़े हैं क्योंकि सामाजिक उपन्यासों के शहरी और ग्रामीण पात्रों के समान वे नैतिकता के कृत्रिम और स्वतः आरोपित मानदण्डों से नियन्त्रित नहीं होते हैं। जीवन को उसकी सम्पूर्णता में जीने का आग्रह ही उनके आगे प्रमुख है। लेखक के अधिकांश सामाजिक उपन्यासों की भाँति किसी सिद्धान्त या मतवाद का भी कोई प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष आग्रह इन उपन्यासों में नहीं है। उनके जीवन को उन्हीं की दृष्टि से प्रस्तुत कर देना ही लेखक को अभीष्ट रहा है। लेकिन उनके दैन्य को उसने अनदेखा नहीं किया है, उनकी हीन सामाजिक स्थिति के प्रति अपने अनुशासित और नियन्त्रित विक्षोभ को उसने अप्रकट नहीं रहने दिया है। 'धरती मेरा घर' का किशन—उसकी डायरी और अन्त में दी गई कविताएँ—अपनी समग्रता में लेखक के दृष्टिकोण को रेखांकित करता है—

अब मैं न लोहपीटे का बेटा हूँ
न मैं किसी जमींदार का।
मैं तो इन्सान हूँ।...
जब मैं आया था मेरी कोई जाति नहीं थी
और जब मैं जा रहा हूँ, तब भी मेरी कोई जाति नहीं हैं।...

आकाश को ऐसा ही खुला रहने दो
धरती को भी मत बाँधो
तुमने जो बीच-बीच में दीवारें खड़ी कर दी हैं
उन्हें गिरा दो क्योंकि वह तुम्हीं ने बनाई हैं...
आज मैं निर्मल और स्वतन्त्र हूँ क्योंकि
आकाश मेरी छत है और धरती मेरा घर।[1]

रांगेय राघव के सम्पूर्ण उपन्यास-साहित्य का यह विवेचन स्पष्ट करता है कि उनका प्रयास कितना बहुविध और व्यापक था। रांगेय राघव का सम्पूर्ण लेखन-काल दो दशकों से अधिक नहीं है। उसमें उपन्यासों के अतिरिक्त उन्होंने काव्य, नाटक, आलोचना, इतिहास, संस्कृति, समाजशास्त्र जैसे मौलिक साहित्य-सृजन के अतिरिक्त अंग्रेज़ी और संस्कृत से अनुवाद भी प्रस्तुत किये। उनके प्रकाशित ग्रन्थों की संख्या १३० के लगभग है। उनके जीवन-काल में ही उनके लेखन को लेकर तरह-तरह की बातें प्रचलित थीं और उनकी अवांछित उपेक्षा के मूल में उनका यह अति-लेखन ही रहा है। बहुत पहले उनके विषय में लिखते हुए शिवदानसिंह चौहान ने कहा था, "अभी रांगेय राघव अबाध गति से लिख रहे हैं और उनकी रचनाओं में अति-लेखन के दोष भी हैं और उनकी बहुमुखी प्रतिभा का स्फुरण भी।"[2]

सचमुच दोष रांगेय राघव में अनेक हैं, उनके महत्त्वाकांक्षी प्रयास की व्यापकता को देखते हुए तो वे अनुपातत: और अधिक होने चाहिए थे। परन्तु जो चीज़ महत्त्वपूर्ण है वह यह कि परिमाण की दृष्टि से इतना अधिक लिखने पर भी गुण और स्तर की दृष्टि से भी उसमें का बहुत कुछ असीमित महत्त्व का है। परन्तु समीक्षकों ने फ़ैशन और रिवाज़ का साथ दिया है। उनके तथाकथित अति-लेखन के वास्तविक-अवास्तविक दोषों पर ही उनकी दृष्टि रही है और उनकी 'बहुमुखी प्रतिभा के स्फुरण' को प्राय: ही उन्होंने अनदेखा किया है।

नि:सन्देह रांगेय राघव के अधिकांश दोष और सीमाएँ अति-लेखन के अनिवार्य परिणाम हैं। बहुधा उनके सामाजिक उपन्यासों के साथ ऐसा होता है कि उनमें प्रतिपादित विचारधारा और जीवन-दर्शन कृति में से न निकल उस पर आरोपित-सा होकर रह जाता है। 'हुजूर' में इन्सान की भटकती हुई दुनिया पर विलायती कुत्ते के माध्यम से जो विक्षोभ प्रकट किया गया है वह कृति का अनिवार्य अंग नहीं बन सका है। 'बौने और घायल फूल' में भी लगभग ऐसा ही हुआ है। उसके अन्त में कबीर के जिस सपने की बात कही गई है सम्पूर्ण कृति के साथ उसकी कोई संगति नहीं बैठती है। 'प्रोफेसर' में समस्या को जिस गम्भीर ढंग से उठाया गया है उसी अनुपात में उसका निर्वाह अत्यन्त गम्भीर ढंग से किया गया है परिणामस्वरूप सारा उपन्यास निहायत हल्का है और लेखक की wishful thinking का अच्छा-खासा उदाहरण बनकर रह गया है।

१. 'धरती मेरा घर' : १७०-७२।
२. हिन्दी साहित्य के अस्सी वर्ष : १६२।

कभी-कभी प्रकाशकों के आग्रह पर या वैसे भी साधारण-सी कहानी को खींच-कर उपन्यास के चौखटे में 'फिट' करने की कोशिश की गई है। 'पतझर', 'कल्पना', 'प्रोफेसर' आदि इसी कोटि की रचनाएँ हैं। जब भी ऐसा हुआ है कृति उपन्यास और कहानी किसी के भी स्वाभाविक और अनिवार्य-धर्म निर्वाह में असमर्थ रहती है। परिणाम की दृष्टि से ऐसी रचनाएँ एकदम बेमानी हैं।

कवियों से सम्बन्धित उनके जीवन चरितात्मक उपन्यासों में उनके नायकों के कृतित्व और जीवन-दर्शन को स्पष्ट करने के आग्रह के पीछे बहुधा आवश्यकता से अधिक पद और साखियाँ आदि भर दी गई हैं। उपन्यास के कथानक में वे बेमेल हो उठती हैं, उनकी नीरसता बढ़ती है और कथा का सन्तुलन बिगड़ता है।

ऐतिहासिक उपन्यासों में प्रायः ही कल्पना का विलास अधिक है। वृन्दावन लाल वर्मा के समान ऐतिहासिकता पर उनकी दृष्टि इतनी अधिक नहीं है। ऐतिहासिक तथ्यों के प्रति वह लापरवाह रहे हैं। परन्तु तथ्यों को तोड़ने-मरोड़ने का उनका स्वभाव नहीं है।

राजेन्द्र यादव ने कहीं आपत्ति की है कि रांगेय राघव में 'कहानी' का अतिशय मोह है। जब वह कहानी कहने की रौ में आते हैं तो फिर पात्रों के विकास और कथा के सन्तुलन आदि पर उचित ध्यान नहीं दे पाते हैं। कहानी को रोचक बनाने के आग्रह के पीछे वह आवश्यकता से अधिक 'मेलोड्रैमेटिक' हो गये हैं। कारण शायद यह भी रहा हो कि लोक-रंजन को वह कथा का आदिम और अनिवार्य गुण मानते हैं। कभी-कभी तो उनकी प्रथम श्रेणी की रचनाएँ भी इस दोष से मुक्त नहीं हैं। 'कब तक पुकारूँ' में औत्सुक्य के अनुतत्त्व पर लेखक की दृष्टि इतनी अधिक ठहरी है कि अच्छे स्तर की साहित्यिक कृति पढ़ने की अपेक्षा किसी अति-घटना प्रधान और अत्यन्त मनोरंजक कृति के पढ़ने की अनिवार्य प्रतिक्रया ही उसे पढ़कर सबसे पहले होती है।

रांगेय राघव के अति-लेखन का सबसे भयंकर दुष्परिणाम उनकी भाषा-शैली और शिल्प से सम्बन्धित है। अहिन्दी-भाषी होकर भी रांगेय राघव का हिन्दी भाषा पर असाधारण अधिकार था। परन्तु उनके उपन्यासों में भाषा के दो रूप—जो मौलिक रूप से अत्यन्त असम ही नहीं एक-दूसरे के विरोधी-से हैं—सरलता से देखे जा सकते हैं। एक ओर तो उनके 'मुर्दों का टीला', 'विषाद-मठ' और 'सीधा-सादा रास्ता' की भाषा है जिनमें बड़े-बड़े गतिशील वाक्य हैं जो लेखक के भाषा-सम्बन्धी अधिकार और सहज श्रम के सूचक हैं। दूसरी ओर उनके अधिकांश जीवन चरितात्मक उपन्यासों में, 'बौने और घायल फूल' एवं अन्य तृतीय श्रेणी की रचनाओं में एक-एक शब्द तक के छोटे-छोटे वाक्य हैं जो आवेश और जल्दबाजी को स्पष्ट करते हैं। जीवन-चरितात्मक उपन्यासों में यदि बड़े वाक्य हैं भी तो वे वाक्य-विन्यास और संकेतचिह्नों की दृष्टि से दोषपूर्ण हैं।

चूँकि संख्या में रांगेय राघव ने बहुत अधिक उपन्यास लिखे हैं नीरसता और एकरसता को दूर करने के खयाल से शिल्प के प्रति उनका मोह अतिशय स्वाभाविक

है। परन्तु बहुधा ही उनकी रचनाएँ शिल्प-सम्बन्धी दोषों से भरी हैं। 'छोटी-सी बात' के लम्बे-लम्बे पत्र अतिशय कृत्रिम, अस्वाभाविक और निश्चित प्रयोजन की दृष्टि से लिखे गए से हो गये हैं। 'हुज़ूर' में कुत्ते के माध्यम से जो कहानी कही गई हैं उसमें असावधानीवश ऐसी घटनाओं का समावेश भी हो गया है जहाँ वह उपस्थित नहीं था। 'बौने और घायल फूल' का सारा शिल्प-मय शीर्षक के—कृत्रिम, नीरस, असहज परिणामस्वरूप कृति से असम्बद्ध-सा है। इसी शिल्प-सम्बन्धी असावधानी का सबसे अच्छा उदाहरण है 'कब तक पुकारूँ'। उसके पहले कुछ परिच्छेदों में कथा को उसके नायक सुखराम के मुँह से कहलाया गया है। हर परिच्छेद के शुरू में लेखक स्पष्ट लिखता है, 'सुखराम ने कहा था···' इससे एक शिल्प-सम्बन्धी सहज चमत्कार-हीन आकर्षण उसमें आया है परन्तु आगे चलकर लेखक जैसे इस सारी योजना को एकदम भूल जाता है और सारी कहानी साधारण वर्णनात्मक ढंग से तृतीय पुरुष में चलती रहती है!

इतने ये और शायद और भी बहुत-से दोष रांगेय राघव में हो सकते हैं—परन्तु उनकी विशेषताओं और गुणों को पूर्णतया अनदेखा करके इन दोषों को ही शब्द बदल-बदलकर दोहराना कोई मानी नहीं रखता है। यदि उनके अति-लेखन और सृजन के परिमाण को थोड़ी देर को भूला जा सके तो गुणात्मक दृष्टि से भी उन्होंने बहुत थोड़े समय में इतना कुछ दिया है जो उनके समकालीनों और परवर्तियों में बहुत कम लोग दे सके हैं।

रांगेय राघव का नाम बहुधा ही प्रगतिशील विचारधारा और प्रगतिवाद से जोड़ा गया है। साहित्य में यशपाल और राहुल के समान राजनीति को अतिशय प्रश्रय उन्होंने भले ही न दिया हो परन्तु उनकी कई रचनाओं में राजनीति का रंग खूब गाढ़ा होकर उभरा है। इसी कारण अन्य प्रगतिवादियों के समान उन पर भी समीक्षकों ने (मोतीसिंह और डॉ० सुषमाधवन) प्रचार का आरोप लगाया है। प्रगतिवाद समष्टिगत और जनवादी सिद्धान्तों का वैज्ञानिक आग्रह लेकर बढ़ा था परन्तु हिन्दी-समीक्षा में वह अधिकांश में क्रमशः व्यक्तिगत द्वेष और राजनीतिक हठधर्मी के संकरे दायरों में घिरता गया।

रांगेय राघव और डॉ० रामविलास शर्मा का लम्बा संघर्ष जिसका अन्त अनिवार्य कटुता में हुआ इसी अप्रीतिकर सत्य की ओर संकेत करता है। रांगेय राघव ने विकास का एक लम्बा रास्ता तय किया है। साम्यवाद से शुरू करके निरन्तर वह मानववाद की ओर बढ़ते गये हैं। रांगेय राघव ने मार्क्स से बहुत कुछ लिया है। रूस और चीन की भौतिक-सामाजिक समृद्धि में उनकी गहरी आस्था थी। निर्धनता, असन्तोष, व्यभिचार और नैतिक स्खलन की आदमक़द तस्वीर उन्होंने भी अपने बहुत से उपन्यासों में पेश की है परन्तु स्वतन्त्र भारत के उन तथाकथित निर्माताओं और अलम्बरदारों के बीच महात्मा गांधी को उन्होंने निष्ठा, सेवा और त्याग की प्रतिमूर्ति के रूप में ही देखा-समझा और प्रस्तुत किया है। राजनीतिक हठधर्मी रांगेय राघव में नहीं है। मतवाद से अधिक उनकी दृष्टि व्यक्तिगत और समष्टिगत सत्य पर रहती

है। उनकी अतिशय उदारभावना, जो अधिकांश में मध्यकालीन भारतीय सन्तों की देन है, उन्हें संकीर्णताओं से ऊपर उठाती है। जैसा उन्होंने गोर्की के बारे में लिखा है, वह स्वयं भी चिरन्तन और शाश्वत सत्य को पकड़ते हैं और मानव की अनन्त-अबाध विकासशील शक्तियों और क्षमताओं का जयघोष करते हैं। प्रगतिवाद को अपने देश की विशाल ऐतिहासिक-सांस्कृतिक परम्परा से जोड़ने और उसके आधार पर उसे परीक्षित करने का उनका आग्रह उनके चिन्तन को मौलिकता देता है। इस प्रकार किसी 'वाद' से वह बँधते नहीं हैं। उनका समस्त कृतित्व विकास की कितनी ही मंज़िलों को स्पष्ट करता है।

रांगेय राघव के प्रति अपनी अरुचिकर अवांछित उपेक्षा को स्वीकार करके उनके साहित्य के निरपेक्ष-निर्वैयक्तिक तटस्थ मूल्यांकन का समय अब आ गया है। इतिहास हमारे सामने है। हठधर्मी और दुराग्रहों ने साहित्य की आत्मा को कुण्ठित ही किया है। अपनी सारी दुर्बलताओं और सीमाओं के बावजूद रांगेय राघव का सम्पूर्ण कृतित्व हमें सत्य को उसकी समग्रता में स्वीकारने का आग्रह और शक्ति देता है। इस शक्ति को हम आत्मसात कर सके हैं, सत्य को भी उसके सहज रूप में अंगीकार कर सकें यही शुभ है।

डॉ० बेचन

आधुनिकता : शमशेर और नागार्जुन

संयोग की बात है कि हिन्दी के दो समर्थ आधुनिक कवियों, श्री शमशेर बहादुर सिंह और नागार्जुन की कविता-पुस्तकें ('कुछ कविताएँ' एवं 'सतरंगे पंखों वाली') एक ही वर्ष यानी सन् १९५९ ई० में प्रकाशित हुई हैं।

शमशेर और नागार्जुन दोनों नई हिन्दी कविता के अग्रणी कवियों में भी स्थान रखते हैं। यद्यपि ऐतिहासिक दृष्टि से शमशेरबहादुर सिंह ने ही सर्वप्रथम नई हिन्दी की कविताओं में प्रयोग किया है। काव्य की आधुनिक चेतना का स्पर्श शमशेर को पहले हुआ, नागार्जुन को बाद में। नागार्जुन और शमशेर दोनों ने ढेर-की-ढेर रचनाएँ लिखी हैं। किन्तु दोनों ने अपने संकलनों में अपने को सीमित कर लिया है; यानी दोनों के समुचित काव्य व्यक्तित्व का परिचय संकलित रचनाओं में पूर्ण-रूपेण स्पष्ट नहीं होता है।

फिर भी शमशेर की प्रौढ़ता और उसकी तुलना में नागार्जुन का खिच्चपन रचनाओं में स्पष्ट है। नागार्जुन व्यंग्य सुन्दर और प्रखर लिखते हैं,[१] तथापि एक भी सधी हुई व्यंग कविता इस संग्रह में नहीं हैं। शमशेर उत्कृष्ट प्रयोगवादी कविता (Experimental poetry) लिखते हैं; परन्तु बहुत कम नई सधी हुई प्रयोगवादी कविता इस संग्रह में है।

शमशेर सदैव अपने व्यक्तित्व को कविता में तटस्थ रखते हैं, किन्तु नागार्जुन उसका निर्वाह नहीं कर पाते, अपने को स्पष्ट करते हुए अपनी मिट्टी का भी परिचय देते हैं—

> "याद आता मुझे अपना वह "चरुनी" ग्राम
> याद आती लीचियाँ, वे आम
> याद आते मुझे मिथिला के रुचिर भू-भाग
> याद आते धान
> याद आते कमल, कुमुदिनी और ताल मखान
> याद आते शस्य श्यामल जनपदों के
> रूप-गुण-अनुसार ही रक्खे गये वे नाम
> याद आते वो सुमन वे नीलिमा के निलय,
> [illegible] अति अभिराम।"

१. महाकवि 'निराला' के शब्दों में भी

उपर्युक्त पंक्तियों में मिथला की संस्कृति साकार हो उठी है। परन्तु काव्य की दृष्टि से यह प्रयास शायद अतिवैयक्तिक रीतिकालीन कवियों की याद दिला देता है, जो रचनाओं के साथ अपनी पूरी पीढ़ी का वर्णन कर दिया करते थे। नागार्जुन अपने गाँव के इसी सहज किन्तु व्यक्तिगत स्वरूप का चित्र और भी खींचते हैं :—

"बहुत दिनों के बाद,
अबकी मैंने जी भर ताल मखाना खाया
गन्ने चूसे जी भर
गन्ने चूसे जी भर
बहुत दिनों के बाद

"ताल मखाना" मिथिला के "तालों" की विशेषता है।

उनकी वैयक्तिकता का एक नमूना पृष्ठ ६२ पर भी देखने को मिलता है—

"गोल बाँधकर सबका वह "दुखमोचन[1] सुनना"
"मैं बोला : "केदार"[2] तुम्हारे बाल पक गये
....
तुमने कहा, सुनो नागार्जुन,"

हालाँकि प्रभाव की दृष्टि से इस संग्रह की उत्कृष्ट कविताओं में इस उद्धृत कविता का स्थान है। बाँदा की पूरी संस्कृति का चित्रांकन और दूसरी ओर केदारनाथ अग्रवाल के व्यक्तित्व की "सिमली" कवि की आश्चर्यजनक काव्य-प्रतिभा और जनवादी भावना का द्योतक है—

"केन कूल की काली मिट्टी, वह भी तुम हो
कालिंजर का चौड़ा सीना, वह भी तुम हो,
ग्रामबधू की दबी हुई कजरारी चितवन,
वह भी तुम हो
कुपित कृषक की टेढ़ी भौंहें, वह भी तुम हो
खड़ी-सुनहली फसलों की छवि छटा निराली,
वह भी तुम हो।
लाठी लेकर काल रात्रि में करता जो उनकी रखवाली,
वह भी तुम हो।"

शमशेरजी ने भी अपने संग्रह में एक कविता आधुनिक एवं समकालीन कवि अज्ञेय के कुछ हाल के संग्रहों को पढ़कर लिखी, जिस प्रकार नागार्जुन ने समकालीन कवि केदारनाथ अग्रवाल के साथ कुछ दिनों तक बाँदा रहकर उन पर कविता लिखी है। किन्तु आधुनिक कवि की स्वच्छता, शब्दबोध एवं अर्थबोध जिस ऊँचाई तक जा सकती है, उसका सुन्दर नमूना अज्ञेय का परिचय देते हुए शमशेर ने प्रस्तुत किया है—

१. दुखमोचन—नागार्जुन का पुनर्निर्माण सम्बन्धी हिन्दी उपन्यास, जिसे (लखनऊ-इलाहाबाद) रेडियो से भी प्रसारित किया गया था।
२. केदारनाथ अग्रवाल—हिन्दी के सुप्रसिद्ध आधुनिक कवि एवं नागार्जुन के मित्र।

"जो नहीं है
जैसे कि "सुरुचि"
उसका ग़म क्या
वह नहीं।"

अज्ञेय की रचनाओं का इससे सुन्दर परिचय और क्या दिया जा सकता है? इतनी बारीकी और चुस्तपकड़ नागार्जुन में कहाँ? (खेद है)

उनका परिचय (केदारनाथ अग्रवाल पर लिखी गई कविता) शब्दाडम्बरों का समूह (high sounding words) हैं, जिसे matter of fact कह सकते हैं, यानी इतिवृत्तात्मक अर्थात् राष्ट्रीय जागरण का प्रशस्ति गान—

"जन-गण-मन के शिल्पी
तुम धरती के पुत्र : गगन के तुम जामाता।"

यदि चाहें तो केवल ध्वनि साम्य, अर्थ साम्य और शब्द साम्य के आधार पर ही रवि ठाकुर की निम्नलिखित पंक्तियों से तुलना करें—

जन-गण-मन अधिनायक जय हे,
भारत भाग्य विधाता

(यद्यपि नागार्जुन की मित्रता पर सन्देह करना हमारा अभिप्राय नहीं है)

दोनों कवि पक्के जनवादी हैं—मतलब मार्क्सवाद और कम्युनिज़्म में विश्वास करते हैं। नागार्जुन ने काफ़ी दिनों तक कबीर के रहस्यवाद की तरह इस साधनात्मक वाद में भी अपना रचनात्मक सहयोग दिया था, किन्तु इस संग्रह की कविता में उन्होंने अपने को पूर्वरूपेण कनसील (छिपाया) किया है। इसीलिए ऐसे प्रखर जनवादी कवि को उनका पाठकवर्ग इस संग्रह के द्वारा पहचान नहीं पायेगा। नागार्जुन ने पहचानी जाने वाली वैसी जनवादी कविताओं को अपने संग्रह में जानबूझकर नहीं रखा है, ऐसा लगता है, क्योंकि उनके "त्रिशंकु" आलोचक उन्हें प्रचारवादी अर्थात् Poster & slogan वाली राजनीति का प्रचारक कवि मानते रहे हैं। यदि वास्तव में फैसला किया जाए तो वे ही कविताएँ नागार्जुन की विशिष्टता हैं। अन्यथा इस संग्रह से आधुनिक कविता में उनका स्थान सुरक्षित रह सकना कठिन है। इस संग्रह की केवल दो-तीन ही ऐसी कविताएँ हैं, जिनमें कवि का प्रच्छन्न जनवादी स्वर मुखरित हुआ है। इन कविताओं में युद्ध और शान्ति पर लिखी गई कविता "कैसा लगेगा तुम्हें?" अच्छी है। यद्यपि इसमें भी अर्थ-संकोच हो गया है और कवि खुलकर कुछ नहीं कह पाया है। चित्र अच्छे हैं, पर कविता अपूर्ण जान पड़ती है।

शमशेर अपने को कनसील नहीं करते बल्कि बड़े विश्वास से "कामरेड रुद्रदत्त भारद्वाज की शहादत की पहली वर्षी पर" रची गई अपनी कविता में लिखते हैं—

"मूल में है तीन रंग
गड़ा जिसपर मौन भारद्वाज का है—
लाल निशान।
[illegible]

पूर्व में लाता।
देखता है मौन अक्षयवट
क्रांति का इक बृहद् कुंभ:
कान्तिमय निर्माण का इक बृहदपर्व।
चमकती असिधार सी है धार गंगा की
हरहरा कर उठ रहा है
नव
जन महासमर।"

कहने की आवश्यकता नहीं है कि यदि नागार्जुन के हाथ इस कविता का निर्माण होता तो शायद इसे प्रशस्तिगान बनकर बालकृष्ण शर्मा नवीन और दिनकर ऐसे कवियों की परंपरा में बहुत पीछे रुकना पड़ता। शमशेर ने आज के बड़े विश्व राष्ट्रों की एक बड़ी शक्ति 'चीन' पर कविता लिखी है—निस्संदेह यह कविता नये चीन के संबंध में है। कवि ने अपने काव्य बिम्बों को चीनी लिपि में लिखे 'चीन' के संकेताक्षरों को कविता के अलग-अलग 'स्टांजा' (Stanza) के सामने हाशिये पर अंकित करते हुए अक्षरों के मूल अर्थों की भाव भूमि से लाभ उठाकर निर्माण किया है। 'नया चीन' प्रेरणा का प्रतीक है। कम-से-कम 'भारत' को इस राष्ट्र से प्रेरणा मिलती रहेगी। इसीलिए भारत का जनवादी कवि शपथ ग्रहण करता है—

"वह आकाश की मांग का फूल
जब तक मैं चूम न लूँगा
चैन से न बैठूँगा।"

नयी कविता और प्रयोगवाद के उन तथाकथित कवियों को शमशेर की इस १६५६ की आस्थापूर्ण कविता से अवश्य प्रेरणा लेनी चाहिए, जो अपनी अनास्था की पृष्ठभूमि का जाल द्वितीय विश्वयुद्ध एवं योरोप के मरणोन्मुख नीरस और आस्थाहीन कवियों के साहित्य तक फैलाते हुए अज्ञेय, टी० एस० इलियट तथा रूसी कवि पेस्तरनाक तक को अपना मसीहा मानते हुए अपने को अज्ञेय के शब्दों में 'मार्ग का अन्वेषक' बताना नहीं भूलते हैं।[१]

यह भी कहना अप्रासंगिक नहीं होगा कि नई कविता के नाम पर जो हजारों कविताएँ रोज प्रकाशित होती हैं, उनमें चमत्कार, शब्दों की काट-छांट, तराश, बनाव-सिंगार, रोमांस और छुई-मुई लिक्विड (तरल) संवेदना ज़्यादा रहती हैं, जो कभी भी कविता का चिरंतन गुण नहीं होता है। इन बातों की पुष्टि के लिए मैं नई कविता के कुछ तथाकथित विशिष्ट कवियों के काव्य-संग्रहों का केवल नाम गिना देना उचित समझता हूँ; उनके शीर्षक मात्र से ही संभवतः बहुत कुछ पुष्टि हो जायगी—

डा० जगदीश गुप्त—'शब्ददंश'
डा० धर्मवीर भारती—'सात गीतवर्ष'

१. देखें—धर्मयुग ४ अक्तूबर, ५६ में प्रकाशित आधुनिक कविता पर डा० धर्मवीर भारती की टिप्पणी।

अज्ञेय—'अरी ओ करुणा प्रभामय'
भारत भूषण अग्रवाल—ओ अप्रस्तुत मन
डा० धर्मवीर भारती—कनु प्रिया
नरेश मेहता—बनपाखी सुनो।

दोनों कवियों ने अपनी पुरानी कविताओं को भी काफी संख्या में इन संग्रहों में स्थान दिया है, जिनमें से कुछ कविताएँ शायद आधुनिक रुचि के पाठकों को अच्छी नहीं लगेंगी। नागार्जुन की चातकी, कालिदास, सिन्दूर तिलकित भाल, दंतुरित मुस्कान आदि कविताएँ और शमशेर के संग्रह की आधी से अधिक रचनाएँ पुरानी हैं। परन्तु ये सभी पुरानी रचनाएँ हृदय को छूती हैं या ऐसा कहा जाय कि इनमें मार्मिकता अधिक है। ऐसा भी कहा जा सकता है कि उनमें प्रौढ़ रोमांस का पुट है। किन्तु डा० रामविलास शर्मा ऐसे जनवादी आलोचकों को ऐसे मार्मिक प्रौढ़ रोमांस से विरोध है, अतएव वे शमशेर के काव्य संग्रह पर एक स्केची नोट, परिचय के रूप में, 'समालोचक' के अगस्त, १९५९ अंक में प्रस्तुत करते हैं—

"जवानी बीत गई। उम्र पचास के क़रीब पहुँची। जिंदगी का अकेलापन दूर न हुआ। मजदूरों से सहानुभूति, नये चीन से मुहब्बत है। लेकिन यह अकेलापन दूर नहीं होता। कवि ने शाम से पूछा। कवि ने शाम को देखा—एक पीली शाम, पतझर का ज़रा अटका हुआ पत्ता। कवि से पूछता है—मौन का एकान्त हाथ, कवि का प्रश्न—मौन। उत्तर—मौन।" यह विवशता, मौन में भी है, अथाह।" अकेलापन, पचास के क़रीब, मगर विवशता, वेचारा कवि, शमशेर बहादुरसिंह।

"कहता है," अकेला हूँ आओ। कोई नहीं आता। संगीत सुनता है। इस सुनने में क्या दिखाई आता है? "तू मेरी बेबस बाहों पर, सर रखकर, आह, न रो।" बाहें भी बेबस, रोने वाली भी बेबस। ख्वाब, सपने, बहुत परेशान करते हैं, इस उम्र में। भोर का नभ, नील जल में किसी की गोर झिलमिल देह, जैसे हिल रही हो।" वह सलोना जिस्म, "अधखुली अँगड़ाइयाँ, भीनी गंध में बेहोश मींरा।" कवि बेचारा। "कौन सहारा। मेरा कौन सहारा।"

अकेलापन, बेबसी, सपने—बात पुरानी है, फिर भी कविता नयी है, नहीं, नयी कविता है। "कृति" से प्रकाशित सचित्र विज्ञापन के अनुसार "नयी कविता के प्रथम नागरिक हैं" कवि शमशेर। नयी नागरिकता का सबूत यह है कि "सरलता का आकाश था जैसे त्रिलोचन की रचनाएँ। नींद ही इच्छाएँ।" और दिन ही मीठी चाय सी (या चा—सा), बातें चुस्की सी, अपनाव मुलायम बाहों सा और भाव पक्ष में अभिनव रहस्यवाद की उलटबाँसिया—

आत्मा है भावः
भाव-दीठ
झुक रही है
अगम अन्तर में
अनगिनत सूराख सीकती।

"यह है शमशेर की कुछ कविताओं का कुछ परिचय, कुछ आलोचना।"

और नागार्जुन का रोमांस देखिए—छायावादी कवि भी मान रहे हैं—

तन गई रीढ़

शमशेर की तरह नागार्जुन भी पचास के होंगे किन्तु, हथेली का स्निग्ध स्पर्श पाकर मुर्दों में भी जान आ जाती है—

झुकी पीठ को मिला
किसी हथेली का स्पर्श
तन गई रीढ़·········
··························

"चितवन कौंध गई", "किसी के नाक की सहज उष्णता मालूम पड़ी," "खिलखिलाहट गूँजी", और प्रेयसी के अलकों के तेलन्त परिमल का झोंका सूँघकर रग-रग में बिजली दौड़ गई। सचमुच इस अवस्था में रीढ़ को तनना ही चाहिए—अवसर बार-बार नहीं आता।

जिन्दगी का अकेलापन दूर करने के लिए नागार्जुनजी दिन-दहाड़े अपनी रूठी हुई सिगरेट पीने वाली प्रेयसी को 'आओ प्रिय, आओ' कविता में बुलाते हैं और हारकर अन्त में पचास की उम्र का भी खयाल नहीं करते हुए कह ही देते हैं—

"लेकिन, अब तो भई रहा नहीं जाएगा मुझ से बहुत दिन हो गए।
आओ साथ-साथ बैठें"

"सिन्दूर तिलकित भाल" की याद आते ही नागार्जुन जी को विदेश में "सहवास याद आता है—चाहिए किस को नहीं सहवास"···अवश्य···काश, नागार्जुन जी के पास कोई साधन होगा। अतः चन्द सतरें लिखकर ही सन्तोष किया गया।

यह भी उल्लेखनीय बात है कि जनवादी कवि नागार्जुन के इस संग्रह में जनवादी कविताओं के बदले आधी से अधिक कविताएँ औरतों से सम्बन्धित हैं, ऐसी औरतों से सम्बन्धित जिनमें सदा एक को छोड़कर सभी सतरंगे पंखों वाली शहरी औरत कहलाती हैं, किन्तु उनमें भारतीयता का लेशमात्र भी नहीं है।

स्पष्ट है कि 'नयी कविता' के नये नागरिक बनने के लिए ऐसे कच्चे, 'नयी कविता' के रोमांस का कृत्रिम प्रयोग करना नागार्जुन ने अवश्य समझा—किन्तु ऐसा करने में उन्हें बड़ा मँहगा मूल चुकाना पड़ा, यानी अपनी मौलिकता की तिलांजलि दे देनी पड़ी।

हिन्दी के समर्थ जनवादी आलोचक डॉ० रामविलास शर्मा की दृष्टि इस ओर अवश्य पड़नी चाहिए थी। किन्तु शायद उनकी दृष्टि इस ओर नहीं गई और उन्होंने नागार्जुन के सतरंगे पंखों वाली पर अपनी एकांगी राय ज़ाहिर करते हुए उसे एक श्रेष्ठ जनवादी कृति माना है। हालाँकि नागार्जुन के पाठकों को उनके इस संग्रह से अत्यन्त निराशा हुई है।[१]

दोनों कवियों ने मन को सम्बोधित करते हुए कविताएँ लिखी हैं। दोनों

१. समालोचक—नवम्बर, १९५९।

कविताओं में शमशेर की कविता में मनोवैज्ञानिकता एवं सूक्ष्मता अधिक है, नागार्जुन की कविता में स्थूलता अधिक है। जब कि मन पर लिखी गई किसी भी कविता का शीर्षक भी ठीक नहीं चुना है—'और तू चक्कर लगा आया तमाम'। उनकी कविता से भारत के प्राचीन उपदेशक कवियों का स्वर सुनाई पड़ता है जिसका (justification) नागार्जुन के पास ही हो सकता है।

उत्कृष्ट कविता का गुण उसकी चित्रात्मकता (images) हुआ करती है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल एवं वेलिंशिसकी जैसे आलोचकों ने भी स्वीकार किया है कि काव्य में अर्थ ग्रहण मात्र से काम नहीं चलता, बिम्ब ग्रहण कराना आवश्यक होता है।

दोनों कवि चित्रों का प्रयोग करते हैं। किन्तु शमशेर ऐसा लगता है कि केवल चित्रों के सहारे ही सब-कुछ कहना चाहते हैं। जब कवि को शब्दचित्रों से सन्तोष नहीं होता तो वह 'घनीभूत पीड़ा' (एक सिफनी) का रेखाचित्र भी बनाकर काव्य पुस्तक में प्रकाशित करवा देता है। 'घनीभूत पीड़ा' कविता के अन्तर्गत प्रकाशित चार रेखा-चित्र सचमुच कविता को समझने में बड़ी सहायता करते हैं। जिन्होंने महादेवी वर्मा की कविताओं अध्ययन किया होगा, उनसे छिपा हुआ नहीं है कि चित्रों के द्वारा कविता को स्पष्ट करने की यह परम्परा पुरानी है। किन्तु यहाँ बात थोड़ी भिन्न है—नये कवि की सृजन प्रेरणा को इन चित्रों ने मूर्त आकार दिया है। अतः ये कविताएँ केवल शब्दों का खेल नहीं हैं। निष्कर्ष यह है कि नागार्जुन का संग्रह आउट ऑफ डेट प्रतीत होता है परन्तु शमशेर की कविताएँ छायावादोत्तर आधुनिक हिन्दी कविता की नवीनतम प्रगति का प्रतिनिधित्व करती हैं, सचमुच में जिसका प्रथम नागरिक होने का अधिकार एकमात्र शमशेर को ही है।

नागार्जुन हिन्दी एवं मैथिली पर समान अधिकार रखते हैं और दोनों भाषाओं के श्रेष्ठ कवियों में अपना स्थान रखते हैं।[१] शमशेर हिन्दी, उर्दू और अंग्रेजी के विद्वान हैं और शायद इसीलिए वे अत्यधिक सचेतन कवि हैं। साथ ही उनका व्यंग्य इसीलिए काफी बारीक होता है, जबकि नागार्जुन आवश्यकता से अधिक खुल पड़ते हैं, जो कला की दृष्टि से दोष ही माना जायगा।

१. आलोचना—२२, अप्रैल, १९५९।

एग्नेस हेलर

शेक्सपियर और मानव-प्रकृति

शेक्सपियर इतिहास के ऐसे युग में पैदा हुआ था जब कि मानव-प्रकृति का अध्ययन एक नाज़ुक दौर में से गुज़र रहा था। सामंती युग का ढाँचा, और परम्परागत मानव-सम्बन्ध शिथिल हो रहे थे। पुरानी परम्पराओं और जीवन-मूल्यों को तोड़ा जा रहा था। शेक्सपियर के हर दुखान्त नाटक में "टाईम इज़ आउट ऑफ़ ज्वॉयन्ट" की ध्वनि है। 'रिचर्ड द्वितीय' में दिखाया गया है कि सिंहासन के उत्तराधिकार में प्राचीन परम्पराओं को किस प्रकार तोड़ा गया। 'हैमलेट' में भी हत्या द्वारा सिंहासन पर अधिकार किया गया। "किंग लियर" में परम्परागत पितृ-प्रेम तथा आदर-भाव को ठुकराया गया। परम्पराओं का हनन दोधारी तलवार की तरह है। कुछ हद तक यह हत्याओं का कारण है, लेकिन साथ ही यह नये गुणों को भी जन्म देता है, उदाहरण के लिए "मच एडो अबाऊट नथिंग" और "रोमियो एण्ड जूलियट" में। हम देखते हैं कि शेक्सपियर के नाटकों के नायक किस तरह नये यथार्थ के सन्मुख पेश आते हैं। पुरानी रूढ़ियों की तहों में से नये व्यक्ति का जन्म होता है। हर नाटक में ये सवाल उठते है—'मैं कौन हूँ ? समाज में मेरी स्थिति चाहे कुछ भी हो, लेकिन मेरे आस-पास के लोग कैसे इन्सान हैं ?' जूलियट कहती है—

> **"तेरा नाम ही मेरा दुश्मन है**
> **हालांकि तू तो मोन्टेग्यू[1] नहीं है,**
> **मोन्टेग्यू नाम में क्या रखा है ? न यह किसी इन्सान का हाथ है, न पैर है,**
> **न बाँह है, न चेहरा है, न जिस्म का कोई और हिस्सा है।**

उस युग में सामन्ती परम्पराएँ टूट रही थीं, जिसके करण मानव-मूल्यों और समस्त नैतिक सिद्धान्तों के लिये एक भारी खतरा पैदा हो गया था। इन्सान के बहुत-से कामों के पीछे पैसे की प्रेरणा होने लगी थी। शेक्सपियर के सबसे अधिक क्रियाशील पात्र रिचर्ड, एडमण्ड, इयागो, क्लॉडियस, प्रिंस जॉन जैसे बदमाश हैं जो नये युग के अवसरों से फ़ायदा उठाते हैं और व्यक्ति की बढ़ती हुई स्वतन्त्रता का दुरुपयोग करते हैं। 'किंग जोन' में फिलिप कड़ुवा व्यंग्य करता है—

> **जब तक मैं भिखारी हूँ मैं दूसरों की खिल्ली उड़ाऊँगा,**
> **और कहूँगा कि अमीर होने से ज्यादा बड़ा गुनाह कोई नहीं है।**
> **और जब मैं अमीर हो जाऊँगा तो मेरा गुण यह होगा कि—**
> **मैं कहूँगा कि भिखारी होने से बड़ा गुनाह कोई नहीं है।**

१. जूलियट के ख़ानदान की मोन्टेग्यू ख़ानदान से पुरानी दुश्मनी थी और रोमियो मोन्टेग्यू ख़ानदान का लड़का था।

चूँकि दौलत को देखकर बादशाह भी ईमान छोड़ देते हैं।
इसलिए मेरा मालिक मुनाफ़ा होगा; ऐ मुनाफ़ा ! मैं तेरी पूजा करूँगा !

पुराने अभिजात वर्ग के आत्मसम्मान और नेकी के सिद्धान्त उस ज़माने में बेमानी हो गये। फ़ाल्स्टॉफ़ के शब्दों में—"क्या आत्मसम्मान से टूटी टांग जुड़ सकती है ?··· नहीं···तो फिर आत्म सम्मान में शल्य-क्रिया करने की तमीज़ भी नहीं ? नहीं। तो फिर आत्म सम्मान क्या चीज है ? सिर्फ़ एक शब्द। यह शब्द क्या है ? हवा !"

आत्म सम्मान की जगह पैसे ने ले ली थी, जिसे टाईमन "मानवजाति की वेश्या" कहता है।

व्यक्तित्व के विकास ने, बुद्धि के प्रयोग के अवसरों ने यथार्थ और ऊपर से दिखने वाले रूप में, भीतर और बाहर में विरोधाभास पैदा कर दिये थे। मानव-प्रकृति व्यक्तित्व के विकास की कसौटी पर चढ़ने लगी थी और मानव-विषयक ज्ञान के नए, तीव्र विकास की आवश्यकता पैदा हो गई थी। एक ऐसी दुनिया में जहाँ हर काम पैसे और मुनाफ़े से संचालित होने लगा था, जहाँ बाहरी मुलम्मा असलियत को ढाँप सकता था, उन नायकों को, जिनका ज्ञान परम्परागत नैतिक मान्यताओं पर आधारित था, मानव-प्रकृति के सम्बन्ध में इसी स्थिति का सामना करना पड़ा था। इसीलिए शेक्सपियर के अनेक शानदार पात्र जीवन में असफल रहे हैं। यौवनकाल में ओथेलो, लियर, प्रॉस्पेरो बड़ी आसानी से ठगे गये थे, क्योंकि उनका जीवन-बोध-सीमित था। हेनरी चतुर्थ के विरुद्ध षडयन्त्र करने वाले इसलिये नष्ट हो गये क्योंकि वे राजनैतिक मैकियाविलीवाद से अनभिज्ञ थे। लेन्कास्टर ने कहा कि अगर वे अपनी सेनाओं को तोड़ दें तो वह उन्हें सम्मानपूर्वक वापिस लौटने का मौक़ा देगा; लेकिन इस आश्वासन के फ़ौरन बाद ही बिना किसी संकोच के वह उनके सर काट लेता है—क्योंकि लेंकास्टर के मत में इन राजनैतिक वायदों का कोई मूल्य नहीं हुआ करता। षडयन्त्रकारी इस घटना का अनुमान भी नहीं लगा सकते थे—न ही उनके सामने ऐसी कोई मिसालें थीं। इसी तरह व्यक्तिगत जीवन में भी मेकियाविलीवाद का प्रारम्भ हुआ और इआगो जैसे पात्रों का जन्म हुआ। शेक्सपियर के नाटकों के खलनायक जानबूझकर यथार्थ और बनावटीपन के भेद का आश्रय लेते हैं। छल प्रपंच से राज-गद्दी प्राप्त करने वाला हेनरी चतुर्थ भी राजा बनने से पहले भद्रता का परिचय देता है, लेकिन बाद में अपने समर्थकों का दुश्मन बन जाता है। फिर भी वह जानबूझकर उस तरह की आँखमिचौनी नहीं खेलता जैसी बिल्ली चूहे के साथ खेलती है। यहाँ तक कि यॉर्क में भी नये और पुराने गुणों का समन्वय है। वह अपने परिवार में कभी मैकियाविलीवादी आचरण नहीं करता। सफ़ोक, सोमरसेट, हेनरी छठे के अधिकांश दरबारियों का भी यही हाल है, इसी मिट्टी में से शेक्सपियर के खलनायक रिचर्ड तृतीय का जन्म हुआ है। रिचर्ड को अपने दानवीपन का पूरा एहसास है, वह जानता है कि वह अपनी पुरानी जिम्मेदारियों से नाता तोड़ चुका है। झूठ और फ़रेब उसके स्वभाव की विशेषता है।

"मैं मुस्करा सकता हूँ और मुस्कराकर क़त्ल भी कर सकता हूँ,
... ...

मैं अपने गालों को बनावटी आँसुओं से तर कर सकता हूँ
और हर मौक़े के अनुसार अपने चेहरे को बदल सका हूँ
... ...

मैं गिरगिट को भी मात दे सकता हूँ
... ...

और क़ातिल मेकियाविली मेरा शागिर्द बन सकता है !"

मज़े की बात यह है कि वह बार-बार अपनी ईमानदारी और मासूमियत पर ज़ोर देता है और मार्गरेट से कहता है—"इस दुनिया के मुक़ाबले में मैं एक बच्चे की तरह बेवक़ूफ़ हूँ।" मार्गरेट उसके फ़रेब को समझ जाती है, लेकिन उसके साथी नहीं समझ पाते। रिचर्ड हेस्टिंग्ज़ के क़त्ल का हुक्म देता है। फिर भी हेस्टिंग्ज़ कहता है, "उसके चेहरे से फ़ौरन उसके दिल की बात का अन्दाज़ लग जाता है।"

इसी प्रकार 'ओथेलो' नाटक का खलनायक इयागो अपने धूर्ततापूर्ण व्यक्तित्व के विषय में कहता है—

"मैं प्रेम और कर्तव्य भावना से प्रेरित होकर नहीं बल्कि अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिये ओथेलो की सेवा करता हूँ, मेरा उद्देश्य विलक्षण है, ऊपर से मैं कुछ और दिखाई देता हूँ और भीतर से कुछ और हूँ···मैं जैसा दीखता हूँ वैसा नहीं हूँ।"

इन बदमाशों को यह अच्छी तरह मालूम है कि इन्सान नेकी और बदी में से किसी एक का चुनाव करने के लिए आज़ाद है और अपनी विवेकशक्ति द्वारा ही इन्सान यह चुनाव करता है। इयागो के शब्दों में, "हमारे शरीर बाग़ों की तरह हैं जिन्हें हमारी इच्छाशक्ति मालियों की तरह सींचती है।" इयागो, एडमण्ड या रिचर्ड केवल सत्ता या धन पाने की लालसा से अपने मित्रों के साथ विश्वासघात करते हैं तो उनका असली उद्देश्य कुछ और होता है। वे सोचते हैं कि उन्होंने संसार को और संसार के लोगों को अच्छी तरह परख लिया है और वे उन्हें खिलौना बनाकर मनचाहा खेल खेल सकते हैं। उन्हें अपनी शक्ति और बुद्धि की आज़मायश से सन्तोष प्राप्त होता है। इसी बिन्दु पर आकर नकारात्मक, अनैतिक विचारों द्वारा उनकी बुद्धि भ्रष्ट होती है, क्योंकि दूसरों को हानि पहुँचाने की इच्छा न भी हो तब भी दूसरों को खिलौना समझना एक नकारात्मक प्रक्रिया है, क्योंकि दूसरा इन्सान तब मात्र एक साधन बन जाता है। दूसरों की स्वतन्त्रता का अपहरण करके ही ऐसे व्यक्ति अपनी नैतिक स्वतन्त्रता क़ायम करते हैं। इयागो ओथेलो से कार्य की स्वतन्त्रता छीनता है और एडमण्ड, ग्लोसेस्टर की। दोनों कुछ समय के लिये व्यक्ति न रहकर 'वस्तु' बन जाते हैं।

मानव प्रकृति की संश्लिष्टता बढ़ने के साथ-साथ हम देखते हैं कि कई बार शेक्सपियर के महान् और नैतिक दृष्टि से उदात्त नायक भी खलनायकों जैसे तरीक़े

बनाते हैं और वैसा ही आचरण करते हैं—दूसरे लोगों की परीक्षा लेने के लिए। दूसरों के दिल की तह तक पहुँचने के लिए शेक्सपियर के महानतम नायक भी बनावटी परिस्थितियों का आयोजन करते हैं। हेमलेट क्लॉडियस की और प्रोस्पेरो फ़र्डीनेन्ड की परीक्षा लेता है। लेकिन उनके आचरण में अभिनय और यथार्थ की सीमा स्पष्ट खिंची रहती है। शेक्सपियर के नाटकों में यह बात भी स्पष्ट की गई है कि दूसरों की परीक्षा लेने के लिये अभिनय आवश्यक है, ताकि दूसरों को उसकी असली प्रकृति का पता न चल सके। इसीलिए हेमलेट असंतुलित मस्तिष्क वाले व्यक्ति का अभिनय करता है। प्रोस्पेरो लोगों के सामने यह जाहिर करता है कि वह अत्याचारी है। फिर भी ये दोनों नायक नेक और पवित्र रहते हैं, अभिनय के बावजूद उनकी असली प्रकृति में कोई अन्तर नहीं आता। वे अभिनय करने की भरसक कोशिश करते हैं लेकिन कोई भी लज्जानक काम नहीं करते।

आईये सबसे पहले उन ट्रैजिक पात्रों पर ग़ौर करें जो इतने भोले और सीधे हैं कि उनका सरल विश्वास ही उनकी असफलता का कारण बन जाता है। रचना-काल के अनुसार ऐसे पात्रों में ग्लोसेस्टर, ओथेलो, लीयर और टाईमन प्रमुख हैं। अलग-अलग कारणों से उनके भीतर अंधा विश्वास पैदा होता है, लेकिन यही सरलता और अंधा विश्वास उनकी महानता का मूल कारण भी है। निःसन्देह शेक्सपियर ने बड़े स्नेह से इन पात्रों का चित्रण किया है, क्योंकि वे पवित्र हैं, उन्हें छल-कपट नहीं आता, अभी उनमें साज़िश करने वाली बुद्धि नहीं पैदा हुई, दूसरों की किस्मत से खेलने और दूसरों को परखने में भी वे असमर्थ हैं। लेकिन शेक्सपियर ने यह भी देखा कि इस तरह के पात्र अब इस संसार में सफल नहीं हो सकते, क्योंकि उनके अंधे, सरल विश्वास से दुष्टता को प्रश्रय मिलता है। खुद प्रोस्पेरो स्वीकार करता है कि अपने यौवन-काल में वह सांसारिकता से दूर हटकर, एकान्त में किताबों की दुनिया में खोया रहता था, जिसके परिणामस्वरूप उसके धोखेबाज़ भाई के मन में लालच जगा और उसने सारी सत्ता को हथिया लिया। शेक्सपियर के नाटकों में यह विचार स्पष्ट रूप से मिलता है कि सरल विश्वास स्वयं अपने विरोधी गुण—छल-कपट को पैदा करता है। ग्लोसेस्टर की सरलता की वजह से ही इंग्लैंड पर संकट आया, हालांकि वह खुद कोई बुरा काम नहीं करता और अन्त तक पवित्र रहता है। ओथेलो में भी यही दोष है। वह अपने सीधे मन के फलस्वरूप अपनी प्रिय पत्नी डेस्डीमोना की हत्या कर डालता है—हालाँकि इसमें इयागों की साज़िशों का पूरा हाथ है। इसीलिये ओथेलो की नैतिक ईमानदारी पर आँच नहीं आती। इसके विपरीत लीयर एक ज़िद्दी बूढ़ा है—उसे चेतावनी मिल चुकी है कि उसकी दोनों बड़ी बेटियाँ मक्कार हैं, लेकिन वह झूठी प्रशंसा के बहकावे में आकर इस चेतावनी पर ध्यान नहीं देता—यही उसके चरित्र का एक बड़ा दोष है, जिसकी वजह से वह अपनी छोटी बेटी कोरडीलिया की ईमानदारी को गुस्ताखी समझ बैठता है। शुरू से ही इस तरह की सरलता से पाठक के मन में कोई सहानुभूति नहीं जगती। अपनी ग़लती के बाद जब लीयर मानसिक यन्त्रणा झेलता है, तब शोक की अग्नि में तपकर उसका व्यक्तित्व निखरता है।

टाईमन में भी यही दोष है। उसे अपने मित्रों में अंधा विश्वास है। उसके सभी साथी जानते हैं कि टाईमन के मित्र विश्वासयोग्य नहीं हैं। उनकी चेतावनियों का टाईमन पर कोई असर नहीं पड़ता। वह जानता है कि लोग धोखेबाज़ होते हैं, लेकिन उसे पूरा यक़ीन है कि कोई उसे धोखा नहीं दे सकता। उसके मित्र क़ीमती उपहारों के लालच से उसके प्रति आकर्षित होते हैं, लेकिन वह सोचता है कि उसके व्यक्तित्व में कोई आकर्षण है। अन्त में जब उसकी आँखें खुलती हैं तो वह समस्त मानव-जाति से घृणा करने लगता है।

शेक्सपियर के इन सरल-हृदय पात्रों में एक और गुण भी है। जब उनके साथ विश्वासघात होता है तो उनका सारा संसार बर्बाद हो जाता है। डेस्डीमोना की बेवफाई की बात सोचकर ओथेलो अपने समस्त जीवन को, प्यार को, यहाँ तक कि लड़ाईयों और अपने पद को भी अलविदा कहा देता है। एक या दो व्यक्तियों से धोखा खाने के बाद ऐसे पात्र यह निष्कर्ष निकालते हैं कि सारा संसार ही दुष्ट है और एकदम वे अंधे विश्वास से अंधी घृणा पर आ जाते हैं। ज्यों-ज्यों उनकी समस्याएँ जटिल होती जाती हैं, त्यों-त्यों उनकी निराशा तीव्र होकर मानवद्रोह का रूप धारण करती जाती है। विश्वसनीय व्यक्ति की बजाय ग़लत व्यक्ति पर विश्वास करने के बाद जब उन्हें चोट लगती है तो वे अपना संतुलन खो बैठते हैं। टाईमन घोषणा करता है, "इस क्षण से मैं हर इन्सान और पूरी मानव-जाति का कट्टर शत्रु हूँ!" और वह सबको कोसने लगता है।

ग्लोसेस्टर, ओथेलो, लीयर तथा टाईमन जैसे पात्र अपनी सरलता के कारण नष्ट हो जाते हैं लेकिन शेक्सपियर के सभी खलनायक मानव-प्रकृति और मनोविज्ञान को समझने की कोशिश करते हैं, हालाँकि रिचर्ड, इयागो और एडमण्ड-जैसे दुष्ट मानव-प्रकृति के इस ज्ञान को दुष्टता के लिए इस्तेमाल करते हैं। वे अच्छी तरह जानते हैं कि वे किसे धोखा देंगे। इयागो का विश्लेषण देखिये—

> **"ओथेलो खुले दिल और सरल स्वभाव का व्यक्ति है, वह लोगों की शक्ल देखकर उन्हें ईमानदार समझता है। उसे मैं नकेल डालकर आसानी से चराऊँगा, वह सब गधों की तरह बेवकूफ है।"**

लेकिन इस दृष्टिकोण में एक मनोवैज्ञानिक बाधा रह जाती है, क्योंकि यह दृष्टिकोण मानव-जाति के प्रति घृणा के भाव से पैदा होता है। चालाक और बदमाश आदमी दूसरे लोगों को या तो बदमाश या निरा बेवकूफ समझते हैं और उनका ख्याल है कि वे नेकी को बुराई में बदल सकते हैं। शेक्सपियर के ये पात्र निराशावादी दर्शन के वाहक हैं। जिस तरह सरल-हृदय पात्र चोट खाकर मानवद्रोही बन जाते हैं उसी तरह इन मक्कार पात्रों की घृणा के मूल में भी किसी अपमान की यातना होती है। उनकी शिकायत का गुरुत्व और औचित्य ही उनके चरित्र के पैमाने को निर्धारित करता है। इन दुरात्माओं में सबसे बड़ी चोट रिचर्ड को लगी है इसलिये उसकी दुष्टता का स्तर भी बड़ा है इयागो की शिकायत घटिया है, इसलिये वह निकृष्टतम अपराध करता है। ख़ैर, मानवद्रोह का चाहे कोई भी कारण हो, उसकी अभिव्यक्ति

एक ही है : धरती पर नेकी की शक्ति और मूल्य की अवहेलना करना।

सरल हृदय और बदमाश दोनों कोटि के पात्रों की मानवजाति के प्रति घृणा का सिर्फ़ एक सांझा आधार है—दोनों मानव-मूल्यों का महत्त्व कम समझते हैं, बदमाश यह सोचकर कि दुनिया में कोई नैतिक मूल्य नहीं है, मज़े में रहते है—उधर निराश सरल-हृदय व्यक्ति दुखी जीवन बिताते हैं। मानवद्रोह एक भावनारहित आवेग है जबकि घृणा दरअसल प्यार का उलटा चेहरा है। मानवद्रोही समझते हैं कि संसार में मात्र बुराई है इसीसे उनका आध्यात्मिक संतुलन बिगड़ जाता है, लेकिन शेक्सपियर के दुखान्त नाटकों में मानवद्रोहियों को इस अनुभव में से ज़रूर गुज़रना पड़ता है कि संसार में मानव मूल्यों का लोप नहीं हुआ और दुष्टता का सामना करने वाली शक्तियाँ मौजूद हैं। इयागो सपने में भी नहीं सोच सकता था कि उसकी पत्नी एमिलिया उसके ख़िलाफ़ गवाही देगी। न ही रिचर्ड सोच सकता था कि सामंत स्टेनले, हेनरी को जिताने के लिए अपना सब कुछ दाँव पर लगा देगा, न ही एडमण्ड जानता था कि उसका भाई उसके पिता के प्रति वफ़ादारी दिखायेगा। इसी तरह ओथेलो के लिए यह सबक़ सीखना ज़रूरी था कि डेस्डीमोना एक वफ़ादार पत्नी थी और लीयर के लिए यह सबक़ ज़रूरी था कि उसकी सबसे छोटी बेटी कॉर्डिलिया पितृभक्त है। टाईमन को यह मालूम हो गया कि उसके स्वामिभक्त सेवक फ़्लेवियस ने मुसीबत में उसका साथ नहीं छोड़ा। ये नैतिक मूल्य, मानवजाति से घृणा करनेवालों के निराशावादी जीवन-बोध के ऊपर प्रबल प्रहार करते हैं। ऐसे लोगों को जीवन में दुगुनी निराशा होती है। वे अपने दिल में संसार के लिए शत्रुता की भावना लेकर मरते हैं, और बाज़ी हार जाते हैं, लेकिन सरल हृदय पात्र इस दूसरी निराशा में फिर अपने को पा लेते हैं, उनका अस्तित्व फिर अर्थपूर्ण हो जाता है, विनाश के क्षणों में भी उन्हें गौरवमंडित किया जा सकता है। तो फिर क्या हम कह सकते हैं कि सरल हृदय पात्रों की अपेक्षा बदशाश और मक्कार पात्र मानवजाति के बेहतर दृष्टा हैं? शेक्सपियर के नैतिक जगत में तो यह आभास नहीं मिलता। अंधविश्वासी, भोले लोग दुष्टता की शक्तियों से अपरिचित रहते हैं और एक ऐसे संसार में जहाँ बुराई बढ़ती जा रही हो, वे नहीं खप सकते। दूसरी तरफ़ मक्कार और बदमाश पात्र नेकी की शक्तियों से अपरिचित रहते हैं। वे इस संसार में ख़ूब फलते-फूलते हैं, लेकिन उनका अन्त बुरा होता है। ऐसा लगता है कि इन महान् दुखान्तकी नाटकों को लिखते समय शेक्सपियर ने यही विश्लेषण किया था कि मानवजाति में आस्था रखने वाले ही सही हैं।

यह सही है कि अपने जीवन के अन्तिम काल में शेक्सपियर के विचारों में परिवर्तन हुआ था। केवल टाईमन ही ऐसा पात्र है, जिसका विरेचन नहीं हो सका और वह अन्त तक मानव जाति से घृणा करता रहा। अपने सेवक की वफ़ादारी के बावजूद उसे अपनी यन्त्रणा की एकांगिता का आभास नहीं हुआ।

क्या इन सीधे-नेक-अन्धे और चालाक-दुष्ट-जानकार श्रेणियों से अलग भी मानवजाति की कोई श्रेणी है? शेक्सपियर के नाटकों में यह सवाल बार-बार उठता है ऐसे पात्र भी हैं जो अपने अनुभवों द्वारा संसार को समझते हैं, जो विवेकपूर्ण

ढंग से रहते हैं, न मानवजाति से घृणा करते हैं न मानवद्रोही बनते हैं, क्योंकि वे नेकी और बदी दोनों को पहचानते हैं। ऐसे पात्रों में हेनरी पंचम, हेमलेट और प्रोस्पेरो प्रमुख हैं। 'हेनरी पंचम' नाटक में फ़ाल्स्टॉफ़ और हॉटस्पर दो परस्पर-विरोधी प्रवृत्तियों को व्यक्त करते हैं। हॉटस्पर में शौर्य की उदात्त भावनाएँ हैं लेकिन वह बदलती हुई दुनिया और लोगों को बिल्कुल नहीं पहचानता। इसलिए उसका उत्साह मूढ़ता की सीमा तक जा पहुँचता है। दूसरी तरफ़ फ़ाल्स्टॉफ़ समझता है कि पुराने जीवन-मूल्य सापेक्ष हो उठे हैं। हेनरी पंचम संसार से परिचित है, लेकिन संसार के अनुकूल अपने को ढालना नहीं जानता। इसीलिए वारविक कहता है कि राजकुमार के लिए उसके साथी एक विदेशी भाषा के समान हैं और किसी भी भाषा को सीखने के लिए जरूरी है कि उस भाषा के घटिया से घटिया शब्दों पर भी ध्यान दिया जाए और उन्हें सीखा जाये।

शेक्सपियर ने हेनरी पंचम के रूप में पहली बार एक ऐसे नायक की सृष्टि की है जो न केवल जीत के क्षण में, बल्कि जीवन-भर अनास्था और अन्धे सरल विश्वास के बीच संतुलित रास्ते पर चल सकता है। फोर्टिनब्रास के शब्दों में हेमलेट बहुत शानदार राजा बन सकता था किन्तु उसे असफलता मिली।

हेमलेट अपने इर्द-गिर्द की ज़िन्दगी को अच्छी तरह पहचानता है। उसकी विटनबर्ग की तालीम और अपने परिवार में पनपते हुऐ पाप ने (उसके पिता की हत्या करके उसे राज्याधिकार से वंचित किया गया था) उसे यह सिखाया था कि "समय विश्रृंखलित हो रहा है।" नाटक के आरम्भ से ही दिखाया जाता है कि उसे अपने आसपास के लोगों पर सन्देह है, सीधे-सादे नायकों के मन में इस तरह का सन्देह नहीं उठता, न ही उन्हें कभी यह आभास होता है कि "समय विश्रृंखलित हो रहा है।" अगर उनके मन में सन्देह उठता भी है तो बहुत देर के बाद, तब भी असली कारण की तरफ उनका ध्यान नहीं जाता। लेकिन हेमलेट हमेशा असली कारणों के प्रति सशंकित रहता है—वह मानवप्रकृति का अत्यन्त सूक्ष्म प्रेक्षक है। नेकी और बदी दोनों की तरफ़ उसका ध्यान जाता है। दूसरे दृश्य में वह होरेशियो से पूछता है कि वह एल्सीनोर किले में क्यों लौटकर आया? होरेशियो के इस उत्तर से हेमलेट को बिल्कुल संतोष नहीं होता कि वह अपनी आवारागर्दी की आदत से लाचार होकर आया है। मानव जाति का ज्ञान प्राप्त करने के लिए हेमलेट सीधे सवाल करता है, सवालों के जवाबों का विश्लेषण करता है, दूसरे व्यक्तियों की आँखों का भाव पढ़ने की कोशिश करता है और "मुझे मालूम है" वाले दृष्टिकोण पर ज़ोर देता है। पहले दृश्य में वह अपने दोस्तों रोज़ेनक्रेन्डा और गिल्डनस्टर्न को बड़े विश्वास के साथ मिलता है, लेकिन फ़ौरन उसके दिल में सन्देह पैदा हो जाता है, और वह उनसे साफ़-साफ़ सवाल पूछ लेता है और उसे यह समझने में देर नहीं लगती कि वे उसके प्रच्छन्न शत्रु हैं।

"क्या तुम्हें यहाँ भेजा नहीं गया था? ··· तुम्हें भेजा गया था। तुम्हारे चेहरों से ऐसा लगता है कि तुम किसी गुनाह को क़बूल कर रहे हो, शराफ़त की वजह से

तुममें इतनी चालाकी नहीं कि तुम इसे छिपा सको : मुझे मालूम है कि नेक बादशाह और मलिका ने तुम्हें यहाँ भेजा है।"

इसी प्रकार हेमलेट को अपनी प्रेमिका ओफ़ीलिया पर सन्देह होता है और वह सीधा सवाल पूछता है, "तुम्हारे पिता कहाँ हैं ?" "वे घर पर हैं मेरे स्वामी", ओफ़ीलिया उत्तर देती है। अचानक हेमलेट की नज़र पर्दे के पीछे छिपे ओफ़ीलिया के पिता पोलोनियस और बादशाह पर चली जाती है।

हेमलेट की बौद्धिकता के कारण दुष्ट लोग उसे खिलौना नहीं बना सकते। "क्या तुम सोचते हो कि तुम मुझे बांसुरी से भी ज़्यादा आसानी से बजा सकते हो ?" मानव स्वभाव का ज्ञाता होने के कारण हेमलेट भी बदमाशों और चापलूसों के साथ खेल खेलता है। लेकिन उसके अभिनय में भी न्यायभावना रहती है।

अब सवाल उठता है कि अपनी समस्त बौद्धिकता के बावजूद हेमलेट अपने विरुद्ध की गई साज़िशों को क्यों न देख सका ? बादशाह का ख़्याल है कि हैमलेट के दिमाग़ में गड़बड़ है। चूँकि वह ख़ुद बदमाश है इसलिए वह ईमानदारी को बुद्धूपन समझता है। उसे यह नहीं पता कि अब हेमलेट पुराना हेमलेट नहीं रहा। नया हेमलेट अपनी असलियत को छिपाने के लिए अभिनय करता है। लेकिन द्वन्द्वयुद्ध के समय वह छुरों की धारों का निरीक्षण नहीं करता। यहाँ आकर उसका ज्ञान असफल हो जाता है और यही ट्रैजेडी का मूलकारण है। अन्धेपन में आकर वह फ़ौरन द्वन्द्व-युद्ध के लिए राज़ी हो जाता है।

लेकिन हम यह कह सकते हैं कि हेमलेट ने 'विश्रृंखालित समय' को सुधारने की पूरी कोशिश की, जिसमें वह असमर्थ रहा।

'टेम्पेस्ट' नाटक में प्रोस्पेरो ने कटु अनुभवों के बाद यह सबक़ सीखा कि दुष्टों पर विश्वास करने से मुसीबतें आती हैं। इस ज्ञान के बल पर प्रोस्पेरो दुष्टों को अंकुश में रखने की शक्ति प्राप्त करता है, लेकिन सिर्फ़ कला के संसार में। ज्यों ही वह अपनी जादू की छड़ी तोड़ देता है, उसकी सारी शक्ति समाप्त हो जाती है। वह प्रत्यक्ष को यथार्थ में बदल सकता है, लेकिन यथार्थ को प्रत्यक्ष रूप नहीं दे सकता। न ही हेमलेट की तरह वह 'विश्रृंखलित समय' को सुधारना चाहता था। प्रोस्पेरो के इर्द-गिर्द दुष्टता का साम्राज्य था, नेकी सिर्फ़ गोन्ज़ेलो और युवक फ़र्डीनेन्ड में बच रही थी। दुष्टों को सुधारना प्रोस्पेरो के बस की बात नहीं थी। जब दुष्टों के मन में पश्चाताप की अनुभूति जगती है तो प्रोस्पेरो कहता है, "अब मेरा काम पूरा हो गया। इससे आगे जाने की मुझे कोई इच्छा नहीं।" 'विंटर्ज़ टेल' नाटक में लियोन्तीज़ को क्षमा पाने के लिए पूरे सोलह बरसों तक इन्तज़ार करनी पड़ी थी। लेकिन टेम्पेस्ट के दुष्टों को तत्काल ही क्षमा मिल गई। शायद शेक्सपियर का मन्तव्य यह है कि जब संसार में इतनी दुष्टता है तो फिर हमारे पास दुष्टों को क्षमा करने के सिवा चारा भी क्या है।

शेक्सपियर के सरल हृदय पात्र 'विश्रृंखलित समय' की पृष्ठभूमि में मानव-स्वभाव को समझने में असमर्थ हैं, वरना उनमें क्षमताओं और योग्यता की कोई कमी

नहीं होती । लियर क्षण-भर में भाँप लेता है कि भेस बदलने वाला केंट उसका साथ देगा क्योंकि लियर सेवकों के गुणों का पारखी है। एक जेनरल के रूप में ओथेलो को सफलता मिली थी। शेक्सपियर के नाटकों से यह सिद्ध होता है कि इन्सान सर्वज्ञ नहीं हो सकता। 'जूलियस सीज़र' नाटक में यह बात बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है। सीज़र तथा केसियस राजनैतिक चरित्र के पारखी हैं, किन्तु ब्रूटस अपने विरोधियों को राजनैतिक दृष्टि से परखने में असमर्थ है। जब केसियस और उसके साथी सीज़र की हत्या के बाद सीज़र के साथी एन्टोनियस की भी हत्या करना चाहते हैं तो ब्रूटस उन्हें रोक देता है। केसियस ब्रूटस को समझाता है कि जैसे भी हो एन्टोनियस को सीज़र के जनाज़े पर भाषण देने से रोकना चाहिए, लेकिन ब्रूटस कहता है, "इससे हमें नुक़सान की बजाय फ़ायदा होगा।" ब्रूटस की इसी ग़लती से उनके पक्ष की हार हुई।

वैसे देखा जाय तो ब्रूटस, सीज़र और केसियस से कहीं ज़्यादा मानव-प्रकृति को समझता है, वह जानता है कि कौन ईमानदार है, कौन बदमाश है, कौन सच्चा दोस्त है और कौन मित्र-द्रोही है। उधर सीज़र ब्रूटस को अपना दोस्त और बेटा समझता है, उसे यह मालूम नहीं कि एक वीतराग व्यक्ति अपनी भावनाओं पर क़ाबू पाकर कुछ भी कर सकता है। इसीलिए मरने से पहले सीज़र कहता है, "अरे तुम भी।" केसियस सबसे पहले जिस सेवक से कहता है, "मुझे मार डालो," वह सेवक फ़ौरन राज़ी हो जाता है। केसियस जिन्दगी-भर लोगों को पैसे से खरीदता रहा है (उसे हर इन्सान की क़ीमत मालूम थी), लेकिन कोई भी सेवक ब्रूटस की छाती में छुरा भोंकने के लिए राज़ी नहीं होता इसीलिए ब्रूटस इस नतीजे पर पहुँचता है—

"ऐ देशवासियो, मुझे इस बात की खुशी है कि जिन्दगी-भर मुझे एक भी ऐसा आदमी नहीं मिला, जिसने मेरे साथ विश्वासघात किया हो।" ब्रूटस राजनैतिक दृष्टि से भले ही लोगों को परखने में असमर्थ रहा हो, किन्तु नैतिक दृष्टि से वह लोगों को अच्छी तरह जाँच-परख सकता है।

शेक्सपियर ने मानव-प्रकृति के बारे में यह मालूम करके कि मानव प्रकृति का समूचे चरित्र, विश्व-बोध और नैतिकता के साथ क्या सम्बन्ध है, मानव-जाति के ज्ञान के द्वन्द्वात्मक स्वरूप का कलात्मक चित्रण किया है और अपने युग-दर्शन के आन्तरिक विरोधाभासों को अभिव्यक्ति दी है।

पुनर्मूल्यांकन

जयकुमार 'जलज'

भवभूति

भवभूति के नाटकों के क्रम के सम्बन्ध में विवाद है। इस सम्बन्ध में प्रायः किसी एक नाट्य तत्त्व के आधार पर उनके एक नाटक को किसी दूसरे नाटक से पहले या बाद का सिद्ध करने की सामान्य तर्क-पद्धति का आश्रय लिया जाता है। इस तर्क-पद्धति से तो भवभूति के किसी भी नाटक को सहज ही उनके किसी अन्य नाटक के बाद का सिद्ध किया जा सकता है। उदाहरण के लिए डॉ० भोलाशंकर व्यास 'मालती माधव' को भवभूति की पहली रचना और 'महावीर चरित' को उसके बाद की रचना मानते हैं। इसके लिए वे 'मालती माधव' की अपेक्षा 'महावीर चरित' की वस्तु-योजना का प्रमाण उपस्थित करते हैं।[1] किन्तु यदि चरित्र-चित्रण की श्रेष्ठता के आधार पर निर्णय दिया जाए तो निश्चय ही 'मालती माधव' 'महावीर चरित' की अपेक्षा बाद की रचना सिद्ध होगा और यह भी सच है कि कथावस्तु की अपेक्षा चरित्र-चित्रण अधिक सूक्ष्म तत्त्व है। अतः उसकी श्रेष्ठता अधिक प्रौढ़ हाथों की देन होगी। वास्तव में सम्पूर्ण नाटक की श्रेष्ठता के आधार पर ही उसका क्रम निर्णीत किया जाना चाहिए और इस निर्णय का समर्थन अन्य प्रमाणों से भी होना चाहिए।

भवभूति स्वभाव से अत्यन्त गम्भीर, मर्यादावादी और आदर्शवादी प्रतीत होते हैं। पाण्डित्य और भाषा पर अधिकार उन्होंने परम्परा से भी पाया था[2] और स्वयं भी अर्जित किया था।[3] काव्य-सृजन उनके लिए इतना सम्मानपूर्ण है और कविकर्म के प्रति वे इतने सचेतन हैं कि उत्तर रामचरित के नान्दीपाठ में वे अन्य संस्कृत नाटककारों की तरह किसी देवता को नहीं बल्कि अपने पूर्ववर्ती कवियों को प्रणाम अर्पित करते हैं।[4] ऐसे स्वभाव की अनुकूलता रामकथा से ही भली प्रकार बैठती है। इसलिए कोई आश्चर्य नहीं यदि भवभूति ने राम की कथा को ही अपने पहले नाटक का विषय बनाया हो और 'महावीर चरित' की रचना की हो। यह नाटक सम्भवतः असफल सिद्ध हुआ। 'मालती माधव' का निम्नलिखित छन्द उनके पहले नाट्यप्रयत्न

१. सम्भवतः 'मालती माधव' ही पहली रचना है। 'मालती माधव' की वस्तुयोजना की अधिक विश्रृङ्खलता भी इसका संकेत कर पाती है। वैसे तो भवभूति के सभी रूपक नाटकीय संविधान की दृष्टि से शिथिल जान पड़ते हैं किन्तु इनमें भी 'मालती माधव' अधिक शिथिल है।
—संस्कृत कवि दर्शन, पृ० ३८५

२. 'मालती माधव', प्रस्तावना।
३. 'उत्तर रामचरित', १।२।
४. वही, १।१।

की असफलता की ओर ही संकेत करता प्रतीत होता है—

> ये नाम केचिदिह न प्रथयन्त्यवज्ञां
> जानन्ति ते किमपि तान्प्रति नैष यत्नः
> उत्पत्स्यतेऽस्ति मम कोऽपि समानधर्मा
> कालो ह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी ।

'मालती माधव' में इस छन्द का आना स्वयं इस बात का प्रमाण है कि उसके पूर्व कोई नाटक लिखा जा चुका था और यह नाटक 'उत्तर रामचरित' नहीं है इस बात पर सभी विद्वान् सहमत हैं। स्पष्ट है कि वह नाटक 'महावीर चरित' ही होगा। 'महावीर चरित' के बाद 'मालती माधव' की रचना एक स्वाभिमानी नाटककार ने अपने स्वभाव से कुछ हटकर सम्भवतः प्रथम नाटक की प्रतिक्रियास्वरूप ही की होगी। शृङ्गार तथा अन्य अनेक रस, कुतूहल, साहसपूर्ण कृत्य आदि से युक्त नाटक के द्वारा जनरुचि को सन्तुष्ट करने की चेष्टा ही परिलक्षित होती है। इस नाटक को, जैसा कि स्वाभाविक है, सफलता मिली। परिणामस्वरूप भवभूति फिर अपने पुराने विषय पर लौट आए और उन्होंने 'उत्तर रामचरित' की रचना की।

फिर यह प्रमाण भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है कि 'महावीर चरित' की अपेक्षा 'मालती माधव' में भवभूति की भाषा अधिक सरल है। सरलता का यह क्रम बढ़ता गया है। 'उत्तर रामचरित' की भाषा सरलतम है। कथावस्तु के अतिरिक्त अन्य सभी तत्त्वों की दृष्टि से या समूचे नाटक के रूप में 'महावीर चरित' की अपेक्षा 'मालती-माधव' अधिक श्रेष्ठ है। इसलिए 'महावीर चरित', 'मालती माधव' और 'उत्तर रामचरित' भवभूति की रचनाओं का यह क्रम ही उचित प्रतीत होता है। संस्कृत नाटकों पर काम करने वाले अधिकांश विद्वानों में भवभूति के नाटकों का अब यही स्वीकृत क्रम भी है।

यद्यपि भवभूति की नटों से मित्रता थी[1] और भगवान् कालप्रियानाथ की यात्रा के अवसर पर उनके नाटक अभिनीत भी हुए थे[2] फिर भी लगता है कि जैसे रंगमंच की संस्था भारतवर्ष में उनके समय तक शिथिल पड़ गई थी और नाटककारों का सम्पर्क जनसामान्य से नहीं रह गया था। या तो वे राजदरबारों में सीमित हो चले थे या फिर पाण्डित्य में। सम्भवतः ज्ञान-विज्ञान की सुदीर्घ परम्परा का यह स्वाभाविक परिणाम हुआ कि व्यक्ति अधिक शास्त्रवादी हो गया। काव्य में पाण्डित्य-प्रदर्शन जितना सहज है नाटक में उतना नहीं। नाटक में इसके लिए अवकाश ही नहीं होता। फिर नाटक जन-सम्पर्क की कला है और जे० बी० प्रीस्टले के शब्दों में उसके सम्बन्ध में सदैव यह समस्या उठती है कि उसके लिख चुकने के पश्चात् उसका क्या किया जाए।[3] अर्थात् रंगमंच से नाटक का अनिवार्य सम्बन्ध है। ऐसी परिस्थिति में

---

१. निसर्ग सौहृदेन भरतेषु—'मालती माधव', पृ० ३।
२. 'उत्तर रामचरित', पृ० ३।
३. What to do with your play when you have written it?
—The Art of Drama, Page 90.

या तो लोग काव्य-सृजन में लग गए या यदि नाटक लिखते भी रहे तो उसे काव्य के निकट ले गए। भवभूति के पश्चात् तो यह स्थिति हो गई कि नाटक बहुत-कुछ गीति-नाट्य-सा हो गया और फिर धीरे-धीरे काव्य के विशाल आयाम उसमें ऐसे प्रकट हुए कि नाटक के नाम पर किनारे की ओर पात्रों के नाम-भर रह गए और सब-कुछ काव्य हो गया।

भवभूति के नाटकों के वस्तुविधान में ही काव्य का प्रभाव दिखाई देने लगता है। उनके तीनों नाटकों में से किसी में भी समय तथा स्थान के संकलन की रक्षा नहीं दिखाई देती। 'महावीर चरित', 'मालती माधव' और 'उत्तर रामचरित' की कथा-वस्तु क्रमशः १५ वर्ष, ३ माह और १२ वर्ष का समय घेरती हैं। तीनों में ही स्थान के सम्बन्ध में कोई सीमा नहीं है। कथावस्तु को घटित करने के लिए केवल पृथ्वी के स्थानों को ही नहीं, कभी-कभी आकाश को भी केन्द्र बनना पड़ा है। कहीं-कहीं कथा-वस्तु अत्यन्त शीघ्र स्थान परिवर्तित करती है। शीघ्र स्थान-परिवर्तन काव्य में तो सम्भव है, नाटक में नहीं।

भवभूति के नाटकों में सूच्य कथावस्तु का अंश पूर्ववर्ती नाटककारों की अपेक्षा अधिक है। इसलिए उन्होंने अपने नाटकों में अर्थोपक्षेपकों—मुख्य रूप से प्रवेशक और विष्कम्भक-का प्रयोग अधिक किया है। इन्हीं की सहायता से वे भावी या अतीत के कथांशों की सूचना देते हैं। अकेले 'मालती माधव' में ही पहले, पाँचवें और नवें अंक में विष्कम्भक और दूसरे, तीसरे तथा सातवें अंक में प्रवेशक का उपयोग किया गया है। नेपथ्य से जो सूचनाएँ दी गई हैं वे अलग हैं।

सूच्य कथावस्तु की अधिकता किसी भी नाटक को अनिवार्यतः वर्णनात्मक बना देगी और जैसे ही वर्णनात्मक अंशों की प्रधानता हुई नाटक नाटक कम काव्य अधिक हो जाएगा।

काव्यात्मकता का प्रभाव भवभूति पर इतना है कि उनके पात्र प्रायः कथावस्तु को स्थगित-सा करके प्राकृतिक पदार्थों या मनोभावों के वर्णन में उलझ जाते हैं। इस प्रकार केवल सूच्य कथावस्तु में ही नहीं दृश्य कथावस्तु में भी वर्णनात्मकता भर गई है। 'मालती माधव' के तीसरे अंक में लवंगिका का संवाद चार पृष्ठों तक चला है और भाषण का रूप ले बैठा है। 'महावीर चरित' के चौथे अंक में भी युद्धक्षेत्र के वर्णन से सम्बन्धित इन्द्र और चित्ररथ के लम्बे भाषणों की योजना है। इसी प्रकार उसमें मलयवन्त और शूर्पणखा, जटायु और सम्पाति, अलका और लंका के संवाद भी सर्वथा अनाटकीय हैं। एक ही विषय पर 'किंच'[1] 'अथवा'[1] 'तथा हि'[1] 'अपि च'[2] ऐसे शब्दों का प्रयोग कराकर पात्र के द्वारा छन्द-पर-छन्द प्रस्तुत करवाते जाना भवभूति में अनेक स्थानों पर देखा जा सकता है। उनके छन्द भी भास की तरह छोटे नहीं हैं। शार्दूल विक्रीडित, वसन्ततिलका, शिखरिणी, स्रगधरा आदि लम्बे छन्द उन्हें विशेष प्रिय हैं। वर्णन के योग्य विषय पाकर भवभूति रुकना नहीं जानते और यही

१. 'मालती माधव', पृ० ५७।
२. 'उत्तर रामचरित', पृ० ११२।

उनकी दुर्बलता है। कहीं-कहीं कोई छन्द मात्र इसलिए भी पात्र के मुख में रख दिया गया है कि वह अत्यन्त कवित्वपूर्ण है। 'एकः रसः करुण एव' यह छन्द कितना ही सुन्दर हो पर सच तो यह है कि तमसा के द्वारा इसके कथन की कोई आवश्यकता या अनुकूलता वहाँ है ही नहीं। तृतीय अंक के उक्त छन्द के बाद का सारा अंश भी सर्वथा निरर्थक है।

सर्वाधिक सुलझी हुई और सरल कथावस्तु 'महावीर चरित' की है। इसके लिए भवभूति को प्रचलित रामकथा में पर्याप्त परिवर्तन और सुधार करना पड़ा है। पात्रों के दो दल हैं—एक राम का और दूसरा रावण का। राक्षस-दल का सूत्र-संचालन उसके मन्त्री मलयवन्त के हाथ में है। वह कूटनीति से राम पर विजय पाना चाहता है। राम का अपराध यही है कि सीता ने उन्हें वरण किया है और इससे रावण का अपमान हुआ है क्योंकि रावण ने अपने दूत को अपनी ओर से स्वयंवर में भेजा था। मलयवन्त की ओर से सबसे पहले परशुराम को राम के विरुद्ध उकसाया गया है। फिर शूर्पणखा को मन्थरा का रूप धारण करके राम के अयोध्या पहुँचने से पूर्व ही अयोध्या पहुँचाया जाता है। वहाँ वह कैकेयी की ओर से राम को वन-गमन का आदेश देती है। राम वन के लिए गमन करते हैं और वहाँ सीता-हरण होता है। पर राम नष्ट नहीं होते। मलयवन्त बालि को राम के विरुद्ध लड़ाता है। बालि मृत्यु को प्राप्त होता है। फिर राम-रावण-युद्ध होता है और विजयी राम सीता को लेकर अयोध्या लौटते हैं। भवभूति ने प्राचीन कथावस्तु में दो महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किये हैं—दण्डकारण्य के बहुत पूर्व शूर्पणखा की योजना और बालि से राम का निश्छल युद्ध। शूर्पणखा की उक्त योजना कर देने से कैकेयी की कथा बच गई है और कुछ पात्रों की भी बचत हो गई है। दूसरे, राम के वनगमन का रावण तथा मलयवन्त के षड्यन्त्र से सीधा सम्बन्ध हो गया है। फलस्वरूप कथा में अधिक अन्विति आ गई है। रामकथा के इस नूतन वस्तुविधान में विशाखदत्त के 'मुद्राराक्षस' नाटक का प्रभाव दिखाई देता है। कम-से-कम मलयवन्त का कार्यव्यापार अवश्य ही राक्षस के कार्यव्यापार से प्रभावित है।

'महावीर चरित' अपने कुछ दोषों—मुख्य रूप से निर्जीव चरित्र-चित्रण और लम्बे वर्णनों के कारण असफल सिद्ध हुआ। भवभूति ने सम्भवतः इसे कथावस्तु की असफलता समझा और 'महावीर चरित' की-सी सुलझी हुई तथा सर्वथा मानवीय कथावस्तु को उन्होंने सदा के लिए छोड़ दिया। 'महावीर चरित' के ठीक बाद के नाटक 'मालती माधव' में उक्त असफलता की प्रतिक्रिया अत्यन्त तीखी है। फलस्वरूप 'मालती माधव' में आकस्मिकता, काल्पनिकता, अनावश्यक उलझाव, घटनाबहुलता आदि का सहारा लिया गया है और योग, सिद्धि आदि की सहायता से कथावस्तु के सूत्र सुलझाये गए हैं। 'मालती माधव' के प्रकरण होने के कारण भवभूति को कथावस्तु के सम्बन्ध में पर्याप्त छूट भी थी क्योंकि प्रकरण में कथावस्तु कविकल्पित होती है।[1] मात्र कुतूहल-वर्द्धन या वर्णनात्मकता के लिए उन्होंने कथावस्तु को खींचकर आगे बढ़ाया है। 'मालती माधव' की कथावस्तु को स्वाभाविक रूप से आठवें अंक में ही

१. भवेत्प्रकरणे वृत्तं लौकिकं कविकल्पितम्—साहित्यदर्पण, ६।२२४।

नायक-नायिका मिलन के रूप में समाप्त हो जाना चाहिए था। पर कपाल कुण्डला के द्वारा अनावश्यक रूप से मालती का हरण करवाकर भवभूति ने नवें अंक के विरह-वर्णन के लिए अवकाश निकाला है जो 'विक्रमोर्वशी' के चौथे अंक के विरह-वर्णन से मिलता-जुलता है। दसवाँ अंक नवें के बाद आना ही था। कपाल कुण्डला के द्वारा मालती का हरण विरह-वर्णन के हेतु अवकाश निकालने के लिए ही नहीं बल्कि कुतूहल वर्द्धन के लिए भी है। केवल विरह-वर्णन तो मालती और माधव के प्रथम विछोह के समय भी किया जा सकता था। कुतूहल-वर्द्धन की उक्त चेष्टा नितान्त अस्वाभाविक और ऐयारी कहानियों जैसी लगती है।

महावीरचरित की कथावस्तु में संयोग और आकस्मिकता को कहीं भी स्थान नहीं मिला है। किन्तु मालतीमाधव में मालती को बचाने के लिए दो बार संयोग की विधि का सहारा लिया गया है। एक बार माधव (अंक ५) और दूसरी बार सौदामिनी (अंक ९) उसे आकस्मिक रूप से बचाती है। इस प्रसंग में भवभूति के पक्ष में श्रीपाद कृष्ण बेलवलकर का कथन, कि संसार में संयोग और आकस्मिकताएँ घटित होती ही हैं और इसलिए नाटककार को अपनी रचना से इनका बहिष्कार करने का कोई अधिकार नहीं है,[1] उचित नहीं प्रतीत होता। संयोग और आकस्मिकता जीवन में भले ही कितनी ही सत्य हो पर साहित्य में हम केवल सत्य का नहीं सम्भाव्य सत्य का आश्रय लेते हैं। इसलिए इस प्रकार के संयोगों से कथा के सूत्र सुलझाना एक अविश्वसनीय पद्धति है जो नाटककार की नाट्यक्षमता में सन्देह उत्पन्न कराती है। भवभूति स्वयं संयोग की इस असम्भाव्यता से नहीं तो कम-से-कम उसकी विचित्रता से तो अवश्य ही परिचित प्रतीत होते हैं। इसीलिए मालती के वध के लिए अघोर घण्ट के प्रवृत्त होने के पूर्व बिलकुल ठीक समय पर पहुँचे हुए माधव के मुख से वे कहलाते हैं—**'अहो नु खलु भोस्तदेतत्काकतालीयं नाम।'**

उत्तर रामचरित के लेखन-काल तक भवभूति में प्रथम नाटक की असफलता की प्रतिक्रिया सम्भवतः कम हो गई। फलस्वरूप उसमें वस्तुविधान-सम्बन्धी वे दोष नहीं हैं जो मालतीमाधव में दिखाई देते हैं। वर्णन का मोह यद्यपि छूटा नहीं है फिर भी अब कथा की गति उससे अधिक बाधित नहीं होती। वर्णन अत्यन्त कवित्वपूर्ण हो गए हैं। इसलिए यदि कथा की गति कहीं बाधित भी होती है तो उच्च कवित्व के द्वारा कुछ-न-कुछ क्षतिपूर्ति होती चलती है। उत्तर रामचरित के वर्णनात्मक छन्दों की एक विशेषता और है। वे कथावस्तु की घटनाओं के लिए आवश्यक पृष्ठभूमि उपस्थित करके वस्तु में आवश्यक या कम-से-कम कुछ उपयोगी बन गए हैं। उदाहरण के लिए द्वितीय अंक में दण्डकारण्य तथा जनस्थान के वर्णन-सम्बन्धी छन्द जिनसे सीता-वियोग की घटना और अधिक गम्भीर तथा भयंकर प्रतीत होती है। फिर भी यह सही है कि अंक ५ और ६ के युद्ध-वर्णन-सम्बन्धी छन्दों को कुछ कम किया जा सकता था।

उत्तर रामचरित की कथा बहुत कुछ महावीरचरित की तरह ही सुलझी हुई

1. Rama's Later Life, Introduction—Page 73.

है। राम द्वारा सीता के निर्वासन से कथावस्तु आरम्भ होती है। सीता को दोहद पूर्ण करने के बहाने से निर्वासित किया गया है। इसलिए स्वाभाविक है कि सीता के मन में राम के प्रति मलिनता उत्पन्न हो जाय। सीता की मानसिक मलिनता का निराकरण और राम से पुर्नमिलन यह नाटक का उद्देश्य है। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए राम-कथा में सबसे महत्त्वपूर्ण परिवर्तन भवभूति ने यह किया है कि शम्बूक के वध के लिए उन्होंने राम को दण्डकारण्य भेजा है और वहाँ छाया रूप में विद्यमान सीता की उपस्थिति में उन्हें अपना हृदय उद्घाटित करने दिया है। कथावस्तु की दृष्टि से दूसरे अंक का महत्त्व इसलिए है कि इसकी घटना राम को दण्डकारण्य में पहुँचा देती है। पुर्नमिलन के लिए केवल सीता को राम के हृदय का सही परिचय ही आवश्यक नहीं है अपितु कुटुम्ब और नगर तथा जनपद के निवासियों को सीता की पवित्रता भी हृदयंगम कराना आवश्यक है। इसलिए चौथे अंक में कुटुम्ब के लोग सीता की पवित्रता को स्वीकार करते हैं। कुटुम्ब के सभी बड़े लोग यहाँ एकत्र हैं और सीता के पिता जनक की उपस्थिति ने वातावरण को अत्यन्त गम्भीर और करुण बना दिया है। सीता की पवित्रता और उनके प्रति राम के अनुराग में तो सन्देह का प्रश्न ही नहीं है। जनक को केवल एक ही दुःख है कि रामभद्र ने निर्वासन का निर्णय करने में जल्दबाज़ी से काम लिया।[1] पाँचवें और छठवें अंक में लव और कुश का चन्द्रकेतु तथा राम आदि से परिचय होता है। उनमें जृम्भकास्त्र सिद्ध होने का प्रमाण मिलता है और उनकी वीरता को देखने का अवसर प्राप्त होता है। इन बातों से उनके राम-पुत्र होने की दिशा में लोग सोचना आरम्भ करते हैं। सातवें अंक में वाल्मीकि एक नाटक का आयोजन करते हैं और उसमें सीता-निर्वासन के बाद की घटनाओं को प्रदर्शित किया जाता है। नाटक के द्वारा नगर तथा जनपद निवासियों के हृदय-परिवर्तन का प्रयोग सर्वथा अनूठा और स्वाभाविक है। यह बात फिर भवभूति के साहित्य-कर्म के प्रति सचेतन होने का प्रमाण उपस्थित करती है। उद्देश्य की प्राप्ति के साथ कथावस्तु समाप्त हो जाती है। नाटक का सुखान्त होना भारतीय परम्पराओं के अनुकूल है। किन्तु उसका यह अन्त सम्पूर्ण कथावस्तु के विकास का सहज परिणाम ही है। यह प्रचलित कथन कि भवभूति ने उत्तर रामचरित को प्रयत्नपूर्वक सुखान्त बनाया है, इस बात का द्योतक है कि यह निर्णय हम प्रचलित रामकथा के आधार पर कर रहे हैं, उस कथावस्तु के आधार पर नहीं जिसे भवभूति ने अपने नाटक में प्रस्तुत किया है। वास्तव में किसी नाटक के अन्त की स्वाभाविकता-अस्वाभाविकता का निर्णय किसी बाह्य-मानदण्ड से नहीं अपितु उस नाटक की ही कथावस्तु के आधार पर होना चाहिए।

भवभूति के आरम्भिक नाटकों की कथावस्तु में एक दोष यह दिखाई देता है कि सारी कथावस्तु का निर्धारण आरम्भ में ही हो गया है और उसे स्वयमेव विकसित नहीं होने दिया गया है। जी० के० भट ने इसका उल्लेख एक अच्छाई के रूप में

---

१. अहो रामभद्रस्यत्विप्रकारिता।—उत्तर रामचरित, चौखम्बा, पृष्ठ २४७।

किया है।[1] लेकिन सावधानी से विचार करें तो यह स्थिति नाटक-लेखन के क्षेत्र में नवागन्तुक व्यक्ति की ही सूचक सिद्ध होगी। आरम्भ में ही वस्तु के मोड़ों और अन्त की सूचना दे देने से कुतूहल की तीव्रता भी कम हो जाती है। कथावस्तु के पूर्व निर्धारण का दोष मालतीमाधव में सर्वाधिक स्पष्ट है। उसमें पहले अंक के मिश्र-विष्कम्भक में ही कथा के खूँटे गाड़ लिए गए हैं। शेष सारे नाटक में केवल ताने-बाने ही बुने गए हैं। जहाँ कथा में उद्देश्य पहले से निश्चित कर लिया गया हो और पात्रों को केवल उसकी प्राप्ति के लिए एक योजनाबद्ध ढंग से चलना भर हो वहाँ न तो चरित्र का विकास सम्भव है और न कथावस्तु की स्वाभाविकता तथा कुतूहलोत्पादकता।

भवभूति के समय तक वर्ण-व्यवस्था अत्यन्त रूढ़ हो गई थी और यदि इस व्यवस्था में यह चिन्तन पल्लवित हुआ हो कि व्यक्ति के चरित्र में परिवर्तन नहीं होता तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। समाज की व्यवस्था को जैसे स्थिर सत्य के रूप में माना गया था वैसे ही सम्भवतः व्यक्ति के मन को भी स्थिर सत्य मान लिया गया। ऐसी परिस्थिति में चरित्र-चित्रण की वह पद्धति पनपी जिसमें पात्रों के दो दल बना दिए जाते हैं—एक में सब-कुछ अच्छा होता है और दूसरे में सब-कुछ बुरा तथा एक सदा के लिए अच्छा होता है और दूसरा सदा के लिए बुरा। भवभूति के महावीर-चरित में इसी प्रकार का चरित्र-चित्रण है। राम में प्रत्येक अच्छाई को दिखाया गया है और रावण आदि से अन्त तक बुरा है। लगभग सभी पात्र स्थिर हैं और उनमें कोई परिवर्तन नहीं होता। जिसे चरित्र का विकास कहते हैं वह महावीरचरित में नहीं है। हाँ, जैसा कि बेलवलकर ने संकेत किया है[2] यदि हम परशुराम के मनः-स्थिति-परिवर्तन को ही चरित्र का विकास न मान बैठें। भवभूति ने अपने अच्छे पात्रों को एक खोखले आदर्शवाद के अधीन कर दिया है। परिणाम यह हुआ है कि ये पात्र अत्यन्त निर्जीव और काल्पनिक-से लगने लगे हैं। इस दृष्टि से उनके बुरे और अच्छे पात्र में कोई अन्तर नहीं है। एक में अगर लोहे की जड़ता है तो दूसरे में सोने की। बस। जड़ या निर्जीव दोनों ही हैं।

मालतीमाधव में भी एक सीमा तक यही स्थिति बनी रहती है किन्तु साथ ही भवभूति इससे ऊपर उठते हुए भी प्रतीत होते हैं। प्रकरण के अन्त तक कम-से-कम नन्दन और महाराज के हृदय-परिवर्तन का समाचार हमें मिल जाता है। कामन्दकी जो अत्यन्त तटस्थ भाव से मालती के हित-साधन में लगती है अन्त तक तटस्थ नहीं रह पाती। धीरे-धीरे मालती के प्रति उसके मन में अपत्य-स्नेह जाग उठता है। वह उसके लिए रोती है। उसके वियोग में मूर्च्छित होती है और आत्मघात तक करना चाहती है। अपनी इस मानवीय दुर्बलता के कारण ही वह अत्यन्त महान प्रतीत होती है। आरम्भ में वह भूरिवसु की मित्रता के कारण ही मालती और माधव का विवाह

1. Bhavabhuti drops rich suggestions about the future development of action from the prologue itself to the end of the first act.
—Uttar Ram Charit, 1953, Introduction, Page 7.
2. Rama's Later Life, Introduction, page 66.

कराने का कार्य हाथ में लेती है किन्तु क्रमशः उसे इस कार्य से मोह हो जाता है और मालती की सहायता करते-करते उसके प्रति इस वृद्ध, कूटनीतिज्ञा तथा तटस्थ भिक्षुणी के भीतर की माँ जाग उठती है।

मालतीमाधव में कामन्दकी की भूमिका इतनी केन्द्रीय हो गई है कि मालती, माधव तथा अन्य पात्र उसके हाथ के मुहरे-भर बनकर रह गए हैं। उनका चरित्र अधिक उभर नहीं पाया है। मुद्राराक्षस में जैसे चाणक्य के कारण चन्द्रगुप्त का चरित्र नहीं उभर पाया है वैसे ही इस प्रकरण में कामन्दकी के कारण माधव तथा अन्य पात्रों का भी। फिर भी पात्रों की अपनी विशेषताएँ हैं और एक-सी भूमिकाओं में काम कराते हुए भी उन सभी में पर्याप्त अन्तर बनाए रखने में नाटककार को सफलता मिली है। माधव अधिक आदर्शवादी, कल्पनाशील और भावुक है। इसके विपरीत मकरन्द में व्यावहारिकता और क्रियाशीलता अधिक है। इसी प्रकार मालती लज्जालु, कुल की मर्यादा समझने वाली, विनीत और चुप रहने वाली है। मदयन्तिका संकोच-रहित, अधिक चिन्तन न करने वाली और चपल तथा मुखर है। उसका जीवन और आकांक्षाएँ अधिक माँसल हैं। मालती के रूप में मध्ययुगीन हिन्दू कुलवती कन्या का सच्चा चित्र मिलता है। कामन्दकी के सारे प्रतत्न उसे अपने पिता के सर्वथा विरुद्ध नहीं ले जा पाते। कपालकुण्डला और अघोरघण्ट के हाथ में पड़ी हुई मालती अपनी एक पंक्ति में ही अपने पिता के प्रति प्रेम और अपने विवाह-सम्बन्धी उनके निर्णय के प्रति विवश उलहना भर देती है—'हे निष्करुण पिता! वह जिसे तुम राजा को प्रसन्न करने का साधन बना रहे थे मृत्यु को प्राप्त हो रही है।'

उत्तर रामचरित में चरित्र-चित्रण और भी सूक्ष्म और मनोवैज्ञानिक हो गया है। यद्यपि इस नाटक में भी सभी (लगभग २५) पात्रों के साथ न्याय नहीं हो सका है। फिर भी राम और सीता इन दो मुख्य पात्रों के साथ न्याय हुआ है और जनक, कौशल्या आदि की चरित्र रेखाएँ संक्षिप्त होती हुई भी गहरी हैं। वसिष्ठ की ओर से अष्टावक्र राम के नाम सन्देश लाते हैं कि आप प्रजा को प्रसन्न रखने में तत्पर रहें। राम आवेश में प्रतिज्ञा करते हैं कि प्रजा की प्रसन्नता के लिए प्रेम, दया, सुख और यहाँ तक कि सीता को भी छोड़ने में मुझे व्यथा नहीं होगी। इसके तुरन्त बाद ही सीता के लोकापवाद का समाचार राम सुनते हैं : वे जानते हैं कि सीता पवित्र हैं।[1] किन्तु दोहद पूर्ण करने के बहाने से उन्हें निर्वासित कर देते हैं। सीता को निर्वासित करने से पूर्व राम के अन्तर के विस्तृत द्वन्द्व का चित्रण भवभूति ने नहीं किया है। सम्भवतः इसी बात से जनक ने राम पर शीघ्र निर्णय का आरोप लगाते हुए प्रकारान्तर से कहा है। लेकिन निर्णय के तुरन्त बाद सभी आत्मीय जनों को, विशेषकर उनको जिन्होंने रावण के साथ युद्ध में राम का साथ दिया था, राम के द्वारा कातर होकर पुकारा जाना और यह कहा जाना कि राम के द्वारा उनका तिरस्कार हुआ है राम के हृदय का उद्घाटन करता है—

हा माता अरुन्धति ! भगवान् वसिष्ठ और विश्वामित्र ! भगवान् अग्नि-

१. उत्तर रामचरित १.१३

देव ! हा देवि पृथ्वि ! हा पिता ! हा जनक ! हा माता ! हा प्रिय मित्र महाराज सुग्रीव ! सौम्य हनुमान ! महान उपकार करने वाले लंकापति विभीषण ! हा सखि त्रिजटे ! तुम सब हतप्राय राम से परिहृत और तिरस्कृत हुए हो।

निर्णय करने से पूर्व के अन्तर्द्वन्द्व की अपेक्षा निर्णय कर चुकने के बाद का अन्तर्द्वन्द्व और पश्चाताप अधिक मानवीय है। राम में हमें यही मिलता है। पश्चाताप के द्वारा राम के चरित्र को ऊपर उठाया गया है। प्रथम अंक के मिलन की पृष्ठभूमि में आगे के अंकों का रामसीता-विरह और भी मार्मिक बन गया है। सीता-निर्वासन की बात सम्भवतः मर्यादा पुरुषोत्तम राम के लिए इतनी व्यक्तिगत थी कि उसको लेकर उन्होंने अपने हृदय को तनिक भी तर्क-वितर्क नहीं करने दिया।[1] इस अभाव की कुछ पूर्ति भवभूति ने शम्बूक का प्रसंग लाकर अत्यन्त कलात्मक ढंग से की है। शम्बूक का वध भी लोक की प्रसन्नता के लिए है। अन्यथा राम जानते हैं कि वह दोष-रहित है। इस प्रकार उसकी स्थिति बहुत कुछ सीता की तरह है। लोक का कथन है कि ब्राह्मण कुमार के मरण का कारण शूद्र तपस्वी शम्बूक की तपस्या है और राम शम्बूक का वध करके केवल एक ही प्रश्न पूछते हैं—क्या वह ब्राह्मण कुमार जीवित हो जायगा ?[2] दूसरी ओर इसकी ध्वनि यह है कि क्या सीता के निर्वासन से लोक का हित-साधन होगा ? और दोनों ही प्रश्नों के उत्तर नकारात्मकता के अतिरिक्त और क्या हैं ? यही कारण है कि भवभूति ने ब्राह्मणकुमार के पुनर्जीवित होने की कोई सूचना किसी भी बहाने से उत्तर रामचरित में नहीं दी है। राम का चरित पर्याप्त सजीव है। लोक के प्रति उनके मन में रोष है। पर वे मर्यादाओं से बँधे हुए हैं। इसलिए उनके रोष के ऊपर आवरण है। फिर भी उसके दर्शन हमें तीसरे अंक में और फिर अन्तिम में वहाँ होते हैं जहाँ गंगा और पृथ्वी दोनों ही सीता की प्रशंसा करती हैं—

दोनों देवियाँ (गंगा और पृथ्वी)—(हे सीते) जगत के कल्याण स्वरूप तुम अपने को क्यों तिरस्कृत करती हो ? तुम्हारे सम्पर्क से हम दोनों की भी पवित्रता उत्कर्ष को प्राप्त कर रही है।

लक्ष्मण—आर्य सुनिए।

और राम का उत्तर है—लोक सुने।

राम का सम्पूर्ण अन्तर्द्वन्द्व राजा राम और मनुष्य राम का अन्तर्द्वन्द्व है।

सीता समर्पिता पत्नी हैं। वे इतनी स्नेहमयी हैं कि रोष उनमें ठहर ही नहीं पाता। उनके रोष की सीमा इतनी ही है कि वे निर्वासन के पश्चात् राम को आर्यपुत्र न कहकर राजा कहकर सम्बोधित करती हैं। पर इस एक शब्द में उनके हृदय की सारी व्यथा भरी हुई है। राम के पश्चाताप से उनके मन का मैल धुल जाता है और वे वासन्ती द्वारा की गई राम की आलोचना को अनुचित अनुभव करने लगती

---

1. तत्किमद्य मन्दभाग्यः करोमि (विमृश्य सकरुणम्) अथवा किमेतत्।
—उत्तर रामचरित, पृष्ठ ६७।

2. वही, पृष्ठ १०२।

हैं। राम के प्रति सीता का असीम अनुराग समझने के लिए केवल एक पंक्ति ही पर्याप्त होगी। तीसरे अंक में मूर्च्छित हुए राम के फिर चेत में आने पर सीता के मुँह से निकलता है—'लगता है, तीनों लोकों का जीवन फिर लौट आया है।' राम की आज्ञापालन के उनके संस्कार इतने गहरे हैं कि राम के लिए अदृश्य होने पर भी वे तमसा से कह बैठती हैं—'भगवति तमसे ! हम लोग हट जाएँ मुझे देखकर बिना आज्ञा की उपस्थिति के कारण महाराज बहुत क्रोध करेंगे।' सीता को केवल अपना ही दुख नहीं है बल्कि अपने पुत्रों के लिए भी वे दुखी हैं। पुत्रों के लिए भी उनका दुख राम के प्रसंग से है—

'ऐसे पुत्रों के जन्म से क्या जिनके विरले, सफेद तथा पुष्प की कलियों के समान दाँतों से उज्ज्वल, निरन्तर असम्बद्ध मनोहर अस्पष्ट मधुर शब्द और हास्य से युक्त तथा नित्य उज्ज्वल सफेद कमलों के सदृश मुखों को आर्यपुत्र ने नहीं चूमा।'

भवभूति के प्रायः सभी पात्र भावुक हैं। बार-बार मूर्च्छित होना, आत्मघात की सोचना और यहाँ तक कि सामूहिक मूर्च्छा का दृश्य तथा सामूहिक आत्मघात की योजना बनाना उनके लिए सहज बात है। उदाहरण के लिए उत्तर रामचरित के अकेले तीसरे अंक में ही वासन्ती एक बार, मर्यादा पुरुषोत्तम राम दो बार, और सीता चार बार मूर्च्छित होती हैं। मालती माधव में मकरन्द जैसा व्यावहारिक बुद्धि का पात्र भी नदी में कूदकर आत्मघात करना चाहता है। कारण मात्र यह है कि उसका मित्र माधव अपनी प्रिया मालती से बिछुड़ गया है। कामन्दकी जैसी कूटनीतिज्ञा भी इतनी भावुक चित्रित की गई है कि वह सामूहिक रूप से आत्मघात की बात सोचती है। भूरिवसु मन्त्री भी अपने-आपको अग्नि में जलाने के लिए प्रस्तुत दिखाए गए हैं। एक अन्य स्थल पर कामन्दकी, माधव और मकरन्द सामूहिक रूप से मूर्च्छित होते हैं। साधारण से कष्ट में भी फूटकर रोना और जीवन-मरण के समस्त प्रश्नों को भावुकतापूर्वक सोच डालना भवभूति के पात्रों की आदत बन गई है। मालती माधव के नवें अंक में माधव का प्रलाप इसी कोटि का है। चरित्र-चित्रण की यह अतिभावुकता भवभूति से बंगाल के नाटककार द्विजेन्द्रलाल राय और फिर उनसे हिन्दी के छायावादी नाटकों में पहुँची।

भवभूति के सम्वाद प्रायः लम्बे हैं। कहीं-कहीं वे सर्वथा निरर्थक-से हैं। क्योंकि न तो वे चरित्र का उद्‌घाटन करते हैं और न कथा की गति को आगे बढ़ाते हैं। ऐसे स्थलों पर या तो वे लम्बे वर्णनात्मक पद्यों के रूप में आकर स्वतन्त्र पद्य-खण्ड हैं या फिर गद्यात्मक भाषणों के रूप में हैं। भवभूति की रचनाओं में इस दोष का परिमार्जन क्रमशः होता गया है। उत्तर रामचरित के चतुर्थ अंक में हमें उच्च-कोटि के सम्वाद मिलते हैं। इस अंक में वे अत्यन्त संक्षिप्त और चुटीले हैं।

कहीं-कहीं केवल एक शब्द के प्रयोग से ही भवभूति ने कथोपकथन की स्वाभाविकता निर्मित कर दी है। दशरथ के समय के सेवक कंचुकी के मुख से नए राजा राम के लिए शीघ्रता में 'रामभद्र' सम्बोधन निकलता है। फिर सुधार कर वह 'महाराज' कहना चाहता है। राम से वियुक्ता सीता अपने पोषित 'हाथी पर संकट पड़ने

र शीघ्रता में पुकारती हैं—'आर्य पुत्र ! मेरे पुत्र को बचाइए ।' फिर उन्हें अपनी भूल समझ में आती है और वे मूर्च्छित हो जाती हैं । राम के वियोग से दुखी सीता अपने द्वारा पाले हुए हाथी के बच्चे को आशीर्वाद देती हैं—'यह अपनी प्रियदर्शिनी भार्या के वियोग से मुक्त रहे ।' कहीं-कहीं राम के सम्वादों में भी चोट करने की भारी शक्ति भरी हुई है । इस प्रकार सम्वादों में लक्षणा और व्यंजना शक्तियों का सहयोग भवभूति ने लिया है । राम और लव के दो सम्वाद-अंश यहाँ उद्धृत हैं—

राम—नगर और देश में रहने वालो हे महात्माओ ! सीता का घर में रहना आप लोगों को अभीष्ट न हुआ । इसलिए उसको तृण की तरह शून्य वन में छोड़ दिया और शोक भी नहीं किया । बहुत काल से परिचित ये पदार्थ अनिर्वचनीय रूप से मुझसे विलाप करवाते हैं । इसलिए अशरण होकर मैं रो रहा हूँ । आप प्रसन्न हों ।

लव—रामचन्द के चरित्र की महिमा को कौन नहीं जानता ? कुछ कहने के योग्य भी हो । अथवा नहीं कहना चाहिए । हाँ, बूढ़े वे आलोचनीय चरित्रवाले नहीं हैं । सुन्द की स्त्री (ताड़का) को मारने में भी अप्रतिहत यश वाले वे लोक में श्रेष्ठ ही हैं । खर के साथ युद्ध में तीन पग पीछे हटे थे । बलि को मारने में जो निपुणता उन्होंने की थी उसे भी लोग जानते हैं ।

भवभूति के सम्वादों में कहीं-कहीं गार्हस्थिक विनोदों को भी स्थान मिला है। ऐसे स्थल विशेष आकर्षक बन गए हैं । उर्मिला का चित्र देखकर सीता द्वारा लक्ष्मण से 'वच्छ इअं वि अवरा का' पूछना ऐसा ही स्थल है । मालती माधव के सातवें अंक में लवंगिका, बुद्धरक्षिता और मदयन्तिका के मध्य का वार्तालाप अपनी हल्की-सी अश्लीलता के बावजूद इसी प्रकार का एक अन्य स्थल है । किन्तु इस प्रकार के स्थलों की संख्या अधिक नहीं है । इतना अवश्य है कि यदि भवभूति वर्णनात्मकता में न उलझते तो सम्वादों की दृष्टि से, उन्हें पर्याप्त सफलता मिली होती । भास, कालिदास आदि की तरह उनके नाटकों में भी सुभाषितों की एक बड़ी संख्या है । पर उनमें जीवन का गहन अनुभव कम पांडित्य, कवित्व और भावोच्छ्वास अधिक है ।

निबन्ध के आरम्भ में ही संकेत किया जा चुका है कि भवभूति का युग पांडित्य का युग था और व्यक्ति शास्त्रवादी हो चला था । स्वाभाविक है कि इस युग की उपज भवभूति ने अपने पांडित्य को सम्वादों में भरने की चेष्टा की । उनके अधिकांश सम्वाद विभिन्न विषयों के विशिष्ट शब्दों से भरे हुए हैं । केवल इतना ही नहीं । कठिन और अप्रचलित शब्दों का प्रयोग करके उन्होंने अपने सम्वादों को अपने शब्दकोष को प्रदर्शित करने का साधन भी बनाया है । सी० आर० देवधर ने अपने मालती माधव के संस्करण में ऐसे शब्दों की एक सूची प्रस्तुत की है ।[1] ए० बी० कीथ भवभूति की इस भाषा-शैली को गौडी शैली कहते हैं और नाटक के लिए इसकी अनुपयुक्तता बताते हैं। उनका कथन है कि सम्भवतः बाण की प्रसिद्ध के प्रभाव से भवभूति ने इसे

1. Appendix-B.

स्वीकार किया ।[1] पर सच तो यह है कि बाण और भवभूति दोनों ही लगभग एक ही समय की समाज-व्यवस्था की उपज होने के कारण स्वाभाविक रूप से ही गौडी रीति में रुचि रखते रहे होंगे ।

भवभूति के सम्वादों में एक और विशेषता परिलक्षित होती है । उन्होंने एक ही पात्र से जिसे नियमतः प्राकृत में बोलना चाहिए था एक ही स्थान पर संस्कृत का भी प्रयोग करा दिया है । उदाहरण के लिए मालती माधव की मालती प्राकृत में सम्वाद आरम्भ करती है । गद्य भाग प्राकृत में ही है । पर पद्य भाग को संस्कृत में रखा गया है । इसके लिए भवभूति 'संस्कृतमाश्रित्य' लिखकर अलग से संकेत भी देते हैं । दूसरी बार जब फिर मालती प्राकृत गद्य खण्ड के बाद संस्कृत का पद्य खण्ड बोलती है तो वे फिर संकेत देते हैं—'भूयः संस्कृतमाश्रित्य ।' मृच्छकटिक में भी यही स्थिति है जहाँ वसन्तसेना गद्य के लिए प्राकृत और पद्य के लिए संस्कृत का प्रयोग करती है । इन संस्कृत नाटकों में गद्य के लिए बोलचाल की और पद्य के लिए प्राचीन साहित्यिक भाषा का प्रयोग बहुत कुछ हिन्दी-साहित्य के भारतेन्दु-काल में हुए दो भाषाओं के प्रयोग की तरह है । आगे चलकर सर्वभाषा चतुर राजशेखर ने कर्पूरमंजरी सट्टक को सम्पूर्णतः प्राकृत में लिखा ।

भवभूति न केवल अपने पद्यांशों को बल्कि कभी-कभी गद्यांशों को भी अपने नाटकों में दुहराते हैं । कहीं-कहीं पूरा छन्द भी दुहराया गया है । ऐसी आवृत्तियों की एक विस्तृत सूची टोडरमल के द्वारा महावीर चरित की भूमिका में प्रस्तुत की गई है ।[2]

भवभूति मुख्यरूप से पारिवारिक वातावरण, दाम्पत्य प्रेम और करुण रस के नाटककार हैं । किन्तु वीभत्स, भयानक और वीर रसों में भी उन्हें सफलता मिली है । मालतीमाधव के पाँचवें अंक के श्मशान-वर्णन और उत्तर रामचरित के दूसरे अंक के दण्डकारण्य-वर्णन तथा पाँचवें और छठे अंक के युद्ध-वर्णन में उक्त रसों के अनेक उदाहरण ढूँढ़े जा सकते हैं । वात्सल्य रस के वर्णन भी उनमें हैं और भवभूति की दृष्टि में सन्तान का असीम महत्त्व है ।[3] गार्हस्थिक चित्रों को प्रस्तुत करने में वे सर्वाधिक सफल हैं । इस प्रसंग के उनके कुछ छन्द पर्याप्त लोकप्रिय हुए हैं ।[4] अपने नाटकों में उन्होंने एक पत्नी-व्रत का आदर्श चित्रित किया है । राम, माधव, मकरन्द सभी एक पत्नी या प्रिया में ही अनुरक्त हैं । यह भवभूति का व्यक्तिगत आदर्श प्रतीत होता है । वे मध्यम वर्ग के थे । कालिदास की तरह उच्च वर्ग के नहीं । मध्यम वर्ग में बहुपत्नीवाद उस सीमा तक नहीं आ पाया था जिस सीमा तक उच्च वर्ग में । इसलिए मध्यम वर्ग के भवभूति का उक्त आदर्श बन पाना असम्भव नहीं रहा होगा । यही कारण है कि उनकी दृष्टि मांसल और बाह्य सौन्दर्य पर नहीं सूक्ष्म और आन्त-

1. The Sanskrit Drama, Page 202.
2. Mahavircharit, introduction, Page 40.
३. उत्तर रामचरित—३।१७ ।
४. वही—१।२७, १।३७ ।

रिक सौन्दर्य पर स्थिर होती है। भोग की अपेक्षा त्याग उनके लिए अधिक महत्वपूर्ण है। उनके प्रिय नायक राम आत्मत्याग की ही तो प्रतिमूर्ति हैं। नारी-रूप-दर्शन के आधार पर भवभूति की कालिदास से तुलना करते हुए द्विजेन्द्रलाल राय ने भवभूति की इसी आन्तरिक सौन्दर्यप्रियता को स्पष्ट किया है—'कालिदास और अन्यान्य बहुत से संस्कृत कवियों के नारी-वर्णन में लालसा का भाव भरा हुआ है। किन्तु भवभूति कृत रूप वर्णन सर्वत्र ही पहाड़ी झरने के समान निर्मल और पवित्र है। कालिदास रमणी के बाहरी रूप में ही मस्त हैं, पर, भवभूति की दृष्टि स्त्री के अन्तःकरण के सौन्दर्य पर है। यदि नारी 'तुङ्गस्तनी', 'श्रेणीभारादलसगमना', 'विम्बाधरा' हुई तो बस कालिदास को और कुछ न चाहिए। अपने काव्यों में जगह-जगह पर रमणी के अंगों का वर्णन करने में कालिदास को बड़ा ही आनन्द आता है। किन्तु भवभूति की दृष्टि में नारी 'गेहेलक्ष्मीः' है, उसके वचन 'कर्णामृतानि' हैं, उसका स्पर्श 'संजीवनौषधरसः', 'स्नेहार्द्र शीलः' है, उसका आलिंगन 'सुखमिति वा दुःखमितिवा' है।[1]

स्वभाव से अत्यन्त गम्भीर होने के कारण भवभूति के नाटकों में हास्यरस का अभाव-सा है। जनरुचि का रूपक लिखकर सफलता प्राप्त करने के लिए उन्होंने प्रकरण तो लिखा पर उसमें भी वे गणिका को नायिका नहीं बना सके। मालतीमाधव की नायिका कुलजा कन्या ही है। गणिका के नायिका न होने से द्यूत, विट, चेट आदि जो हास्यरस के लिए सफल आलम्बन हो सकते थे भवभूति के वर्णन-क्षेत्र के बाहर जा पड़े। फिर भी यह आरोप कि उनमें हास्यरस का सर्वथा अभाव है या वे विनोद करना ही नहीं जानते सही नहीं है। उत्तर रामचरित के चतुर्थ अंक का मिश्रविष्कम्भक, चतुर्थ अंक का सोलहवाँ छन्द, मालतीमाधव का सप्तम अंक जहाँ लवंगिका मदयन्तिका से पूछती है कि तुम्हारा समय कैसे बीतता है।[2] आदि भवभूति की हास्यरस सम्बन्धी सम्भावनाओं की सूचना देते हैं।

नाटककार के रूप में भवभूति की श्रेष्ठता के सम्बन्ध में दो विरोधी मत हैं। कीथ के अनुसार उनका उत्तर रामचरित भी नाट्यकला की ऊँचाई को स्पर्श नहीं करता। कथावस्तु बारह वर्ष का समय घेरती है। इतने लम्बे समय में फैली हुई कथावस्तु में अन्विति लाना किसी भी नाटककार के लिए कठिन है। अन्विति लाने के लिए भवभूति ने कोई गम्भीर प्रयत्न भी नहीं किए हैं।[3] यह सच है कि उत्तर रामचरित में स्थान और समय के संकलन नहीं हैं। पर यह भी सच है कि इन दो संकलनों के न रहने पर भी कार्य का संकलन उसमें कहीं भी बाधित नहीं होता। कथावस्तु में पर्याप्त अन्विति है और भवभूति ने इस अन्विति को लाने के लिए ही प्रचलित रामकथा में पर्याप्त परिवर्तन किए हैं। सारे नाटक में एक भी घटना ऐसी नहीं है जो व्यर्थ की हो और मुख्य कथावस्तु को आगे न बढ़ाती हो। इस सबसे हमारा यह अभिप्राय कदापि नहीं है कि उत्तर रामचरित में कार्य की त्वरा भी है। सम्वादों

१. कालिदास और भवभूति, पृष्ठ ११३।
२. मालतीमाधव, पृष्ठ ८८—९१, सी० आर० देवधर का संस्करण, १९३५।
3. The Sanskrit Drama, Page 194.

की भरमार, वर्णनात्मक छन्दों की अपेक्षाकृत अधिकता आदि के कारण कार्य की गति मन्द है। नाटक में नायक की ओर से फल की प्राप्ति के लिए कुछ भी प्रयत्न नहीं हुए हैं। राम सर्वथा निष्क्रिय हैं। यह गंगा की महिमा है कि दण्डकारण्य में सीता छाया रूप में विद्यमान हैं और वे अपने निर्वासन के सम्बन्ध में राम के सर्वथा निर्दोष होने का प्रमाण पा लेती हैं और फिर वाल्मीकि के नाट्यप्रदर्शन से राम को सीता की प्राप्ति हो जाती है। अन्यथा राम पश्चाताप के अतिरिक्त और करते क्या हैं? उन्होंने समूचे नाटक में दुःख को मूक, निश्चल और समर्पित भाव से झेला है। उनकी मान्यताएँ भले ही कुछ और हों लेकिन दुःख के सम्मुख यह समर्पित भाव और निष्क्रियता वहुत कुछ जैनेन्द्रकुमार के त्यागपत्र की मृणाल की तरह है। इसलिए इस प्रकार का कथन भी कि कवि के रूप में कालिदास भले ही श्रेष्ठ हों पर नाट्यकला की दृष्टि से उत्तर रामचरित में भवभूति कालिदास के समकक्ष हो गए हैं[1] अतिरंजित ही समझना चाहिए। वास्तविकता इन दो विरोधी मतों के मध्य ही है।

1. A New History of Sanskrit Literature, by Krishna Chaitanya Page 335.

कुँवरजी अग्रवाल

रंग-मंच : एक माध्यम

प्रत्येक कला अपने माध्यम की सीमाओं से बंधी रहती है। कला का रूप-निर्माण उसके माध्यम की आधारशिला पर ही होता है। माध्यम ही सौन्दर्य-सृष्टि का मूर्त आधार है और वही कलाकार की भावनाओं को आकार देता है। कला की उत्कृष्टता का एक प्रमुख प्रभाव उसके माध्यम की सम्भावनाओं का पूर्ण और सफल उपयोग है। किसी भी कला की प्रकृति को समझने के लिये उसके माध्यम की सीमाओं और शक्तियों से पूर्ण परिचय आवश्यक है। चित्रकला को समझने के लिए रंगों, रेखाओं और आकारों के ऐन्द्रिक और अभिव्यंजनात्मक प्रभाव को जानना आवश्यक है : संगीत के रसास्वादन के लिए ध्वनि की सम्भावनाओं से परिचय आवश्यक है ; और मूर्ति कला को परखने के लिए प्रस्तर मिट्टी, धातु आदि की सीमाओं और शक्तियों का ज्ञान आवश्यक है। प्रत्येक वर्ग का कलाकार अपनी सर्जनात्मक कल्पना की अभिव्यक्ति के लिये अपने माध्यम के साथ घनिष्ठता स्थापित करता है, उसमें डूबता है, उसका अन्वेषण करता है, और उसकी सम्भावनाओं के नये द्वार खोलता है। इस प्रकार वह अपने माध्यम के प्रति अत्यधिक संवेदनशील हो उठता है और उसमें पत्थर जैसे कठोर माध्यम के द्वारा भी कोमलतम भावनाओं की अभिव्यक्ति करने की क्षमता उत्पन्न हो जाती है।

नाटक भी सर्जनात्मक कला है। यहाँ नाटक से मेरा तात्पर्य केवल उसके छपे हुए शाब्दिक रूप से नहीं बल्कि उसके अभिनीत रूप से है। अतः इस कला की प्रकृति और विशेषताओं को समझने के लिए इसके माध्यम के स्वरूप और इसकी सीमाओं को समझना आवश्यक है। उपन्यास और महाकाव्य की भाँति नाटक को भी साहित्य की एक विधा के रूप में स्वीकार कर उसी परम्परा में उसका विवेचन होने के कारण नाटक और रंच-मंच के सम्बन्ध में बहुत-सी भ्रान्तियाँ उत्पन्न हो गई हैं और अक्सर नाटककार और नाट्य-प्रयोक्ता एक-दूसरे को ललकार उठते हैं। नाटककार कहता है कि मैं तो अपनी इच्छा के अनुसार ही नाटक का निर्माण करूँगा। यह प्रयोक्ता का काम है कि वह उसके अनुसार रंग-मंच की व्यवस्था करे। दूसरी ओर प्रयोक्ता कहता है कि नाटककार न केवल दृश्यपीठों आदि बल्कि उपलब्ध अभिनेताओं को भी ध्यान में रखते हुए नाटक की रचना करे अन्यथा अनभिनेय कहकर वह उसका तिरस्कार करेगा। नाटककार हैं कि अभिनयन के लिए अपनी रचना में एक भी शब्द का परिवर्तन बर्दाश्त नहीं कर सकते और प्रयोक्ता हैं कि रंग-मंचीय अनुकूलता के नाम पर पूरे नाटक को फिर से लिख डालने के लिए कमर कसे बैठे रहते हैं। अभिनेय

नाटकों का एक विलक्षण वर्गीकरण कर लिया गया है।

इन सबका एक बहुत बड़ा कारण यह है कि नाटक कला की उचित मीमांसा नहीं की गई और माध्यम के रूप में रंगमंच का विश्लेषण नहीं किया गया। लिखित नाटक अपने-आपमें स्वतंत्र कृति नहीं है। पर भ्रमवश अधिकांश नाटककार ऐसा ही समझ बैठे हैं। समझते हैं कि उनका काम नाटक लिखना है और प्रयोक्ता का यथा-संभव उनका हू-ब-हू चित्रण (Illustration) करना। किन्तु हेराल्ड क्लरमैन के मतानुसार रंगमंच पुस्तक पढ़ने का दीपक नहीं है। (Theatre is not a lamp by which a text may be read.) वे कहते हैं कि 'अनुकूल परिस्थितियों में नाटक सृजनात्मक कला है।'

किन्तु नाटक एक जटिल कला है। इसकी जटिलता ही इसके वास्तविक स्वरूप को समझने में बाधा डालती है। अन्य कलाओं में स्वयं कलाकार अपने माध्यम पर काम करता है और अपनी कल्पना को मूर्त स्वरूप प्रदान करता है। चित्रकार के मन में सृजनात्मक प्रेरणा के फलस्वरूप किसी बिम्ब का उदय हुआ और उसने तुरंत अपने माध्यम रंगों-रेखाओं और आकारों के रूप में उसकी अभिव्यक्ति कर डाली। वस्तुतः मानसिक प्रक्रिया तो यह होती है कि उसकी कल्पना का बिम्ब अपने माध्यम से संयुक्त होता है। माध्यम से स्वतंत्र उसकी कल्पना सामान्यतया जाती ही नहीं। किन्तु नाटक के साथ यह बात नहीं। नाटक में कई कलाओं का उपयोग होता है। किन्तु यह उनका समन्वय है, संग्रह नहीं। यह समन्वय उसे मौलिकता और स्वतंत्र कला की सत्ता प्रदान करता है। किन्तु साथ ही यही समन्वय उसके कलाकारों के सामने एक जटिल समस्या भी उत्पन्न कर देता है। नाटक के प्रत्येक कलाकार को दो-दो माध्यमों पर काम करना पड़ता है। एक ओर तो उसे अपनी विशिष्ट कला के माध्यम से आत्माभिव्यक्ति करनी होती है दूसरी ओर उसे नाटक की स्वतंत्र कला को समझकर उसके साथ अपनी कला का समन्वय करना होता है। नाटककार, अभिनेता संगीतज्ञ, नर्तक, दृश्य-सज्जाकार, रंगदीपक (लाइट्समैन) सबके साथ यही समस्या है। नाट्य-प्रयोगों की असफलता का एक बहुत बड़ा कारण यह भी है कि बहुत से कलाकार अपने इस दुहरे दायित्व को संभाल नहीं पाते। कितनी बार यह देखने में आता है कि प्रथम श्रेणी के संगीतकार भी रंगमंच पर असफल हो जाते हैं। दूसरे कलाकारों के साथ भी प्रायः ऐसी ही घटना देखने में आती है। ये कलाकार अपने माध्यम के तो विशेषज्ञ होते हैं किन्तु नाटक के माध्यम को ठीक से समझ नहीं पाते।

नाटक का माध्यम रंगमंच है। नाटककार को इसी रंगमंच के आधार पर अपने नाटक की रूपरेखा बनानी पड़ती है। उसकी चेतना में रंगमंच की सम्भावनाओं और शक्तियों का स्पष्ट रूप रहना आवश्यक है अन्यथा वह भाषा को ही अपना माध्यम समझकर प्रस्तुतीकरण की दृष्टि से शक्तिहीन रचना कर बैठेगा। रंगमंच की स्पष्ट परिकल्पना के अभाव में लिखे गये नाटक को रंगमंच पर प्रस्तुत करने का प्रयास वैसा ही है जैसे किसी गद्य खंड को सुमधुर लय में गाने का प्रयत्न करना।

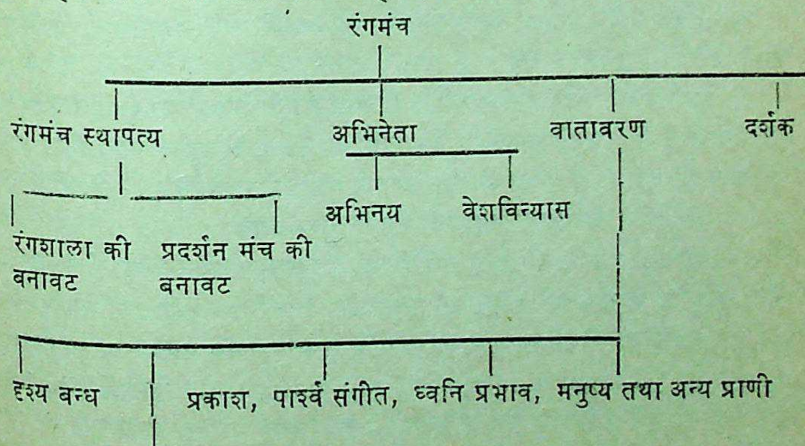
किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि रंगमंच नाटककार का निरंकुश नियन्ता है

और उसकी कल्पना-शक्ति को एक कठघरे में डाल देना चाहता है। वस्तुतः नाटककार नाट्य-कलाकारों की सर्वोच्च सत्ता है और नाटकीय अनुभूति का मूल सूत्र उसकी कल्पना की स्वच्छन्दता में ही निहित है। वह रंगमंच की परिकल्पना में परिवर्तन, परिवर्धन और विकास कर सकता है। विश्व-रंगमंच के इतिहास पर दृष्टि डालने से यह स्पष्ट हो जाता है कि रंगमंच के अद्यतन विकास में नाटककारों की नवनवोन्मेषशालिनी कल्पना का बहुत बड़ा हाथ रहा है।

फिर भी रंगमंच नाटककार का अनिवार्य साधन है वह उसकी तनिक भी उपेक्षा नहीं कर सकता। वास्तव में भ्रम का मुख्य कारण 'रंगमंच' के अर्थ के विषय में अस्पष्टता तथा भ्रामकता है। प्रायः रंगमंच का अर्थ बहुत संकीर्ण रूप में लगाया जाता है। इसका तात्पर्य केवल दृश्यबन्ध की किसी विशिष्ट शैली के रूप में लिया जाता है। इस अर्थ में रंगमंच निश्चय ही नाटककार के लिए अनिवार्य नहीं होना चाहिये अन्यथा वह सृजनशील कलाकार न रहकर मात्र कारीगर हो जायगा। अनिवार्य रूप में रंगमंच का अर्थ नाटककार के लिए वह शक्ति और तत्व है जिनके द्वारा नाटक मूर्त और जीवन्त रूप धारण करता है और जो रंगमंच की सभी शैलियों में निश्चित रूप से वर्तमान रहता है। इस अर्थ में रंगमंच नाटककार के लिए उतना ही आवश्यक है जितना चित्रकार के लिए रंग और रेखायें तथा शिल्पी के लिए त्रिआयात्मक सामग्री जैसे प्रस्तर, धातु या मिट्टी आदि।

माध्यम के रूप में रंगमंच का अर्थ अत्यन्त विस्तृत है। इसमें नाटक के प्रस्तुतीकरण से सम्बन्ध रखने वाले सभी तत्व सम्मिलित हैं—जैसे अभिनेता, वेशभूषा, दृश्यबन्ध; संगीत, प्रकाश, मंचस्थापत्य तथा दर्शक आदि।

नाटककार को इन सबकी शक्तियों से घनिष्ठ परिचय रखना पड़ता है। इन सभी तत्वों का सम्यक् विश्लेषण करने के लिए इनका वैज्ञानिक वर्गीकरण कर लेना आवश्यक है। रंगमंच की परिकल्पना को हम इस प्रकार उपस्थित कर सकते हैं:—



इन तत्वों में सर्वाधिक महत्व अभिनेता का है। जिस प्रकार नाट्य-रचना में

सर्वाधिक महत्व चरित्रों का होता है उसी प्रकार रंगमंच की प्रक्रिया में अभिनेता का। अभिनेता रंगमंच का प्राण है। नाटककार के लिए माध्यम के रूप में अभिनय की प्रकृति, शैलियों तथा तकनीकों को अच्छी तरह से समझना आवश्यक है क्योंकि उन्हीं के अनुसार उसे अपने चरित्रों की रूपरेखा तथा उनका विकास निर्धारित करना पड़ता है। किन्तु यह आवश्यक नहीं है कि वह सदैव अभिनेता की सुविधा का ध्यान रखते हुए परम्परित मार्ग पर ही चले। बर्नार्ड शा ने अपने नाट्य-रचना कौशल के सम्बन्ध में बतलाते हुए एक स्थान पर लिखा है : "अभिनेता के सम्बन्ध में मैं अधिक उदार रहा हूँ। उसे अपनी तकनीकी पद्धतियों का सफलतम उपयोग करने में सक्षम बनाने के लिए मैंने अपना समस्त कौशल-चातुर्य लगा दिया है। लेकिन कभी-कभी उसकी बुद्धि की कठोरतापूर्वक परीक्षा लेने में भी हिचकिचाया नहीं हूँ…"

नाट्य-रचयिता के लिए अपने माध्यम के रूप में अभिनय की प्रकृति और आवश्यकताओं को समझना सरल नहीं है। इसके लिए उसे वर्षों तक प्रतिभावान अभिनेताओं की कला को परखना और उसका विश्लेषण करना पड़ता है। स्वयं शा नाटक लिखने से पहले अभिनीत नाटकों के आलोचक का कार्य किया करते थे।

माध्यम के रूप में अभिनेता की एक मुख्य समस्या यह है : नाटक में व्यक्तियों के चरित्र को उनके जीवन की कुछ विशिष्ट घटनाओं के द्वारा ही व्यक्त किया जाता है। नाटककार उनके जीवन के कुछ टुकड़े उपस्थित करता है। अभिनेता को उन टुकड़ों के ही माध्यम से सम्पूर्ण चरित्र की अनुभूति और अभिव्यक्ति करनी पड़ती है। यह एक अत्यंत कठिन कार्य है। इसके लिए नाटककार को विशेष ध्यान रखना पड़ता है। उसे जीवन के उन टुकड़ों का चयन करते समय तार्किक और मनोवैज्ञानिक विकास-सरणि के साथ-साथ अभिनेता की क्षमता और आवश्यकताओं का भी ध्यान रखना आवश्यक है। यदि नाटककार अपने नायक को मनमाने और कृत्रिम ढंग से एक के बाद दूसरी परिस्थिति में डालता चलता है जिसे मनोवैज्ञानिक और तर्कसंगत रूप से न्यायोचित नहीं ठहराया जा सकता तो वह अभिनेता के सामने एक बड़ी समस्या खड़ी कर देता है।

अभिनय के लिए प्रत्येक चरित्र की रूपरेखा अत्यन्त स्पष्ट होनी चाहिए। सभी परिस्थितियों में उसकी मानसिक स्थितियों का चित्र बिल्कुल साफ होना चाहिए। विभिन्न चरित्रों के बीच का विरोध उभरा हुआ होना चाहिए। चरित्रों में निहित द्वन्द्व या संघर्ष का विकास शक्तिशाली ढंग से होना चाहिए।

अभिनेता अपने चरित्र के संवादों के प्रति अत्यन्त संवेदनशील होता है। अभिनेता की दृष्टि से संवाद के सबसे बड़े दुर्गुण उसकी निर्वैयक्तिकता तथा संवेगहीनता हैं।

अभिनेता और प्रभावपूर्ण अभिनय से सम्बन्ध रखने वाले अन्य महत्वपूर्ण तत्व हैं, संयोजन (Composition), गति (Movement) और क्रियायें (Business)। संयोजन का अर्थ है रंगमंच पर अभिनेताओं का अर्थपूर्ण और कलात्मक रूप से उपस्थित करना। रंगमंच पर अभिनेता इस ढंग से संघटित किये जायँ कि वे सब मिलकर चित्रात्मक सौन्दर्य की सृष्टि करें और साथ ही उससे नाटकीय अर्थ और उसके

संवेगात्मक प्रभाव में अभिवृद्धि हो। नाटक इस प्रकार के कलापूर्ण चित्रों का सतत प्रवाह है।

नाटक में एक संयोजन से दूसरे संयोजन के बीच की स्थिति को गति कहते हैं। इस स्थिति में एक या अनेक अभिनेता प्रवेश या प्रस्थान करते हैं या मंच पर अपना स्थान बदलते हैं। इस गति का भी सौन्दर्यात्मक और मनोवैज्ञानिक प्रभाव पड़ता है। यह दर्शकों के ध्यान परिचालन पर प्रत्यक्ष प्रभाव डालती है; इससे पात्रों के चरित्र पर प्रभाव पड़ता है; यह संवादों को प्रभावित करती है तथा इसी प्रकार के अन्य कई कार्य करती है। अतः अभिनयन में गति का महत्त्वपूर्ण स्थान है और इसका प्रयोग सोद्देश्य और सुनियोजित रूप से होना चाहिए।

रंगमंचीय कार्य व्यापार के अन्तर्गत अभिनेता की वे सब दृश्य-क्रियायें आती हैं जिन्हें वह अपने स्थान पर बना रहकर सम्पादित करता है। ये कार्य व्यापार कई उद्देश्यों से संकलित किये जाते हैं। कुछ का उद्देश्य चरित्र-चित्रण होता है, कुछ कथा को आगे बढ़ाते हैं, कुछ नाटक के किसी खंड पर जोर देने के लिए संकलित किये जाते हैं, और कुछ केवल वास्तविकता का भ्रम उत्पन्न करते हैं। नाटक में कार्य-व्यापार का बहुत बड़ा महत्त्वहै। इससे नाटक में सजीवता और स्वाभाविकता आती है। ऐसे नाटक बड़े निर्बल होते हैं जिनमें पात्र अपने-अपने संवादों को कहने के अलावा कठपुतली की तरह खड़े रहते हैं।

यद्यपि संयोजन, गति और क्रियाओं को प्रभावपूर्ण रूप से सृजित करने का उत्तरदायित्व निर्देशक पर है फिर भी यदि नाटककार इनके प्रति संवेदनशील रहता है तो इनके लिए अनुकूल पृष्ठभूमि तैयार कर सकता है। असावधान रहने पर वह अनेक कठिनाइयों का कारण भी बन सकता है।

अभिनय के सम्बन्ध में माध्यम के रूप में नाटककार के सामने सबसे बड़ी समस्या यह है कि चरित्र निर्माण में अभिनेता की शक्तियाँ तथा सीमाएँ क्या हैं और उसका अपना उत्तरदायित्व कितना है। किन प्रभावों का निर्माण उसे करना है और किनके लिए उसे अभिनेताओं पर निर्भर रहना है। इस प्रसंग में अठारहवीं शताब्दी के प्रसिद्ध फ्रान्सीसी विद्वान दिदरो का मत विचारोत्तेजक है। उसके मतानुसार नाटक के तात्विक भाग का सृजन नाटककार द्वारा न होकर अभिनेता द्वारा ही होता है। "रंगशाला में जो चीजें हमें वास्तव में प्रभावित करती हैं वे हैं—भाव-भंगिमाएँ, मुद्राएँ, अस्पष्ट चीत्कार, मुखमंडल की अभिव्यंजनाएँ, शारीरिक गतियाँ, तथा होठों से सहसा निकल पड़ने वाली एक-स्वरी ध्वनियाँ।" वह कहता है कि यह बात इतनी अधिक सत्य है कि वास्तव में नाटककार का काम केवल सिनेरियों लिखना भर रह जाता है; "उसे दृश्य, शब्द बल्कि विचारतत्त्व को भी अभिनेता पर छोड़ देना चाहिए, वह जैसे चाहे उन्हें घटाये, बढ़ाये अथवा बदले।"

माध्यम के रूप में रंगमंच का दूसरा महत्त्वपूर्ण पहलू वातावरण है। मनुष्य की क्रियाएँ नितान्त शून्य में नहीं सम्पन्न हो सकतीं। उसके लिए स्पष्ट स्थान या वातावरण की आवश्यकता पड़ती है। नाटक का निर्माण करते समय प्रत्येक नाटक-

कार को अपने चरित्रों और उनकी क्रियाओं के लिए विशिष्ट वातावरणों की योजना करनी पड़ती है। अतः उसके मन में इस बात की स्पष्ट धारणा होनी चाहिये कि वातावरण निर्माण के लिए रंगमंच की क्षमता कितनी है।

वातावरण निर्माण की रंगमंचीय क्षमता में निरन्तर परिवर्तन होता रहा है। इसके साथ ही वातावरण की धारणा में भी निरन्तर परिवर्तन होता रहा है। रंगमंच के इतिहास को सर्वाधिक मोड़ देने वाला तत्त्व यही वातावरण है।

वातावरण का निर्माण करने के लिए आधुनिक रंगमंच में मुख्यतया छः साधनों का प्रयोग किया जाता है। (१) दृश्य बन्ध (२) दृश्य सामग्री (३) मनुष्य तथा अन्य प्राणी (४) ध्वनियाँ (५) प्रकाश (६) और पार्श्व संगीत।

वातावरण के प्रयोग के उद्देश्य अनेक होते हैं। कहीं तो इसका उपयोग केवल पृष्ठभूमि के रूप में किया जाता है और कहीं यह अभिनय के लिए भौतिक आधार प्रस्तुत करता है। कभी तो वातावरण नाटक से व्यंजित भावों की अभिवृद्धि करता है और कभी चरित्रों और नाटक के मूल उद्देश्यों की व्याख्या। कभी वातावरण नाटकीय क्रिया का अनिवार्य अंग बनकर उसे आगे बढ़ाता है और कभी अभिनय के केन्द्रीकरण का काम देता है। नाटक की रचना करते समय लेखक के मन में इस बात की स्पष्ट धारणा होनी चाहिए कि वह वातावरण का उपयोग किन उद्देश्यों के लिए कर रहा है।

नाटक और रंगमंच में आधुनिकता का सूत्रपात वातावरण के महत्त्व की स्वीकृति के साथ-साथ हुआ। सन् १८७३ ई० में ही प्रकृतिवाद के महान उन्नायक एमिल ज़ोला ने घोषणा की थी कि आधुनिक नाटक को वातावरण और चरित्र के जीवन की दुहरी गहराइयों में प्रवेश करना पड़ेगा। इस घोषणा के साथ वातावरण की वैज्ञानिक धारणा का विकास हुआ और चरित्र को उसका परिणाम माना गया। नाटकों में वातावरण को एक ऐसे नियन्त्रक तत्त्व के रूप में उपस्थित किया जाने लगा जिसके साथ व्यक्ति समन्वय करता हो, या जिसका विरोध करता हो या जिसे बदल डालता हो। वातावरण को संघर्ष के स्रोत के रूप में उपस्थित किया गया और उसे प्रतिनायक का स्थान प्राप्त हुआ।

वातावरण की इस वैज्ञानिक धारणा ने रंगमंच पर यथार्थवाद को आमंत्रित किया और उस पर स्थान और परिस्थिति के सूक्ष्मतम विवरण उपस्थित किए जाने लगे। पूर्ण स्थानिकता की अभिव्यक्ति नाट्य प्रयोगों का चरम लक्ष्य बन गयी।

किन्तु वस्तुतः रंगमंच की सामग्री इस प्रकार के विवरणयुक्त यथार्थ के अनुकूल नहीं है। यह अत्यन्त व्ययसाध्य और अपरिवर्तनशील है तथा इससे नाटककार और नाट्य प्रयोक्ता की कल्पना अवांछनीय रूप से नियन्त्रित हो जाती है। रंगमंच के सौन्दर्य-शास्त्र की प्रकृति भी इस प्रकार के वाह्य यथार्थ के प्रतिकूल है।

यथार्थवाद की इन असफलताओं ने रंगमंच पर संकेतात्मक वातावरण निर्माण की पद्धतियों का विकास किया। प्रतीकवाद, अभिव्यंजनावाद, रूपवाद, निर्माणवाद और नाटकीयतावाद जैसी शैलियाँ रंगमंच पर अवतीर्ण हुईं। इन शैलियों ने रंगमंच

माध्यम की नयी-नयी शक्तियों का अन्वेषण किया और नाटक रचना को नया आयाम प्राप्त हुआ।

रंगमंच वातावरण निर्माण की मुख्य समस्या उसे परिवर्तनशीलता, नमनीयता तथा तरलता प्रदान करना है और इसीलिए आज इन गुणों से सम्पन्न वातावरण निर्माण के साधनों—प्रकाश, संगीत और अन्य ध्वनियों की शक्तियों का अन्वेषण और अधिकतम प्रयोग हो रहा है।

नाटक के रचना-तन्त्र पर सर्वाधिक स्पष्ट और प्रत्यक्ष प्रभाव रंचमंच की वातावरण-निर्माण शैली का पड़ता है। विश्व नाटक के इतिहास पर एक दृष्टि डालने से यह बात स्पर्ष्ट हो जायगी। पश्चिम के प्राचीन यूनानी, रोमन, मध्यकालीन, शेक्सपीयर कालीन और आधुनिक तथा पूर्व के प्राचीन भारतीय, चीनी और जापानी नाटकों में जो इतना अन्तर दीख पड़ता है उसका एक मुख्य कारण वातावरण सम्बन्धी इनकी विभिन्न धारणाएँ और प्रयोग हैं।

रंगमंच और रंगशाला के स्थापत्य का भी सम्बन्ध नाट्यरचना के साथ है इस सम्भावना पर अभी बहुत कम विचार किया गया है। किन्तु विभिन्न प्रकार के स्थापत्यों वाले रंगमंचों के लिए अलग-अलग प्रकार के नाटकों की आवश्यकता का अनुभव आज योरोप और अमेरिका में गम्भीरता से किया जा रहा है। इस तथ्य का महत्त्व उस समय सामने आया जब अन्य परिस्थितियाँ समान होने पर भी एक नाटक एक विशेष प्रकार के स्थापत्य से युक्त रंगमंच पर सफल और दूसरे पर असफल पाया गया। उदाहरण के लिए शेक्सपीयर के नाटक 'चबूतरे वाले रंगमंच पर जितने सफल हो सकते हैं चौखटे वाले रंगमंच पर उतने नहीं', किन्तु इबसन के नाटक चबूतरे वाले रंगमंच पर कभी सफलतापूर्वक खेले नहीं जा सकते। इसी प्रकार खुले रंगमंच की भी अपनी-अपनी विशेषताएँ हैं जिनका प्रभाव नाट्य-रचना पर पड़ता है। इस सम्बन्ध में भरत द्वारा वर्णित रंगशाला के रूपों जैसे विकृष्ट, चतुस्र तथा त्र्यस्र पर भी गम्भीर अनुसन्धान-कार्य की आवश्यकता है।

अपने महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'ललित-कला दर्शन' में हीगेल ने लिखा है : "कवि जनता के लिए, विशेष रूप से अपने राष्ट्र और अपने युग की जनता के लिए सृजन करता है। अतः कलाकृति ऐसी होनी चाहिए कि वे उसे बुद्धिमत्तापूर्वक समझ सकें और उसमें अपनापन अनुभव कर सकें।" उसका यह कथन सर्वाधिक नाटक पर लागू होता है। नाटक निश्चित रूप से दर्शकों के लिए लिखा जाता है। सामान्यतया सफल नाटक की दर्शक संख्या पाठक-संख्या से कई गुनी अधिक होती है और प्रत्येक दर्शक नाटक देखने का मूल्य पुस्तक के मूल्य से अधिक देता है। उस मूल्य के बदले दर्शक कोई भौतिक वस्तु नहीं पाता, पाता है केवल एक अनुभूति। अतः दर्शकों में अनुभूति की सृष्टि करना ही नाटककार का उद्देश्य है। किन्तु यही उद्देश्य उसके माध्यम का एक अनिवार्य अंग भी बन जाता है। माध्यम के रूप में दर्शकों की अपनी समस्याएँ, शक्तियाँ और सीमाएँ हैं। जो नाटककार की रचना-प्रक्रिया को अत्यधिक प्रभावित करती हैं। चित्रकार, या प्रगीतकार भले ही ग्राहकों की उपेक्षा करते हुए नितान्त

वैयक्तिक कृतियों का निर्माण कर दे, किन्तु यदि नाटककार यह प्रवृत्ति अपनाता है तो मानो वह उसी माध्यम को अस्वीकार करता है जिसमें वह काम करना चाहता है। अतः सफल नाट्य-रचना के लिए यह आवश्यक है कि नाटककार अपने माध्यम के इस तत्त्व का भी निश्लेषण करे।

इस सम्बन्ध में पहली आवश्यकता दर्शकों की अनुभूति प्रक्रिया का विश्लेषण है। नाटककार को इस बात का स्पष्ट ज्ञान होना चाहिए कि नाटक किस प्रकार दर्शकों के मन में उन प्रिय अनुभूतियों को जगा देता है जिनके लिए दर्शक अपनी गाढ़ी कमाई का अंश त्याग करने के लिए तैयार हो जाता है। इस अनुभूति प्रक्रिया का विश्लेषण संसार के अनेक कला एवं साहित्य-मनीषियों ने किया है और इस सम्बन्ध में अनेक धारणाएँ प्रस्तुत की गई हैं। रस और साधारणीकरण, विरेचन (कैथार्सिस) तदाकार परिणति (एम्पैथी) रसान्तर्य (ईस्थेटिक डिस्टेन्स) एवं तादात्मीकरण (आइडेण्टीफिकेशन) की धारणाएँ इस दिशा की महत्त्वपूर्ण उपलब्धियाँ हैं। हीगेल ने सामान्य मानवता के उस नित्य तत्त्व को जिसके प्रति दर्शक प्रतिक्रिया करता है और जो अनिवार्य रूप से नाटक में उपस्थित रहता है 'इच्छा' कहा है। सुश्री गैलावे ने दर्शकों की अनुभूति प्रक्रिया के क्रमिक चरणों का बड़ा सरल विवेचन प्रस्तुत किया है : दर्शकों के मन में सर्वप्रथम नाटक के किसी एक या अनेक चरित्रों के प्रति 'दिलचस्पी' पैदा होती है। फिर यह दिलचस्पी सहानुभूति में बदल जाती है, सम्भवतः उन क्षणों में जिनमें नायक किसी गहरी इच्छा या आवश्यकता की अभिव्यक्ति शक्तिशाली ढंग से कराता है। जब इस इच्छा की पूर्ति बाधित होती है तो रंग प्रक्रिया में एक तनाव आ जाता है जो क्रमशः बढ़ता जाता है। इसी बीच दर्शकों की व्यक्तिगत इक्छाओं का 'सब्लिमेशन' होता है अर्थात् अपने उद्देश्य को पाने की नायक की इच्छा में दर्शकों की इच्छाओं की परिणति और उसका केन्द्रीकरण होता है। इस प्रकार दर्शकों का नायक के साथ कम-से-कम उसकी इच्छा के साथ तादात्मीकरण हो जाता है और अन्त में जबकि नायक अपने उद्देश्यों को पाने में सफल या असफल होता है तो दर्शकों को 'क्लाइमेक्स' जनित सन्तोष की गहरी अनुभूति होती है। अनुभूति की इस प्रक्रिया के साथ आरम्भ 'प्रयत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति और फलगम' के रूप में भरत द्वारा प्रस्तुत कार्यावस्थाओं के विश्लेषण की तुलना महत्त्वपूर्ण है। निष्कर्ष के रूप में गैलावे ने दर्शकों के दृष्टिकोण से नाटक के तीन अनिवार्य तत्त्व बतलाए हैं। रंगस्थल में दर्शकों को अभिभूत कर देने वाली पहली वस्तु विचार नहीं है, उद्देश्यहीन क्रियाएँ नहीं हैं। संवेगों और भावों की उमड़न-घुमड़न मात्र भी नहीं है, वह है इच्छा, अपने व्यक्तित्व को प्रतिष्ठापित करने के लिए लिए व्यक्ति का प्रयत्न और इस प्रतिष्ठापन द्वारा अपने परिवेश (milieu) में अपने संगतिपूर्ण स्थान की प्राप्ति। दूसरी वस्तु, इसे करने के लिए वह जिन क्रियाओं को अपनाता है यह नाटकीय क्रिया है। तीसरी वस्तु जो कि नाटककार की उद्दिष्ट कृति है 'नाटकीय अनुभूति (क्लाइमेक्स) है। यह नाटकीय अनुभूति (क्लाइमेक्स) अभिनयन के मध्य भंग की गई संगति के रंगमंच पर पुनर्स्थापन द्वारा दर्शकों के मन में उत्पन्न सन्तोष की गहरी अनुभूति है।

दर्शकों से सम्बन्ध रखने वाली दूसरी समस्या सामूहिक आदर्शन की है। नाटक को दर्शकों का एक समूह देखता है। यह समूह एक नियत समय के लिए एक समान उद्देश्य को लेकर संघटित होता है। अत: दर्शकों की प्रतिक्रिया व्यक्तिगत न होकर सामूहिक रूप से होती है। व्यक्तिगत की अपेक्षा समूह के सदस्य के रूप में दर्शकों की मनःस्थिति बहुत अलग हो जाती है। समूह के सदस्य के रूप में व्यक्ति अपेक्षाकृत बौद्धिक कम और संवेगात्मक अधिक हो उठता है। दर्शक समूह की ग्रहणशीलता, उत्सुकता, सहनशीलता और निर्देश ग्रहण करने की क्षमता बहुत बढ़ जाती है। उसके सदस्यों का सामान्यीकरण भी होता है अर्थात् दर्शकों की व्यक्तिगत विभिन्नताओं की मात्रा कम और समानताओं की मात्रा अधिक हो जाती है। समाज द्वारा मान्य स्थापनाओं का दबाव बढ़ जाता है। ऐसी स्थिति में दर्शक उन तत्त्वों का विरोध कर सकता है जिन्हें व्यक्तिशः वह पसन्द करता है। किन्तु साथ ही व्यक्ति जब किसी समूह का अंग बनता है तब उसकी व्यक्तिगत सत्ता का अधिकांश लुप्त हो जाता है। उसके अवचेतन में यह धारणा बन जाती है कि कोई उसे अकेला नहीं देख सकता। फलस्वरूप समूह की प्रतिक्रियाएँ अधिक तीव्र हो उठती हैं। समूह में व्यक्ति की सामाजिक गुमनामी का नतीजा यह होता है कि समूह यदि किसी प्रतिबन्धित (tabooed) क्रिया में संलग्न होता है तो फिर होता चला जाता है, बिना किसी हिचकिचाहट या भय के सामूहिक आदर्शन की प्रक्रिया का नाटक की रचना पर काफी प्रभाव पड़ता है। जो नाटककार इस तत्त्व की उपेक्षा करता है वह यह नहीं समझ पाता कि कभी-कभी पढ़ने पर बहुत अच्छा लगने वाला नाटक भी दर्शकों के बीच इतना असफल क्यों हो जाता है। सामूहिक आदर्शन की समस्याओं पर, सामाजिक मनोविज्ञान के क्षेत्र में बहुत से अनुसन्धान किये गए हैं।

दर्शकों से सम्बन्ध रखने वाली तीसरी समस्या युग-रुचि की है। जैसा कि पहले संकेत किया जा चुका है, नाटक का निर्माण मुख्य रूप से देश और युग-विशेष की जनता के लिए किया जाता है। यह जनता दर्शकों के रूप में उसी नाटक के लिए प्रत्यक्ष मूल्य देना चाहती है जो उसकी रुचियों और माँगों को सन्तुष्ट कर सके और चूँकि सामान्यतया नाटक अभिनीत करने में काफी लम्बी रकम खर्च होती है तथा इसीलिए इसने व्यवसाय का रूप ग्रहण कर लिया है; पूंजी लगाने वाला स्वाभाविक ही ज्यादा-से-ज्यादा मुनाफा वसूल करना चाहता है। फलतः नाटककार के ऊपर इन माँगों का गहरा दबाव पड़ता है और उसे कुछ निश्चित फार्मूलों के अनुसार रचना करने के लिए विवश होना पड़ता है। फार्मूलों का यह जाल इतना जटिल और कुटिल होता है कि साधारणतया अच्छे-अच्छे नाटककारों की प्रतिभा भी उसी में उलझकर रह जाती है। यही कारण है कि साहित्य की अन्य विधाओं की अपेक्षा नाटक के क्षेत्र में संसार भर में महान प्रतिभाओं की बड़ी कमी रही है। किन्तु शेक्सपियर जैसा विलक्षण प्रतिभाशील नाटककार तो इन फार्मूलों को भी अपनी प्रतिभा के स्पर्श से महान कला के रूप में परिणत कर देता है। आज हिन्दी में व्यावसायिक रंगमंच के विकास की बड़ी चिन्ता की जा रही है किन्तु इस बात पर गम्भीरता से विचार करना

होगा कि क्या इससे हमारे रंगमंच का अपेक्षित स्वस्थ विकास हो सकेगा। पारसी रंगमंच और वर्तमान हिन्दी फिल्मों की गवाही हमारे सामने है।

रंगमंच के विभिन्न तत्त्वों की विशेषताओं का संक्षिप्त विश्लेषण अलग-अलग कर लेने के बाद यह देखना भी आवश्यक है कि अपने समग्र रूप में इस माध्यम की मूल प्रकृति क्या है। नाटक की ही भाँति रंग प्रक्रिया का भी मूलाधार 'द्वन्द्व' है। किन्तु यह द्वन्द्व कथातत्त्व प्रसूत न होकर सौन्दर्यशास्त्रीय है। यह द्वन्द्व लोक-धर्मिता या भ्रमवाद (illusionism) और नाट्य-धर्मिता या नाटकीयतावाद (Theatricalism) का है, यथार्थ (Reality) और शैलीकरण (Stylisation) का है। रंग प्रक्रिया में एक ओर तो यथार्थ लाने का, वास्तविकता का भ्रम पैदा करने का प्रयत्न किया जाता है। दर्शक यह बिलकुल भूल जायँ कि वे रंगशाला में बैठे हुए हैं और कोई नाटक देख रहे हैं। जैसा कि प्रकृतिवादियों ने कहा है नाटक-नाटक न होकर 'जीवन का एक टुकड़ा' (a slice of life) हो। दूसरी ओर रंगमंच दर्शकों के मन में यह विश्वास पैदा करना चाहता है यह उसे धोखा देना नहीं चाहता, कि जीवन जीवन है और रंगमंच रंगमंच, कि फिर भी रंगमंच अपनी क्षमताओं का उपयोग करके जीवन की झलक देना चाहता है, जिससे दर्शकों के मन में वांछित संवेग और विचार उत्पन्न हो जायें। रंगमंच चाहता है कि दर्शक संवेगों की अनुभूति करने के साथ ही कलाकारों के अस्तित्व की भी अनुभूति करते रहें कि लेखक, निर्देशक, अभिनेता, दृश्यकार, संगीतज्ञ आदि उसके समक्ष अपनी प्रतिभा और कौशल क्षमताओं की अभिव्यक्ति कर रहे हैं और अपना अभिशंसन (appreciation) चाहते हैं।

भ्रमवाद और नाटकीयतावाद का यह द्वन्द्व रंगमंच की प्रक्रिया में सदा से रहा है। यह नाट्यरूढ़ियों से बोझिल १८वीं शताब्दी तक की रंगमंचीय परम्परा में भी रहा है और १९वीं शताब्दी में ह्यूगो, ज़ोला, अन्तोइन और स्तानिस्लावस्की द्वारा विकसित चतुर्थ दीवाल की धारणा से युक्त प्रकृतिवादी यथार्थवादी परम्परा में भी रहा है। क्रेग, अप्पिया, मायरहोल्ड, बख्तानगाव, पिस्केटर तथा ब्रेख्ट आदि द्वारा विकसित प्रतीकवादी, अभिव्यंजनावादी, निर्माणवादी आदि अनेक शैलियों में भी यही द्वन्द्व प्रतिफलित हो रहा है। वस्तुतः सत्य तो यह है कि रंगमंच कभी इस द्वन्द्व से मुक्त नहीं हो सकता। उसे मुक्त करना वांछनीय भी नहीं है, हालांकि प्रकृतिवादी आन्दोलन के पीछे यही प्रकृति काम कर रही थी। दूसरे छोर पर क्रेग भी कुछ ऐसा ही करना चाहता था। किन्तु रंगमंच चाहे जितना प्रकृतिवादी हो जाय उससे नाटकीयता का निष्कासन पूर्ण रूप से कभी नहीं किया जा सकता, क्योंकि चाहे जितने सूक्ष्म रूप में ही क्यों न हो उसमें कुछ-न-कुछ नाट्यरूढ़ियाँ ज़रूर मौजूद रह जायँगी। उसी प्रकार नाटक से यथार्थवाद का भी पूर्ण बहिष्कार नहीं किया जा सकता, क्योंकि अन्य सभी तत्त्वों को चाहे जितना भी कृत्रिम क्यों न कर दिया जाय अभिनेता के त्रिआयात्मक शरीर और उनकी मानवीय वाणी को कृत्रिम नहीं बनाया जा सकता। सम्भवतः यही कारण था कि क्रेग रंगमंच पर अभिनेताओं के रूप में मनुष्यों के बदले पुतलियों को प्रतिष्ठापित करना चाहता था।

रंगमंच की इस द्वैधता का एक मनोवैज्ञानिक कारण भी है। दर्शक रंगशाला में दुहरी चेतना लेकर जाता है। एक ओर तो वह नाटकीय अनुभूति के प्रति अपने-आप को समर्पित करना चाहता है किन्तु दूसरी ओर वह उसमें पूर्ण निमग्नता से बचना भी चाहता है। वह अपने को कुछ दूरी पर रखना चाहता है जिससे उसकी आलोचनात्मक शक्ति, भौतिक सुरक्षा और आत्मसम्मान की भावना नष्ट न हो जाय। इसीलिए जहाँ वह क्षण-भर के लिए अभिनेता में वास्तविक जीवन की क्रियाओं में संलग्न वास्तविक व्यक्ति का भ्रम करके तुष्टि पाता है वहीं उसे इस अनुभूति से भी कलात्मक आनन्द प्राप्त होता है कि मंच पर कुछ अभिनेता उसके समक्ष अपने अभिनय कौशल का प्रदर्शन कर रहे हैं। रंगशाला में अनुभूति की प्रक्रिया की तुलना करघे की ढरकी (शटल) से की गई है जो वास्तविकता और नाटकीयता के ताने-बाने के बीच निरन्तर आगे-पीछे घूमती रहती है।

रंग-प्रक्रिया में इस द्वैधता को स्वीकार कर लेने के पश्चात् इसके कलाकारों के समक्ष सृजन करते समय इनके सफल समन्वय की समस्या खड़ी होती है—ऐसा समन्वय जिससे दोनों बिना एक-दूसरे को शक्तिहीन या अस्तव्यस्त किये नाटकीय अनुभूति की पूर्णता और प्रगाढ़ता में योग दे सकें। नाट्य-लेखन और अभिनयन में जब इस सफल समन्वय की उपलब्धि होती है तभी ऐसी रंग अनुभूति का जन्म होता है जिसमें सर्वाधिक नाटकीयता तब प्राप्त होती है जब सर्वाधिक वास्तविकता हो और सर्वाधिक वास्तविकता तब प्राप्त होती है जब सर्वाधिक नाटकीयता हो। सोफोक्लीज़, शेक्सपियर, इबसन, स्ट्रिन्डबर्ग, शा और चेखव-जैसे महान नाटककारों की कृतियाँ इस समन्वय की सफल उदाहरण हैं।

इस द्वैधता के फलस्वरूप रंग-प्रक्रिया में एक और नियम क्रियाशील हो उठता है। यह परिवर्तन का नियम है। कभी-कभी जिन साधनों द्वारा अत्यन्त यथार्थवादी या प्रकृतिवादी प्रभाव उत्पन्न करने की चेष्टा की जाती है वे प्रतीकात्मक या प्रहसनात्मक के रूप में अपने से विपरीत प्रभाव उत्पन्न करने लग जाते हैं। इसी प्रकार प्रतीकात्मक और अयथार्थवादी प्रभाव बदलकर यथार्थ या प्रकृतिवादी प्रभाव उत्पन्न करने लग जाते हैं। वस्तुतः रंगप्रक्रिया में आत्यान्तिक प्रभावों की प्रवृत्ति अपने विरोधी प्रभावों के रूप में बदल जाने की होती है। अमेरिका के रंगमंच के केन्द्र ब्राडवे में एल्मर ब्वाइस का नाटक 'स्ट्रीट सीन' खेला गया। इसमें एक दृश्य गन्दी बस्ती के एक ऐसे मकान का था जिसकी कोठरियों को किराये पर दिया जाता था। इस दृश्य को रंगमंच पर यथार्थ और सूक्ष्म विवरणों से युक्त करके प्रकृतिवादी ढंग से उपस्थित किया गया। किन्तु आदर्शन प्रक्रिया में उसका प्रभाव बदल गया। जान गेसनर ने इस परिवर्तन की प्रक्रिया का विश्लेषण इस प्रकार किया है। (१) दृश्यबन्ध पर पहली दृष्टि पड़ने पर हम यह अनुभव करते हैं कि कैनवस और चौखटों की सहायता से इस कृत्रिम दृश्यबन्ध का निर्माण हुआ है जिसका उद्देश्य भूरे पत्थर से बने हुए किराये के मकान का भ्रम उत्पन्न करना है। (२) इसका पहला प्रभाव यह पड़ता है कि क्षण-भर के लिए इसमें मकान का प्रकृतिवादी भ्रम उत्पन्न होता है, गन्दे तथ्य

की रूखी समानता का। (३) किन्तु फिर पुनः हम इस दृश्यात्मक निर्माण की अनुभूति वास्तविक तथ्य के रूप में करने की अपेक्षा उसे प्रतीक और नाटकीय कौशल के रूप में समझने लग जाते हैं। गोरेलिक ने इसे इस प्रकार प्रस्तुत किया है—"यद्यपि प्रथम दृष्टिपात में 'स्ट्रीट सीन' का दृश्यपीठ बेलास्को की शैली का प्रतीक होता है, पर तुरंत ही यह बात स्पष्ट हो जाती है कि मकान का यह प्रतिरूप एक रंगमंचीय रूढ़ि है जिसका उद्देश्य नाटक को नवीन और आकर्षक रूप से उपस्थित करना है। जितनी ही अधिक देर तक दृश्यबन्ध रंगमंच पर रहता है उतना ही कम दर्शक उसमें वास्तविकता के भ्रम की अनुभूति करते हैं। (इस नाटक में यह शुरू से अन्त तक रहता है।) दर्शक इसे मात्र रंगमंचीय कौशल के रूप में देखते और स्वीकार करते हैं।)"

नाटककार की कल्पना में रंगमंच का एक-न-एक स्वरूप अवश्य विद्यमान रहता है। उन नाटककारों की कल्पना में भी जिनके नाटक बिलकुल अनभिनेय और मात्र पाठ्य (closet) करार दे दिये जाते हैं, रंगमंच का एक रूप रहता ही है जिसके लिए उन्होंने नाटक की रचना की होती है। कुछ नाटककारों की कल्पना में रंगमंच के उन मूलभूत तत्वों का प्रत्यय रहता है जिसके अनुसार रचना करने के कारण उनके नाटक युग-युग के लिए अनेक रंगमंचीय शैलियों में अभिनेय बन जाते हैं। कुछ नाटककार युग-विशेष और रंगमंच की शैली-विशेष से इतनी अधिक कठोरता के साथ बँधे रहते हैं कि अन्य युगों के लिए उनके नाटक नितान्त अनभिनेय बन जाते हैं। कुछ ऐसे नाटककारों की रचनाएँ भी अनभिनेय मानी जाने लगती हैं जिनकी रंगमंचीय कल्पना परम्परा से विच्छिन्न, मौलिक और नितान्त वैयक्तिक होती हैं। लेकिन ऐसे नाटककार भी काफ़ी बड़ी संख्या में होते हैं जिनकी रंगमंचीय कल्पना अस्पष्ट, अधूरी, अविकसित और ग़लत होती है। किसी नाटक को अभिनेयता अथवा अनभिनेयता का फतवा देने के पहले इस तथ्य पर भलीभाँति विचार कर लेना चाहिये और इस बात का स्पष्ट उल्लेख कर देना चाहिए कि यदि कोई नाटक अभिनेय अथवा अनभिनेय है तो किस दृष्टिकोण से ? इसके लिए रंगमंच के इतिहास और उसकी विविध शैलियों से भी घनिष्ट परिचय आवश्यक है। हिन्दी आलोचना के क्षेत्र में अभिनेयता और अनभिनेयता का जो विवाद खड़ा किया गया है वह मनमाना, आधार-रहित और अवैज्ञानिक है। एक ही नाटक को कोई अभिनेय कहता है कोई अनभिनेय और कोई तो उसे नाटक मानने को ही तैयार नहीं है। प्रायः नाटक की भाषा, गीतों के प्रयोग, नाटक की लम्बाई, अंकों, दृश्यों, तथा पात्रों की संख्या आदि के आधार पर ही अभिनेयता का निर्णय किया जाता है जबकि रंगमंचीय प्रक्रिया के साथ इनका सम्बन्ध नगण्य है।

रंगमंचीय प्रत्यय के विकास में वैयक्तिक भेद के मूलकारण, रंगमंच के प्रति नाटककार की संवेदनशीलता, रंगमंचीय वातावरण, और रंग-विश्लेषण की सुविधाएं हैं। कुछ नाटककार रंगमंच के प्रति बहुत संवेदनशील होते हैं। उसके मूलतत्वों और उसकी बारीकियों को वे स्वाभाविक और प्रायः अवचेतन से आत्मसात कर लेते हैं। कुछ लोगों में यह संवेदनशीलता अल्पमात्रा में होती है। रंगमंचीय संवेदनशीलता विकासशील है। इसका विकास रंगमंचीय वातावरण और रंग-विश्लेषण की सुविधाओं

के ऊपर निर्भर करता है। रंगमंचीय कल्पना के विकास में रंगमंचीय वातावरण का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। जिन नाटककारों को विभिन्न प्रकार से बहुत-से नाटक अनेक शैलियों के रंगमंच पर अभिनीत देखने का, रंगमंचीय प्रक्रिया में क्रियात्मक सहयोग देने का, तथा अपने ही नाटकों को विभिन्न शैलियों में और विभिन्न संस्थानों द्वारा अभिनीत देखने का अवसर मिलता है उनकी कल्पना उन नाटककारों की अपेक्षा अधिक सम्पन्न हो सकती है जिनको पुराने और समकालीन नाटकों को पढ़कर ही उनके अनुकरण पर लिखना पड़ता है। किन्तु रंगमंचीय वातावरण से सही और पूरा लाभ उठाने के लिए रंग-विश्लेषण बहुत आवश्यक है। रंग-विश्लेषण में रंगमंच के उन विभिन्न पहलुओं, तकनीकों और सौन्दर्यशास्त्र का अध्ययन वैज्ञानिक ढंग से किया जाता है जिनका प्रभाव प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्षरूप से नाट्य-रचना पर पड़ता है। वस्तुतः रंग-विश्लेषण माध्यम-अन्वेषण है। हिन्दी नाटककारों को रंगमंचीय वातावरण और रंग-विश्लेषण की सुविधा नहीं के बराबर प्राप्त हुई और इसीलिए उनकी रंग-मंचीय संवेदनशीलता का अपेक्षित स्वाभाविक विकास न हो सका। फिर भी हिन्दी-नाटककारों के लिए यह गौरव की बात है कि इस प्रकार की प्रतिकूल परिस्थितियों में भी कुछ ऐसे नाटकों की रचना हो सकी जो रंगमंचीय कल्पना की समृद्धि से परिपूर्ण हैं।

इस निबन्ध में माध्यम के रूप में रंगमंच का जो स्वरूप सामने रखा गया है वह नाटक में अभिनेयता लाने का कोई 'प्रेसक्रिप्शन' नहीं हैं। यह रंग प्रक्रिया का विवरणयुक्त पूर्ण चित्र भी नहीं है। इस निबन्ध का उद्देश्य उन आयामों की ओर संकेत-भर करना है जिन्हें दृष्टि-पथ में रखने से रंग-विश्लेषण में सुविधा हो सकती है और जिनके सहारे रंग-चेतना का विकास किया जा सकता है।

डॉ० गोपाल राय

साहित्य-सर्जन और पाठक वर्ग की रुचि का पारस्परिक सम्बन्ध

साहित्य के इतिहास की विभिन्न धाराओं और प्रवृत्तियों के विकास तथा उनमें परिलक्ष्य परिवर्तनों या मोड़ों को समझने, साथ ही, उनके कारणों के अनुसन्धान तथा परिशंसन के लिए साहित्यिक इतिहासकारों ने अनेक पद्धतियों का आविष्कार और उपयोग किया है, पर दुर्भाग्यवश इतिहास लेखकों की दृष्टि मुख्यतः लेखक और उसकी कृति पर ही केन्द्रित रह जाने के कारण साहित्यिक विकास की समुचित व्याख्या नहीं हो पाती। प्रायः लेखक और उसकी रचना पर पड़ने वाले सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, धार्मिक आदि परिवर्तनों का प्रभाव दिखाकर साहित्य का इतिहास लिखने वाले मोटा-मोटी रूप में, साहित्यिक धाराओं और प्रवृत्तियों को समझने का प्रयास करते हैं। यही कारण है कि अतीत और वर्तमान साहित्य में घटित होने वाले अनेक परिवर्तन आज भी असामाधेय बने हुए हैं। हिन्दी-साहित्य के इतिहास में आदि काल, भक्तिकाल, रीतिकाल और आधुनिक काल के आविर्भाव के कारणों की सम्यक् व्याख्या न हो पाने का कारण यह एकांगी दृष्टिकोण ही है। वस्तुतः साहित्यिक इतिहास की विभिन्न धाराओं और प्रवृत्तियों की समुचित व्याख्या के लिए लेखकों और उनकी रचनाओं के साथ-साथ उनके पाठकों की रुचियों पर भी विचार करना आवश्यक है।

ध्यानपूर्वक विचार किया जाए तो साहित्य-निर्माण एक द्विकूलीय सृजन-प्रक्रिया है जिसके एक छोर पर लेखक और दूसरे छोर पर उसका पाठक विद्यमान रहता है। जिस प्रकार नदी के दो छोर अलग-अलग होते हुए भी धारा के द्वारा परस्पर सम्बद्ध होते हैं उसी प्रकार लेखक और पाठक एक-दूसरे से अपरिचित होते हुए भी पुस्तक के माध्यम से एक सम्बन्धसूत्र में गुथ जाते हैं। जिस प्रकार नदी की धारा उसके दोनों कूलों द्वारा नियंत्रित होती है, उसी प्रकार साहित्यिक कृति भी लेखक और पाठक दोनों की रुचियों द्वारा नियंत्रित होती है। विचारणीय प्रश्न यह है कि साहित्यरचना और पाठकों की रुचि में परस्पर सम्बन्ध किस प्रकार का और किस सीमा तक होता है। पुस्तकरचना में लेखक की रुचि और प्रतिभा प्रत्यक्षतः सक्रिय होती है, यह तो एक स्पष्ट तथ्य है, पर पाठकों की रुचियाँ भी अन्तर्धाराओं के रूप में ग्रन्थ रचना को न्यूनाधिक, पर निश्चित रूप में, प्रभावित करती हैं। संस्कृत, हिन्दी और अंग्रेजी साहित्य के इतिहास से—विश्वसाहित्य की बात मैं अपनी सीमाओं को ध्यान में रखकर नहीं कर रहा हूँ—इस कथन के प्रमाण में अनेक उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं।

वस्तुतः साहित्य का कोई भी इतिहास पाठकों और लेखकों पर युगपत रूप से विचार किये बिना पूर्ण और निर्दोष नहीं हो सकता। यह दावा करना कि यदि साहित्य के पाठक नहीं होते तो लेखकों का अस्तित्व भी नहीं होता, सिद्ध तथ्यों की सीमा से बाहर जाना नहीं है। रचनात्मक साहित्य के निर्माण के लिए पाठक समूह का होना अनिवार्य है। साहित्य की रचना शून्य में नहीं की जा सकती। महान जर्मन कवि और नाटककार गेटे ने एक स्थान पर लिखा है—

"तुम न होते यदि हमारी पुस्तकों के सुहृद् पाठक
तो भला मैं कहाँ होता।
भावनाएँ सभी मेरी स्वगत भाषणमात्र होतीं
और मेरे हर्ष मौनालाप होते"।[1]

यद्यपि अनेक लोगों के लिए यह कल्पना करना कठिन प्रतीत होता है कि हमारे साहित्य के महान स्रष्टा किसी भी परिस्थिति में अपनी आत्मा की अभिव्यक्ति करने में असफल होते, पर साहित्य का इतिहास बार-बार हमारे समक्ष ऐसे उदाहरण प्रस्तुत करता है, जिनसे उक्त स्थापना की पुष्टि होती है। यह निश्चित है कि बहुत-सी पुस्तकें ऐसी होती हैं जिनका प्रणयन, यदि पाठकों का एक समूह उन्हें ग्रहण करने के लिए प्रतीक्षा न करता होता, नहीं हुआ होता। यहाँ तक कि महान् लेखकों की कृतियाँ भी उन पाठकों की भावनाओं और विचारों से, जिनके हाथों से उनके गुज़रने की सम्भावना रहती है, प्रभावित हुई हैं तथा कभी-कभी उनके द्वारा उनका रूप निश्चित हुआ है। डॉ० जानसन ने तो, शायद चिढ़कर, यहाँ तक लिख दिया है कि 'किसी कुन्द मस्तिष्क (ब्लॉक हेड) व्यक्ति के अतिरिक्त अन्य किसी ने भी कभी धन के अतिरिक्त अन्य कारण से नहीं लिखा होगा, और पाठकों के बिना धन की प्राप्ति नहीं हो सकती"।[2] स्पष्टवक्ता डॉ० जान्सन ने यह बात इस सिद्धान्त के विरोध में कही थी कि 'लेखन एक दिव्य आह्वान का परिणाम है।' डॉ० जॉन्सन ने यदि भारतीय साहित्य का, विशेषकर तुलसी, कबीर जैसे भक्तों द्वारा रचित साहित्य और उनके जीवन का, अध्ययन किया होता तो शायद उन्हें अपने कथन की उग्रता कम करने को बाध्य होना पड़ा होता। पर डॉ० जॉन्सन की यह धारणा काफ़ी दूर तक सही है कि साहित्य पर उसके पाठकों की रुचि का प्रभाव पड़ता है। शेक्सपीयर के, जो संसार के प्रथम पंक्ति के लेखकों में परिगणनीय है, साहित्य से इस कथन की पुष्टि होती है। शेक्सपीयर ने अर्ल आफ़ साउदम्टन को 'अपनी 'रेप ऑफ़ लूक्रिस' नामक पुस्तक समर्पित करते हुए लिखा था, "मैंने जो भी किया है वह आपका है, मुझे जो भी करना है, वह आपका है।"[3] इसे देखते हुए यह कहना दुस्साहस होगा कि शेक्सपीयर अपने आश्रयदाता और सामन्तीय समाज की रुचियों द्वारा निर्देशित नहीं हुआ होगा। शेक्सपीयर की रचनाओं के प्रथम सम्पादकों जॉन हेमिंगे (John Heminge) और हेनरी कोण्डेल

---

१. दि सोशिऑलॉजी ऑफ़ लिटरेरी टेस्ट, पृ० ३९ से उद्धृत।
२. दि इंगलिशमैन एण्ड-हिज बुक्स, इन्ट्रोडक्शन।
३. दि सोशियालॉजी ऑफ़ लिटरेरी टेस्ट, द्वितीय परिच्छेद।

(Henrie Condell) ने अपनी प्रस्तावना में नाना प्रकार के पाठकों को सम्बोधित करते हुए लिखा था। "सभी पुस्तकों का भाग्य आपकी क्षमता पर निर्भर करता है, न केवल आपके मस्तिष्क की क्षमता पर, वरन् आपके बटुए की क्षमता पर भी। अब यह प्रकाशित हो गई। आप अपने विशेषाधिकार के लिए खड़े होंगे, यह हम लोग जानते हैं; पढ़ना या निन्दा करना। आप ऐसा करें, किन्तु पहले इसे खरीदें।" शेक्स-पीयर यदि अपनी कृतियों के प्रथम सम्पादित संग्रह को देखने के लिए जीवित होते, तो वे भी अपने सम्पादकों से कदाचित् पूर्णतः सहमत होते। क्योंकि उनके नाटकों में ऐसे बहुत से संकेत विद्यमान हैं जिनसे सिद्ध होता है कि वे लिखते समय अपने युग के पाठकों का—या प्रेक्षकों का ध्यान रखते थे।[1]

पाठकों की रुचि का प्रभाव साहित्य पर प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से अवश्य पड़ता है और इसे बहुत से लेखकों ने स्वीकार भी किया है। शेक्सपीयर के समसामयिक चर्चयार्ड ने एक समर्पण में चिड़चिड़ाहटभरी स्पष्टता से लिखा है कि उसका आदर्श मछली है—वह धारा के साथ तैरता है।[2] आधुनिक काल का लेखक इस बात को स्वीकार करने को कतई तैयार नहीं हो सकता, पर व्यवहार में यह काफ़ी दूर तक सत्य है। आर्नल्ड बेनेट ने लिखा था, "सत्य यह है कि एक कलाकार जो पाठकों से अपनी शर्त पर, और केवल अपनी शर्त पर प्रशंसा की माँग करता है, वह या तो देवता है अथवा एक अभिमानी और अव्यावहारिक मूर्ख, और उसके पूर्वोक्त से अधिक उत्तरोक्त ही होने की सम्भावना है। वह आवश्यकता से अधिक चाहता है। प्रत्येक सौदे के, जिसमें कलात्मक सौदा भी सम्मिलित है, दो पक्ष होते हैं। अत्यन्त उर्वर और शक्तिशाली कलाकार इस तथ्य को मानने के लिए प्रस्तुत रहते हैं, क्योंकि उनका अनुपात ज्ञान सुविकसित होता है। अनुपात के ज्ञान का अभाव अहं-प्रदर्शन-प्रिय व्यक्ति का लक्षण है। विवेक-सम्पन्न कलाकार अपने सम्मान की रक्षा करते हुए, जनसमूह की भाव-नाओं और विचारों का भी सम्मान करता है। एक ही साथ दोनों बातें बिलकुल सम्भव हैं।"[3] आर्नल्ड बेनेट ने शेक्सपीयर और सेमुएल रिचार्डसन का उल्लेख वैसे महान् कलाकारों के रूप में किया है, जो जनता की रुचियों द्वारा निर्देशित हुए थे। इस प्रसंग में हम बायरन को नहीं भूल सकते, जिसने अपनी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के पूर्ण प्रदर्शन के बावजूद, अपने पाठकों को हमेशा ध्यान में रखा।

परम्परागत साहित्येतिहास विभिन्न युगों में विभिन्न प्रकार के साहित्यों और उनके लेखकों की लोकप्रियता के कारणों को तत्कालीन पाठकवर्ग की रुचियों में ढूंढ़ने का प्रयत्न नहीं करता। वह इस प्रश्न पर ध्यान नहीं देता कि क्यों शिलर-जैसे महान् आलोचक ने फील्डिंग-जैसे उपन्यासकार की गणना महत्तम श्रेण्य लेखकों में की; क्यों बायरन की वर्णनात्मक कविता, जो आज बिलकुल लोकप्रिय नहीं, प्रकाशन के दिन ही हज़ारों की संख्या में बिक जाती थी; क्यों गेटे के समय में ज्याँ पॉल इतना लोकप्रिय

१. दि इंगलिशमैन एण्ड हिज बुक्स; पृ० ९।
२. सोशियालॉजी ऑफ़ लिटरेरी टेस्ट, पृ९ ३६।
३. उपरिवत्।

था कि यदि उसका एक केशगुच्छ किसी को प्राप्त हो जाता था, तो वह अपने को भाग्यवान् समझता था[1]; क्यों एक समय सर्वत्र रीति-कालीन कविताओं की धूम थी, जबकि आज वैसी कविताएँ बिलकुल ही पसन्द नहीं की जातीं; क्यों देवकीनंदन खत्री की चन्द्रकन्ता के फरमें जब छपते होते थे तो प्रेस के दरवाजे पर पाठकों की भीड़ जमा रहती थी और पाठकों को सन्तुष्ट करने के बाद ही उनका प्रूफ देखना सम्भव हो पाता था।[2] कुछ लोग कभी-कभी, इन लेखकों की कला को ही दोषपूर्ण सिद्ध करके, कि अपने आद्य मनोविज्ञान तथा आनुभूतिक गहराई की कमी के कारण अब लोकप्रिय नहीं रह गये हैं, इस प्रश्न को संक्षेपतः टाल देने के प्रयत्न करते हैं, पर यदि प्राचीन-साहत्य के पाठकों को आज का साहित्य दिखाया जाना सम्भव होता, तो वे कदाचित् इसे विकसित मानने को तैयार नहीं होते। वे अपने समकालीन लेखकों की कृतियों के दुर्बल स्थलों का समर्थन न भी करते फिर भी वे अपनी समकालिक कृतियों के उन स्थलों की तरफ हमारा ध्यान अवश्य आकृष्ट करना चाहते जो उनके लिए आज की समस्त कृतियों से अधिक मूल्यवान् मालूम पड़ते। संक्षेपतः वे हेतु जो साहित्यिक परिशंसन में प्राचीनतर पीढ़ी को वर्तमान पीढ़ी से भिन्न करते हैं, मुख्यतः पाठकों की रुचि पर आधारित होते हैं।

यह बात केवल साधारण कृतियों पर ही नहीं, वरन् जिन्हें हम श्रेण्य रचनाएँ कहते हैं, उन पर भी समान रूप से लागू है। कोई भी श्रेण्य कृति विवाद से बिलकुल परे रही हो, ऐसा दावा नहीं किया जा सकता। जिस कालिदास को किसी ने कभी 'पुराकवीनांगणनाप्रसंगे कनिष्ठिकाधिष्ठित कालिदासः' कहा उसी कालिदास को किसी दूसरे ने केवल उपमा का धनी, भारवि को अर्थगौरव का स्वामी, दण्डी को पदलालित्य में पटु और माघ को तीनों गुणों से युक्त बताया। कारण जो भी रहा हो, 'रामचरित मानस' की काशी के समकालीन पण्डितों द्वारा उपेक्षा और विरोध एक स्वीकृत तथ्य है। बिलकुल हाल की घटना लें, तो छायावाद के प्रति उसके समकालीनों का विरोध-भाव कितना उग्र था? प्रेमचन्द के कुछ उपन्यासों की कुछ आलोचकों ने ऐसी निन्दा की थी, जिसकी आज कल्पना भी नहीं की जा सकती। गेटे-जैसे महान् लेखक की लोकप्रियता भी सदा समान नहीं बनी रही। शेक्सपियर जिसकी गणना विश्व के मूर्धन्य लेखकों में होती है, शताब्दियों तक अनादृत रहा। एलिज़ाबेथ-कालीन जनता—सामान्य जनता, साहित्यिक नहीं—शेक्सपियर की महत्ता से निश्चय ही अवगत थी, पर यह स्पष्ट है कि वह शेक्सपियर की कला की प्रशंसा आज की अपेक्षा सर्वथा भिन्न कारणों से करती थी। चित्रकला के क्षेत्र से उदाहरण चुना जाए तो चित्रकार ब्लेशेन (Blechen) की बेट्टिंड फान आर्निन्त्स कृत प्रशंसात्मक आलोचना पढ़कर कोई भी चकित हुए बिना नहीं रह सकता, कि आज का आलोचक जिन गुणों के लिए उपर्युक्त चित्रकार को महान् मानता है, उनकी चर्चा वहाँ गौण रूप में ही हुई है।[3] चेस्टर-

१. सोशियालाजी ऑफ लिटरेरी टेस्ट, प्रथम परिच्छेद।
२. गिरीश चन्द्र त्रिपाठी।
३. सोशिआलॉजी ऑफ लिटरेरी टेस्ट, प्रथम परिच्छेद।

फिल्ड-जैसे परिष्कृत रुचिसम्पन्न व्यक्ति के एक पुत्र ने उनसे पूछा कि क्या वह रेम्ब्रान्ट के कुछ चित्र सस्ते मूल्य पर खरीद ले, तो उन्होंने उत्तर दिया—"नहीं यह समझदारी का काम नहीं होगा, क्योंकि उसने व्यंग चित्रों के अतिरिक्त अन्य कुछ चित्रित नहीं किया है"—और आज रेम्ब्रान्ट विश्व का एक श्रेष्ठ चित्रकार माना जाता है।[१] इन उदाहरणों से यह प्रमाणित होता है कि किसी विशेष काल में किसी विशेष रुचि का प्रभुत्व रहता है। ललित कलाओं की, विशेषकर चित्रकला की, बदलती हुई शैलियों में यह तथ्य अत्यन्त सरल रूप में दीख पड़ता है, पर साहित्यिक शैलियों के परिवर्तन में भी, कम स्पष्ट होने के बावजूद, रुचि का महत्त्वपूर्ण स्थान होता है।

पाश्चात्य साहित्य के इतिहास में लेखकों पर उनके पाठकों या श्रोताओं की रुचि के प्रभाव के कुछ बड़े ही मनोरंजक उदाहरण प्राप्त होते हैं। कवियों की रचनाओं में आश्रयदाता प्रत्यक्ष रूप से अपने सुझावों द्वारा कोई परिवर्तन कराते हों, इसके उदाहरण प्राचीन संस्कृत या हिन्दी साहित्य में उपलब्ध नहीं होते—कम-से-कम मुझे कोई ऐसा उदाहरण नहीं मिला है—पर यूरोपीय साहित्य में ऐसे प्रत्यक्ष हस्तक्षेपों के अनेक प्रमाण प्राप्त होते हैं। उदाहरणार्थ अलेक्जांडर पोप अठारहवीं शताब्दि में इंगलैण्ड का एक मूर्धन्य कवि माना जाता था। पोप ने जब अपनी प्रमुख कृति, होमर का अनुवाद, प्रस्तुत किया तो उसे उन्होंने सर्वप्रथम अपने आश्रयदाता लार्ड हेलिफॉक्स को सुनाया। सेमुअल जॉन्सन का कहना है कि लार्ड महाशय बीच-बीच में पोप को टोकते थे और अपने सुझाव देते थे। यूरोप में शताब्दियों तक कलाकार बिना किसी आपत्ति के इस प्रकार के हस्तक्षेप सहते रहे। चॉसर का प्रसिद्ध शिष्य लिडगेट अपने आश्रयदाता ड्यूक हम्फ्रे ऑफ ग्लोसेस्टर द्वारा अपनी पाण्डुलिपि के शुद्ध किये जाने को सर्वथा स्वाभाविक मानता था। स्पेंसर के सम्बन्ध में भी, जो शेक्सपियर का समकालीन था, ऐसी ही बात कही जाती है।[२] फ्रान्स में तो अठारहवीं शताब्दि तक ऐसी स्थिति विद्यमान थी। वोल्तेर एक विशेष वर्ग का लेखक था। उसने अपना 'इदिपू' नामक ग्रंथ डचेस ऑफ़ मेन को सुनाया और उस वर्ग में की गई आलोचना तथा उनकी सलाह को ध्यान से सुना।[3] इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि प्राक् आधुनिक युग के यूरोपीय साहित्य पर तत्कालीन पाठकों का, जो अक्सर लेखक के आश्रयदाता भी होते थे, कितना प्रबल और प्रत्यक्ष प्रभाव था। स्पेंसर ने अपनी महत्तम कृति 'दि फेयरी क्वीन' के सम्बन्ध में लिखा है कि इसका उद्देश्य एक सज्जन या अभिजात वर्गीय व्यक्ति को सद्गुण और सभ्य अनुशासन की शिक्षा देना है।[४]

अंग्रेज़ी साहित्य पर अभिजात वर्ग की रुचि और सामाजिक शक्ति का प्रभाव अठारहवीं शताब्दी तक दिखाई पड़ता है। उसके बाद ही वहाँ बड़े पैमाने पर वास्तविक पाठक वर्ग का विकास हुआ और इसका प्रभाव वहाँ के साहित्य पर दिखाई

१. सोशिआलॉजी आफ लिटरेरी टेस्ट (७) प्रथम परिच्छेद।
२. अरिवत् पृ० २२।
३. सोशियालाजी आफ़ लिटरेरी टेस्ट, पृ० २२।
४. उपरिवत्।

पड़ता है। इंगलैंड के साहित्यिक इतिहास का विवेचन करते हुए विद्वानों ने अठारहवीं शताब्दी के अंग्रेज़ी साहित्य में घटित परिवर्तनों का, जिनके कारण इस काल का साहित्य तत्कालीन साहित्यिक परम्परा से अलग और विशिष्ट जान पड़ता है, श्रेय उस काल के पाठक समुदाय में होनेवाले परिवर्तनों को दिया है।[1] लेस्ली स्टीफेन ने बहुत पहले 'इंगलिस लिटरेचर एण्ड सोसाइटी इन दि एटीन्थ सेंचुरी' नामक ग्रंथ में लिखा था कि पाठक-वर्ग की क्रमिक अभिवृद्धि ने तत्कालीन साहित्य के विकास को प्रभावित किया।[2] उन्होंने उपन्यास और पत्रकारिता के विकास का मुख्य कारण तत्कालीन पाठक-वर्ग में हुए परिवर्तन को ही बताया है।

यद्यपि पाठक वर्ग की रुचि के आलोक में संस्कृत और प्राचीन हिन्दी साहित्य का सांगोपांग अध्ययन अद्यावधि नहीं हुआ है, पर संस्कृत और हिन्दी साहित्येतिहासों के अवलोकन से साहित्य का पाठकों की रुचि द्वारा प्रभावित होना एक सिद्ध तथ्य के रूप में दिखाई पड़ता है है। संस्कृत साहित्य में जहाँ एक ओर वाल्मीकि, भास, अश्वघोष, कालिदास और भवभूति जैसे महान् कवि और नाटककार अपनी मार्मिक कृतियों के साथ विराजमान हैं वहाँ दूसरी तरफ़ इस साहित्य में चित्रकाव्य और प्रहेलिकाओं की भी, भरमार दिखाई पड़ती है। दण्डी, माघ, भारवि और हर्ष जैसे रससिद्ध कवियों तक ने प्रहेलिका जैसी निरर्थक वस्तु, जिसमें बौद्धिक व्यायाम के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता, लिखने में आसमान ज़मीन के कुलावे मिलाये हैं। केवल चित्रकाव्य और प्रहेलिकाओं की रचना सिखाने के लिए संस्कृत में अनेक ग्रन्थ लिखे गये हैं। जिस चित्रकाव्य और प्रहेलिका को काव्यशास्त्रियों ने अधम काव्य की संज्ञा दी, उसका प्रचलन एक विशेष युग में क्यों दिखाई पड़ता है, इसका सम्यक् उत्तर तब तक नहीं दिया जा सकता, जब तक, हम इस बात पर विचार न कर लें कि इस काव्य का श्रोता या रसिक कौन था। आचार्य हज़ारीप्रसाद द्विवेदी ने 'साहित्य का मर्म' शीर्षक व्याख्यान में इस समस्या की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करते हुए कहा था कि "जब तक हम यह नहीं जानते कि सन् ईस्वी के आरम्भ से लेकर सैकड़ों वर्ष बाद तक कवियों के सम्मान के लिए सरस्वती भवन, कामदेवायतन में विदग्ध गोष्ठियाँ बैठा करती थीं, उनमें अक्षरच्युतक, बिन्दुमती, समस्यापूर्ति आदि में सम्मानित होने वाले व्यक्ति को राजा लोग पद से सम्मानित ही नहीं करते थे, कभी-कभी उन्हें रथ में बिठाकर स्वयं खींचकर सम्मान भी दिया करते थे, तब तक इन बेकार सी बातों के लिए कवियों का प्रयत्न पागलपन-सा लगेगा।"[3]

इस बात के अनेक प्रमाण मिलते हैं कि प्राचीन काल में राजदरबारों में कवि सम्मानित होते थे। राजशेखर ने राजदरवार का जो वर्णन किया है उसमें संस्कृत प्राकृत, अपभ्रंश और पैशाची इन चारों भाषाओं के कवियों का उल्लेख आया है। राजसभा के सात अंग माने जाते थे, जिनमें कवि भी एक होता था—

१. राइज आफ़ नोवेल. पृ० ३५।
२. इंग्लिश लिटरेचर एण्ड सोसाइटी, पृ० २६।
३. साहित्य का मर्म, पृ०

विद्वांसः कवयो भट्टा गायकाः परिहासकाः
इतिहासपुराणज्ञः सभा सप्तांग संयुता ।

ये कवि राजदरबारों में ही अर्थ और यश प्राप्त करने में समर्थ होते थे ।

राजसभा में कवि को अपनी कविता सुनाकर यश और अर्थ प्राप्त करना होता था । स्पष्ट है कि उस समय के कवि को अपने आश्रयदाता और उसके दरबारियों की रुचि का पूरा-पूरा ध्यान रखना पड़ता होगा । राजदरबार में छोटी-छोटी मुक्तक कविताओं की ही, जिनमें विषय की दृष्टि से प्रशस्ति और शृङ्गार तथा कला की दृष्टि से उक्तिचमत्कार की प्रधानता होती, पूछ हो सकती थी । डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में "राज-सभाओं और गोष्ठी-विहारों में जो काव्य कीर्तिशाली बना सकते थे वे चमत्कारिक उक्तियों वाली रचनाएँ ही होती थीं ।"[१] रुद्रट ने स्पष्टतः मात्राच्युतक, विन्दुमती और प्रहेलिका आदि को क्रीड़ामात्र के लिए उपयोगी[२] तथा दण्डी ने प्रहेलिका को क्रीड़ागोष्ठी विनोद का साधन[३] माना है । जिन दिनों राजदरबार कविता का एकमात्र आश्रयस्थल था, उन दिनों डा० द्विवेदी के अनुसार, नागरिक लोग विन्दुमती और अक्षरच्युतक आदि प्रहेलिकाओं से मनोविनोद किया करते थे ।[४] उस काल के ग्रन्थों में राजसभाओं के जो वर्णन उपलब्ध होते हैं, उनसे स्पष्ट है कि दरबारों में उक्ति वैचित्र्य या कौशल-विशेष को ही सम्मान प्राप्त होता था । बाणभट्ट कृत 'कादम्बरी' में राजसभा का जो वर्णन मिलता है उससे तत्कालीन राजसभाओं के सभ्यों की रुचि का अनुमान लगाया जा सकता है । इस वर्णन के अनुसार जब राजा सभा में उपस्थित नहीं थे, तब सामन्तों में से कुछ लोग पासा खेलने के लिए कोठे खींच रहे थे, कुछ लोग पासा फेंक रहे थे, कोई वीणा बजा रहा था, कुछ लोग चित्र-फलकों पर राजा की प्रतिमूर्ति आँक रहे थे, कुछ लोग काव्यालाप में मस्त थे, कुछ हँसी-दिल्लगी में मशगूल थे, कुछ लोग विन्दुमती नामक मनोविनोद में उलझे हुए थे, कुछ लोग प्रहेलिका नामक काव्य प्रकार का रस ले रहे थे, कुछ लोग राजा द्वारा निर्मित श्लोकों की चर्चा कर रहे थे, कुछ लोग जो अधिक ढीठ थे, वे राजदरबार के मनोविनोद के लिए आई हुई स्त्रियों से रसालाप में लगे हुए थे और कुछ चतुर लोग वन्दीजनों से राजा के पूर्वपुरुषों का यशोगान सुन रहे थे ।[५] इस वर्णन से तत्कालीन राजपुरुषों की रुचि का पता चलता है । ये राजपुरुष काव्य को मनोविनोद का, क्रीड़ा का एक साधन समझते थे और कविगण भी उनकी रुचि के अनुरूप, विन्दुमती, प्रहेलिका, चित्र आदि काव्यरूपों के प्रणयन में प्रवृत्त होते थे । अक्सर राजदरबारों में कवियों की परीक्षा भी हुआ करती थी । जो कवि चमत्कार-प्रधान उक्तियों की रचना में विजयी

१. साहित्य का मर्म, पृ० ८ ।
२. मात्राविन्दुच्युतके प्रहेलिकाकारक क्रियागूढ़े
प्रश्नोत्तरादि चान्यत् क्रीड़ामात्रो पयोगमिदम् ।
३. क्रीड़ागोष्ठी विनोदेषु तज्ज्ञराकीर्ण मन्त्रणे ।
परकामोहने चापि सोनयोगाः प्रहेलिका ।
४. साहित्य का मर्म, पृ० ११ ।
५. साहित्य का मर्म, पृ० ११ ।

होता था उसे सम्मान और यश की प्राप्ति होती थी। डॉ० हज़ारीप्रसाद द्विवेदी ने अपनी उक्त व्याख्यान-पुस्तिका में सोमेश्वर और हरिहर तथा हरिहर और मदन नामक कवियों की काव्य-प्रतियोगिताओं का मनोरंजक वर्णन किया है। ऐसी प्रतियोगिताओं में सफलता प्राप्त करने के लिए काव्य का चमत्कारप्रधान होना आवश्यक था। यही कारण है कि न केवल उत्तरकालीन संस्कृत काव्यों में वरन् तत्कालीन लक्षणग्रन्थों में भी उक्तिवैचित्र्य और वचनभंगिमा को इतना महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ था।

राजाओं और सामन्तों की रुचियों का प्रभाव केवल चित्र, प्रहेलिका और बिन्दुमती जैसे काव्यरूपों तथा वचनभंगिमा और उक्तिवैचित्र्यप्रधान काव्यों पर ही दिखाई देता हो, ऐसी बात नहीं है। कालिदास, भास, भवभूति, माघ, भारवि, श्रीहर्ष आदि महान् कवि भी अपने आश्रयदाताओं तथा अभिजाति वर्ग की रुचि से प्रभावित दीख पड़ते हैं। क्या कारण है कि संस्कृत साहित्य में नायक-नायिका राजपरिवार, श्रेष्ठिवर्ग और सामन्तीय समाज से ही चुने जाते हैं? समस्त संस्कृत-साहित्य से ढूँढ़कर भी, शायद ही, कोई ऐसा काव्य निकाला जा सके जिसका नायक निम्नवर्गीय या साधारण व्यक्ति हो। वस्तुतः साहित्य जिसके लिए लिखा जाता है, वही उसका नायक होता है। राजाओं, सामन्तों और सेठों के आश्रय में जीवननिर्वाह करने वाला कवि या लेखक, उन्हें छोड़कर, किसी निम्नवर्गीय या सामान्य स्तरीय व्यक्ति को अपने काव्य का नायक बनाने का साहस ही नहीं कर सकता। यदि कवि की सहानुभूति निम्नवर्ग के साथ होती थी तो वह, अधिक-से-अधिक, गौण पात्रों के रूप में निम्न-वर्गीय पात्रों की सृष्टि करता था; पर वह कहीं भी इस बात का आभास तक न होने देता था कि उसकी सहानुभूति राजा की अपेक्षा प्रजा के प्रति, अभिजात वर्ग की अपेक्षा अन्त्यजवर्ग के प्रति, अधिक है। आश्रयदाता की रुचि अपने वर्ग की भावनाओं और विशेषताओं का चित्रण करने वाली कहानी में ही हो सकती थी, और कवि अपने आश्रयदाता के रुच्यनुरूप वैसी ही कथा का निर्माण करता था, जिसके नायक-नायिका अभिजातवर्गीय होते थे। संस्कृत साहित्य में कहीं भी सामाजिक विद्रोह की भावना का चित्रण नहीं मिलता। संस्कृत के कवि सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और धार्मिक व्यवस्था को ज्यों-का-त्यों मानकर काव्य रचना में प्रवृत्त होते हैं। इसका कारण क्या है? इस प्रश्न का उत्तर संस्कृत साहित्य के आलोचकों ने आज तक सम्यक् रूप से देने का प्रयास नहीं किया है, और यह तब तक सम्भव नहीं है, जब तक इस साहित्य के लक्ष्मीभूत श्रोता को सामने रखकर विचार न किया जाए।

निवेदन किया जा चुका है कि संस्कृत साहित्य का श्रोता और कवियों का आश्रयदाता सामन्तीय और अभिजात समाज था। सामन्तीय और अभिजात समाज में परम्परा का महत्त्व अधिक होता है, क्योंकि इसकी सारी सत्ता उत्तराधिकार पर आधारित होती है। यह वर्ग समाज में कोई परिवर्तन नहीं चाहता। संस्कृत साहित्य के रचना-काल में राजा ईश्वर का अवतार माना जाता था। भारतवर्ष की जनता इस सिद्धान्त में विश्वास करती थी कि प्रत्येक मनुष्य को अपने कर्मों का फल अवश्य भोगना पड़ता है। जन्म-जन्मान्तर तक मनुष्य को अपने कर्मफल से छुटकारा नहीं

मिल पाता। संसार में यदि वैभवशाली और समृद्ध व्यक्ति हैं तो यह समृद्धि और वैभव उनके पूर्व जन्म के पुण्यों का फल है। धनी या निर्धन होना, अच्छे या बुरे कुल में जन्म लेना पूर्वजन्म के सुकृत या दुष्कृत का परिणाम है। ऐसी स्थिति में सामाजिक विद्रोह की भावना के लिए कहाँ स्थान है? निश्चय ही यह धारणा सामन्तों के हितों के सर्वथा अनुरूप थी और कवियों तथा पुरोहितों ने साहित्य तथा धर्मग्रन्थों में इसका समर्थन और प्रचार किया। इस प्रकार संस्कृत साहित्य में विद्रोही स्वर का जो अभाव पाया जाता है उसका कारण तत्कालीन काव्यरसिकों की, जो राजसमाज या अभिजात वर्ग के होते थे, रुचि ही है।

हिन्दी साहित्य का इतिहास इस तथ्य की पुष्टि करता है कि साहित्य रचना में पाठकों या श्रोताओं की रुचि का महत्त्वपूर्ण योग होता है। समस्त प्राचीन हिन्दी साहित्य को, श्रोतृवर्ग को ध्यान में रखते हुए, हम दो धाराओं में बाँट सकते हैं। एक धारा के कवि राजदरबारों और सामन्तीय समाज से सम्बद्ध थे, जबकि दूसरी धारा के कवियों का सम्बन्ध सामान्य जनता से था। प्राचीन हिन्दी साहित्य की ये दोनों धाराएँ एक-दूसरी से सर्वथा विशिष्ट हैं, तथा समानान्तर रूप से प्रवाहित होती हैं। हिन्दी साहित्य के इतिहास की सम्यक् व्याख्या के लिए अभी तक यह दृष्टिकोण नहीं अपनाया गया है। यही कारण है कि हमारे साहित्येतिहास की अनेक गुत्थियाँ और उलझनें अब तक असमाधेय बनी हुई हैं। अब तक प्राचीन हिन्दी साहित्य को 'वीरगाथा काल' (आदिकाल), 'भक्तिकाल' और 'रीतिकाल' जैसे युगों में बाँटकर समझने की परिपाटी हिन्दी साहित्येतहासकारों में प्रचलित है। किसी शोधकर्ता ने भी पाठकों या श्रोताओं की रुचि के आलोक में इस साहित्य को जाँचने-परखने का प्रयत्न नहीं किया है। प्रस्तुत प्रसंग में हिन्दी के प्राचीन साहित्य का विश्लेषण, संक्षेपतः, इसके श्रोताओं की रुचि के प्रकाश में करने का प्रयत्न किया जा रहा है।

हिन्दी साहित्य के आदिकाल से लेकर रीतिकाल के अन्त तक वैसे कवियों की एक सुदीर्घ परम्परा है, जिन्हें राजाओं और सामन्तों का आश्रय प्राप्त था। इन कवियों द्वारा रचित काव्य का मूल स्वर उन कवियों की कविता से सर्वथा भिन्न है, जो सन्त और भक्त थे तथा जिनका राजदरबारों से कोई सम्बन्ध न था। यद्यपि आदिकाल के चारण कवियों का प्रामाणिक इतिवृत्त उपलब्ध नहीं है, पर किंवदन्तियों और परम्परा से ज्ञात होता है कि चन्दबरदायी, दलपति विजय, नरपतिनाल्ह, जगनिक भट्ट, केदार मधुकर तथा विद्यापति आदि कवियों को राजाश्रय प्राप्त था। भक्तिकाल के अधिकांश कवि सन्त और भक्ति थे, पर इस काल में दरबारी कवियों का अभाव न था। अकबर के दरबार में नरहरि, गंग, ब्रह्म, रहीम, तानसेन आदि कवि रहते थे तथा अन्य अनेक कवि अकबर द्वारा सम्मानित होते थे। इस काल के प्रसिद्ध कवि केशवदास ओरछा-नरेश इन्द्रजीतसिंह की सभा के शृङ्गार थे और जिस काल को साहित्येतिहास लेखक रीतिकाल की संज्ञा देते हैं उसके कवियों की तो मुख्य क्रीड़ाभूमि राजाओं और सामंतों का दरबार थी ही। रीतिकाल के वे सभी कवि, जिनके कारण इस काल का यह नाम पड़ा है, किसी-न-किसी रूप में, राजदरबारों से प्रत्यक्षतः सम्बद्ध थे। बिहारी, रस-

निधि, चिन्तामणि, कुलपति मिश्र, देव, श्रीपति, सोमनाथ, भिखारीदास, प्रतापसाहि, ग्वाल, वेनी, बन्दीजन, पद्माकर, बेनी प्रवीन, मतिराम, भूषण, बोधा आदि सभी प्रसिद्ध रीतिकालीन कवि तथा इस काल के दूसरे गौण कवि भी, विभिन्न राजाओं और सामन्तों के आश्रित थे।

आदिकाल से लेकर रीतिकाल तक के समस्त राजाश्रित कवियों की रचनाओं पर उनके आश्रयदाताओं की रुचियों का प्रत्यक्ष प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। इन कवियों द्वारा रचित अधिकांश कविताएँ उनके आश्रयदाताओं की भावनाओं द्वारा निर्देशित हैं। रीति-कवियों ने अपने आश्रयदाताओं की रुचियों के साथ अपने व्यक्तित्व को इतना एकमेक कर लिया है कि देखकर चकित रह जाना पड़ता है। विषयवस्तु की दृष्टि से विचार किया जाए तो इन कवियों ने मुख्यतः प्रशस्तियाँ, शृंगार, काव्य और नीति के पद ही लिखे हैं। थोड़ी-बहुत भक्ति भाव की कविताएँ भी इन कवियों ने लिखी हैं, पर विशुद्ध और निर्मल भक्तिभावना से युक्त कविताएँ अत्यल्प ही हैं। केवल ऐसी ही कविताओं पर आश्रयदाताओं की रुचि का प्रभाव कदाचित् नहीं है—यह भी दृढ़ता के साथ नहीं कहा जा सकता, क्योंकि भक्ति का इतना अंश तो राजाओं और सामन्तों में रहता ही था—अन्यथा इनके द्वारा रचित अन्य सभी प्रकार के काव्य इनके आश्रयदाताओं की रुचियों से प्रभावित हैं।

ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी के राजपूत राजाओं के—जिनके आश्रय में हिन्दी के आदिकालीन चारण कवियों के रहने की अनुश्रुति है—जीवन में दो ही बातों की, युद्ध और भोग-विलास की, प्रधानता होती थी। वे या तो रणांगण में अपने शत्रुओं से वीरतापूर्वक लोहा लेते थे या अन्तःपुर में अनेकानेक सुन्दरियों के साथ भोग-विलास में रत रहते थे। इन राजपूत राजाओं के आश्रित हिन्दी कवि भी, समयानुसार, कभी तो अपनी वीररसपूर्ण ओजस्विनी कविताओं से रणक्षेत्र में अपने आश्रयदाताओं का उत्साहवर्धन करते थे और कभी राजदरबार में शृंगारिक कविताओं के द्वारा राजा के तथा उसके दरबार में उपस्थित सामन्तों का मनोरंजन किया करते थे। ये कवि अपने आश्रयदाताओं की, अतिशयोक्तिपूर्ण शैली में झूठ-सच प्रशंसा करना भी अपना कर्तव्य समझते थे। इन कवियों ने—रीतिकालीन दरबारी कवियों के विषय में यह कथन और भी यथार्थ है—अपने आश्रयदाताओं की वीरता और दानशीलता का ऐसा अमर्यादित और मिथ्या वर्णन किया है, जो न केवल चापलूसी की, वरन् अपरिष्कृत रुचि की, यहाँ तक कि बुद्धि की सीमा का भी अतिक्रमण कर जाता है। अपने चरित-नायकों की शक्ति और वैभव का चित्र खींचते समय इन कवियों के सामने केवल दृश्यमान जगत् ही नहीं रहता, वरन् वे मानवेतर और देवलोक में भी विचरण करने लगते हैं। उदाहरणार्थ, उनके आश्रयदाता की इच्छा पर प्रकृति की सभी शक्तियाँ नाचती दीख पड़ती हैं। सूर्य और चन्द्र इनकी इच्छा पर अपनी यात्रा तय करते हैं। सारा प्राकृतिक और दैवी जगत् उनकी आज्ञा का वशीभूत होता है, स्वयं भाग्य उनकी इच्छा का अनुवर्ती होता है। इन कवियों के आश्रयदाता जब अपनी सेनाओं के साथ युद्ध के लिए प्रस्थान करते हैं, तो पृथ्वी को धारण करने वाले कच्छप, दिग्पाल और

शेषनाग व्याकुल हो जाते हैं। प्रशस्ति काव्य की यह परम्परा आदिकाल से लेकर रीतिकाल तक अबाध गति से प्रवाहित होती रही है। दरबारी कवियों में कदाचित् कोई भी ऐसा कवि नहीं होगा, जिसने प्रशस्ति काव्य न लिखा हो। अपने आश्रयदाताओं की प्रशस्ति लिखकर ये कवि बड़ी सरलता से अर्थोपार्जन कर लेते थे।

प्रशस्ति काव्य के साथ-साथ शृंगाररस की कविताएँ भी आदिकालीन दरबारी कवियों ने लिखीं। युद्धक्षेत्र से लौटे तथा भोग-विलास में रत आश्रयदाता को प्रसन्न करने के लिए शृंगारिक उक्तियाँ ही अधिक कारगर हो सकती थीं। अतः 'पृथ्वीराजरासो' जैसे ग्रन्थ में भी शृंगारचित्रपा के अनेक स्थल हैं। विद्यापति के, जो आदिकाल के एक प्रमुख कवि हैं, अधिकांश पद शृंगारिक हैं और वे उनके आश्रयदाता शिवसिंह की रुचि को ध्यान से रखकर लिखे गए हैं। विद्यापति अपने इन शृंगारिक पदों के द्वारा, जिनमें नखशिख सौन्दर्य, सद्यःस्नाता, विविध प्रकार की नायिकाओं और रतिक्रियाओं का वर्णन है, अपने आश्रयदाता का चित्तविनोदन करते थे। इन पदों में भोग-विलासरत आश्रयदाता की रुचि ही व्यक्त हुई है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि इस दृष्टिकोण से विचार न करने के कारण ही शुक्लजी को विद्यापति को वीरगाथाकाल की सामान्य धारा से भिन्न फुटकल कवियों की कोटि में रखना पड़ा था।

हिन्दी साहित्य के भक्तियुग में राजाश्रयप्राप्त कवियों का पता अधिक संख्या में नहीं चलता। पर जिन थोड़े से कवियों का साहित्य उपलब्ध है—विशेषकर अकबर के राजाश्रय में पलने वाले नरहरि, गंग, ब्रह्म, रहीम, तानसेन, टोडरमल आदि कवियों का या ओरछा-नरेश इन्द्रजीतसिंह के राजकवि केशवदास का—उसके अवलोकन से स्पष्ट हो जाता है कि कवि अपने आश्रयदाता की रुचि के प्रभाव से मुक्त नहीं हो सकता। ये कवि अपने युग की भक्तिभावना से इतने असंपृक्त हैं कि सामान्य प्रवृत्तियों के आधार पर साहित्यिक युग का नामकरण करने वालों के लिए एक समस्या खड़ी हो जाती है। इन कवियों द्वारा रचित काव्य के मुख्य विषय राजाओं और सामन्तों की प्रशंसा, शृंगार और नीति हैं। अकबर के दरबारी कवियों तथा केशवदास द्वारा रचित काव्य में आमुष्मिकता की नहीं, ऐहिकता की ही प्रधानता है, जबकि उस काल का हिन्दी साहित्य भक्ति का एक लहराता हुआ समुद्र है। नरहरि, गंग, और केशव ने उन सभी बादशाहों, शाहजादों तथा हिन्दू राजाओं की अतिशयोक्तिपूर्ण प्रशंसा की है जिनसे उन्हें अर्थ या सम्मान की प्राप्ति हुई थी। नरहरि, ब्रह्म तथा केशव ने नायिकाओं के नखशिख-सौन्दर्य तथा उनके हाव-भाव आदि का कलात्मक वर्णन किया है। नायिकाभेद तथा संयोगशृंगार के वर्णन में इन कवियों की सर्वाधिक रुचि दिखाई पड़ती है। राधाकृष्ण के नाम पर भी ये कवि सम्भोग शृंगार का ही उत्तेजक रूप प्रस्तुत करते हैं। नरहरि द्वारा वर्णित राधाकृष्ण की संयोगक्रीड़ा में अश्लीलता अपनी पराकाष्ठा पर है। गंग की रचनाओं में भी संयोग शृंगार-सम्बन्धी कवित्त और सवैये ही अधिक संख्या में उपलब्ध होते हैं। इन कवियों ने कामशास्त्र और संस्कृत के अलंकारशास्त्र के आधार पर संयोग, वियोग तथा मानादि का भेदोपभेद सहित वर्णन किया है। रहीम ने अपनी 'नगर शोभा' नामक रचना में विविध जाति की स्त्रियों का

सजीव वर्णन किया है। डॉ० सरयूप्रसाद अग्रवाल के अनुसार, "सम्भव है अकबर द्वारा आयोजित मीना बाज़ार में एकत्र सभी वर्ग और विविध पेशों की स्त्रियों को देखकर रहीम को इस रचना की प्रेरणा मिली हो।"[१] सम्भव है, रहीम दरबार में इन कविताओं का पाठ बादशाह तथा अन्य राजपुरुषों के मनोरंजनार्थ करते हों। स्पष्ट है कि इन कविताओं के मूल में आश्रयदाता की रुचि कार्यशील है। इतिहास से यह प्रमाणित होता है कि अकबर एक विलासी और रसिक सम्राट् था, यों अवसर आने पर वह अपनी वीरता और बुद्धि का भी अचूक प्रमाण देता था। निश्चय ही उसके दरबार के कवियों ने उसकी रुचि के अनुरूप शृंगारिक पदों की रचना की होगी। इन्द्रजीतसिंह भी रसिक राजा थे, तथा उनके मनोरंजन के लिए केशवदास ने भी शृंगार-प्रधान छन्द लिखे थे।

साहित्यरचना में पाठकों या उसके श्रोताओं की रुचि का महत्त्वपूर्ण हाथ होता है, इस स्थापना की पुष्टि हिन्दी के रीतिकालीन साहित्य से जितनी स्पष्टतापूर्वक होती है, उतनी शायद ही अन्य किसी उदाहरण से हो। इस साहित्य का अधिकांश राज प्रशस्तियों और शृंगारिक वर्णनों से भरा हुआ है। शृंगार के जितने भी रूप और भेद कामशास्त्र में पाये जाते हैं—नायिकाओं के प्रकार, नखशिख सौन्दर्य, हावभाव, नाज़-नखरे, दूतीत्व, मिलनोपाय, नायक-नायिका मिलन, आलिंगन, चुम्बन, नखक्षत, दन्तक्षत, संवेशन, प्रहरण, सीत्कार, पुरुषायित, पुरुषोपसृत औपरिष्टक, प्रणय, कलह, मान, रति, विपरीत रति, रति क्लान्ति आदि—उन सबका रीतिकालीन काव्य में निस्संकोच वर्णन उपलब्ध होता है। शृंगार के जितने पक्षों और रूपों का वर्णन रीतिकाल के कवियों ने किया है, वह अन्यत्र नहीं मिल सकता। इस साहित्य को देखने से कभी-कभी तो ऐसा लगता है, जैसे कामशास्त्र में वर्णित रति-सम्बन्धी विवरणों को ही काव्यात्मक विस्तार दे दिया गया है।

रीतिकालीन काव्य में उपलब्ध असंतुलित शृंगार-बाहुल्य और उक्तिचमत्कार की प्रचुरता को देखकर जिज्ञासु पाठकों के मन में अनेक प्रश्न उठते हैं। क्यों इस साहित्य में जीवन की संतुलित दृष्टि का अभाव है? शृंगार चित्रण और उक्तिचमत्कार के प्रति इस काल के कवियों की असामान्य रुझान का कारण क्या है? क्यों इन कवियों की दृष्टि नारी के पिंड सौंदर्य में ही उलझकर रह जाती है, उसकी आत्मा में प्रवेश नहीं करती? क्या कारण है कि इस काल के कवि काव्यागों के लक्षणनिरूपण में प्रवृत्त होते हैं? इन प्रश्नों के जो उत्तर हिंदी के इतिहास तथा शोधग्रंथों में दिये गए है, वे अपर्याप्त हैं।

मुगल शासन के अंतिम दिनों में हिंदी भाषी क्षेत्र में एक कोने से लेकर दूसरे कोने तक अराजकता, अव्यवस्था और हाहाकार मचा हुआ था। पर तत्कालीन साहित्य में इसकी झलक भी नहीं मिलती। रीतिकालीन साहित्य की इस प्रवृत्ति का समुचित विश्लेषण तत्कालीन आश्रयदाताओं की रुचियों के आलोक में ही किया जा सकता है।

विचारणीय प्रश्न है कि रीतिकाल के स्रोता अथवा आश्रयदाता कौन लोग

१. अकबरी दरबार के कवि, पृ० १७२।

थे ? यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि अकबर के बाद मुगल बादशाहों ने हिंदी कवियों को राजाश्रय और सम्मान नहीं दिया । रीतिकालीन कवियों के आश्रयदाता मुगल-बादशाह नहीं, वरन् देश में यत्रतत्र फैले छोटे-मोटे राजे, जागीरदार और सेठ-साहूकार थे । ये राजा, जागीरदार और सेठ-सामंत मुगल दरबार के अनुकरण पर अपने-अपने दरबारों को अलंकृत करने का प्रयत्न करते थे और इसके लिए उनमें होड़-सी लगी रहती थी । अकबर के ही समय से इनके दरबारों में वैभव, विलासिता और कलाप्रेम की परंपरा चली आ रही थी । वे सामंत चुपचाप मुगल बादशाओं को कर देते और उन्हें अप्रसन्न होने का मौका नहीं देते थे । जबतक मुगल बादशाह शक्तिशाली बने रहे, ये सामंत युद्ध-विग्रह की चिंताओं से प्राय: मुक्त होकर भोगविलास की अनवरत साधना करते रहे । मुगल शासन के दुर्बल होने पर कभी-कभी इन्हें आपस में, और कभी-कभी बाहरी आक्रमणकारियों से युद्ध करना पड़ता था, पर अधिकतर सामंत, जिनके दरबार में रीतिकालीन कविता फलफूल रही थी, विजयी शक्तियों की अधीनता स्वीकार कर भोगविलास का जीवन व्यतीत करते थे । लगता है, बाहरी अव्यवस्था, आक्रमणकारियों के अत्याचार, बार-बार उनकी धन की माँग तथा अरक्षा की भावना से पीड़ित रीतिकालीन सामंत विलास की अमर्यादित साधना में अपनी मानसिक व्यथा को भूलने का प्रयत्न कर रहे थे ।

राजाश्रित रीतिकालीन काव्य पर इन राजाओं और सामंतों की रुचियों का प्रत्यक्ष प्रभाव है । रीतिकालीन कवियों के जीवन पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि इनमें से अधिकांश समाज के निचले धरातल से आते थे । उस समय साधारण जनता का जीवन इतना कष्टमय, और सामंतों का जीवन इतना समृद्धिपूर्ण था, कि साधारण कवि भी किसी राजा या सामंत की छत्रछाया प्राप्त करना अपने जीवन का चरम लक्ष्य मानता था । यत्रतत्र प्राप्त उल्लेखों से ज्ञात होता है कि दरबारों में रीतिकालीन कवियों की स्थिति—भूषण जैसे कुछ कवियों को छोड़कर—बहुत सम्मानजनक नहीं थी । उन्हें अपने आश्रयदाताओं को सदा प्रसन्न रखने के लिए सचेष्ट रहना पड़ता था । कवि राजसभा का श्रृंगार था, पर कविरूप में आश्रयदाता की रुचि से भिन्न उसका कोई अस्तित्व था, इसमें सन्देह है ।

ऐसी स्थिति में दरबारी कवियों से यह आशा करना कि वे सामान्य युग-भावना को वाणी दें, निरर्थक है । जैसा कि पहले कहा जा चुका है, रीतिकालीन सामन्तों के जीवन में उत्तरदायित्वशून्य विलासिता का प्रधान्य था । अत: इस काल के कवियों ने अपने आश्रयदाताओं की रुचि के अनुकूल बने रहने के लिए कामशास्त्र का पल्ला पकड़ा और प्रेमक्रीड़ा के विविध पक्षों और प्रसंगों का काव्यात्मक वर्णन प्रस्तुत किया । श्रृंगार के साथ-साथ इन आश्रयदाताओं की रुचि अलंकरण और चमत्कार की तरफ अधिक थी । कवियों ने इसका ध्यान रखा, परिणामतः उनकी में इन तत्त्वों की प्रधानता है ।

रीतिकालीन राजाश्रित कवियी में कुछ ऐसे भी हैं. जैसे भूषण, लाल कवि, सूदन आदि, जिन्होंने श्रृंगारकाव्य की रचना नहीं की है । कुछ आलोचक इनके द्वारा

रचित काव्य को इनके व्यक्तिगत वैशिष्टच का परिणाम सिद्ध करते हैं। पर इन कवियों पर भी उनके आश्रयदाताओं की रुचि की छाप है, यह नितान्त स्पष्ट है। भूषण, गोरेलाल और सूदन तीनों के ही आश्रयदाता वीर, स्वाभिमानी तथा देश और जाति के गौरव पर मर मिटने वाले स्वतन्त्रचेता राजा थे। परिणामतः इनके आश्रित कवियों ने भी शृंगार काव्य लिखकर स्त्रैणता का परिचय नहीं दिया, वरन इन्होंने अपने आश्रयदाताओं के जीवनचरित् वर्णन के माध्यम से कायरों में भी उत्साह की लहर तरंगित कर देने वाले छप्पयों, कवित्तों तथा कड़खों की रचना की। रीतिकालीन कवियों की एक सामान्य प्रवृत्ति थी, कि उन्होंने काव्यरचना के साथ-साथ काव्यांगों के लक्षण-निरूपण का भी प्रयास किया था। व्याख्या भी आश्रयदाताओं की रुचि के प्रकाश में की जा सकती है, यह दृष्टिकोण सामने नहीं रहने के कारण हिन्दी के इतिहासकार और आलोचक रीतिकालीन कवियों के आचार्यत्व (!) को अपूर्ण, छिछला और निम्नस्तरीय सिद्ध करने का अर्थहीन प्रयास करते हैं। वस्तुतः रीतिकालीन कवियों का उद्देश्य आचार्य बनना था ही नहीं। उनके श्रोता रसिक रईस थे, जिन्हें काव्यांगों की शुष्क विवेचना में कोई रुचि नहीं थी। उनका एकमात्र उद्देश्य था, थोड़े समय में काव्य का आनन्द लेना। यह एक सिद्ध तथ्य है कि रीतिकालीन कविता का पूरा-पूरा आनन्द तब तक नहीं लिया जा सकता, जब तक पाठकों को काव्यांगों का सामान्य ज्ञान न हो। रीतिकालीन कवियों ने अपने आश्रयदाताओं को सामान्य रूप से काव्यांगों का परिचय कराने के उद्देश्य से ही लक्षणों की रचना की थी। पहले उन्हें आचार्य मान लेना और फिर उनके दोष दिखाना आलोचना का एक दूषित वृत्त है, जिसका वहिष्कार आवश्यक है।

आश्रयदाताओं की रुचि का प्रभाव रीतिकालीन काव्य के शिल्प पर भी पड़े बिना न रहा। इन कवियों ने केवल मुक्तक लिखे, प्रबन्धकाव्य लिखने की तरफ इनका ध्यान नहीं गया। इसका कारण है मुक्तक कविता का राजा और उनके दरबारियों की मनोवृत्ति के अनुकूल होना। राजदरबारों में प्रबन्ध कविताओं का पाठ सम्भव नहीं था। छोटे-छोटे उक्ति-चमत्कारपूर्ण मुक्तकों से राजा तथा उसके सामन्तों का मनःप्रसादन जितना आसानी से सम्भव था, उतना प्रबन्धकाव्यों से नहीं। आश्रयदाताओं को प्रबन्धकाव्य सुनने का अवकाश नहीं था। भोग-विलास से संकुल अपने जीवन में वे कविता के लिए कुछ ही क्षण दे सकते थे, और वह भी वैसी कविता के लिए, जो या तो उन्हें चमत्कृत कर दे या उनकी कामरुचि को सहलाने, मन को उत्तेजित करने में समर्थ हो। परिणाम यह हुआ कि दरबारी कवियों ने प्रबन्धकाव्य का स्पर्श तक न किया। केवल मुक्तकों से ही उनका उद्देश्य पूर्णतः सिद्ध हो जाता था।

तात्पर्य यह कि रीतियुगीन दरबारी काव्य अधिकांशतः अभिजातवर्गीय या सामंतीय भावनाओं और रुचियों तथा अन्नदाता के सामान्य दृष्टिकोण से निर्देशित-परिचालित है। राजाश्रित कवि संसार को सामंत के चश्मों से देखता था। सामान्य मनुष्यों की भावनाओं की चिन्ता उसे तनिक भी न थी। साहित्य-निर्माण में भी "ही हू पेज दि पाइपर कॉल्स दि ट्यून" का सिद्धान्त पूर्णतः लागू था। कवि अपने आश्रय-

दाताओं की पसन्दों, विश्वासों तथा रुचियों का सदा ध्यान रखने को बाध्य था। बिना ऐसा किये उसका जीवन-निर्वाह ही कठिन था, कविता करने की बात तो दूर रहे।

उक्त विवेचन से यह भ्रम उत्पन्न होने की सम्भावना है कि साहित्य के, विशेषतः रीतिकालीन साहित्य के निर्माण में केवल आश्रयदाताओं की रुचि का ही हाथ होता है। साहित्य का इतिहास इस सिद्धान्त के विरुद्ध अनेक उदाहरण प्रस्तुत करता है। यदि रीतिकालीन काव्य के निर्माण में केवल आश्रयदाताओं की रुचियों का ही हाथ होता, तो इन कवियों द्वारा रचित भक्ति के पदों का अस्तित्व सम्भव नहीं होता। इस कथन का उत्तर यह कहकर दिया जा सकता है कि, सम्भव है, आश्रयदाता श्रृंगारिक कविताओं के बीच-बीच में, कभी-कभी भक्तिपरक रचनाएँ भी सुनना पसन्द करते हों; पर भूषण ने क्यों काव्यांग-लक्षण लिखे, इसका उत्तर शिवाजी की रुचि के आधार पर नहीं दिया जा सकता। दूसरी तरफ बिहारी ने राजाश्रित कवि होने पर भी काव्यांगों के लक्षण नहीं लिखे, इसका उत्तर उनके आश्रयदाता जयसिंह की रुचि में नहीं ढूंढ़ा जा सकता। भूषण और मतिराम दोनों भाई थे, पर एक ने वीर रस की साधना की, दूसरे ने श्रृंगार की, इसकी व्याख्या भी उनके आश्रयदाताओं की रुचि के प्रकाश में नहीं की जा सकती। यदि यह कहा जाए कि दोनों के आश्रयदाता भिन्न-भिन्न रुचियों के थे, तो तत्काल प्रश्न उठता है, कि भूषण को क्या शिवाजी और छत्रसाल के अतिरिक्त दूसरा आश्रयदाता नहीं मिला ? इतिहास बताता है कि भूषण आरम्भ में चित्रकूटाधिपति हृदयराम के पुत्र रुद्रराम सोलंकी के आश्रय में रहे थे। बाद में ये अपने भाई मतिराम के आश्रयदाता बूँदी-नरेश राव बुधसिंह के दरबार में भी गए थे; और पता चलता है कि ये उनसे सन्तुष्ट नहीं रह सके थे। तात्पर्य यह कि भूषण ने—लाल और सूदन के बारे में भी यही कहा जा सकता है—अपनी रुचि के अनुकूल ही अपने आश्रयदाता की खोज की थी, अन्यथा इतनी दूर दक्षिण में न जाकर उन्हें उत्तर भारत में ही कोई विलासप्रिय राजा, आश्रयदाता के रूप में, प्राप्त हो सकता था। इस प्रकार रीतिकालीन काव्य से अनेक ऐसे स्थलों का उल्लेख किया जा सकता है, जिनकी व्याख्या श्रोताओं की रुचि के आधार पर नहीं की जा सकती। निष्कर्ष यह कि साहित्य निर्माण में 'केवल पाठकों या श्रोताओं की रुचि का ही हाथ नहीं—उसका हाथ होता जरूर है और कभी-कभी अत्यन्त स्पष्ट और सर्वाधिक प्रमुख होता है—इसे प्रभावित करने वाले या अन्तिम रूप देने वाले और भी अनेक हेतु हैं—जैसे राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक और आर्थिक परिवर्तन, साथ ही व्यक्तिगत प्रतिभा और रुचि, जिसके बारे में कोई भविष्यवाणी नहीं की जा सकती।

पाठकों या श्रोताओं की रुचि के प्रकाश में प्राचीन हिन्दी साहित्य का अवलोकन करने पर जो एक अत्यन्त स्पष्ट तथ्य हमारे सामने आता है, वह यह कि राजाश्रय में रचित काव्य पर उसके श्रोताओं की रुचि का प्रभाव जितना स्पष्ट है, उतना राजाश्रय से बाहर रचित साहित्य पर नहीं। राजाश्रय मुक्त कवियों में सभी सन्त, सूफी और सगुण भक्त कवि आ जाते हैं। इन कवियों का सीधा सम्पर्क भारतीय जनसमाज से था। ये सन्त और भक्त कवि—वैराग्य और अपरिग्रह का जीवन व्यतीत

करते थे, तथा अपने काव्यामृत का पान सबको समान भाव से कराया करते थे। इन भक्त और सन्त कवियों के द्वारा रचित काव्य राजाश्रित कवियों के काव्य से नितान्त भिन्न है। राजाश्रित कवियों की तरह ये कवि अपने राजाओं की प्रशंसा में प्रशस्ति काव्य की रचना नहीं करते। भक्त कवियों ने तो स्पष्ट रूप से प्राकृतजन का गुणगान करने वालों की निन्दा की है। हिन्दी के सन्त और भक्त कवियों के श्रोता, एक तरफ तो, सामान्य जन थे, और दूसरी तरफ ये कवि—कबीर आदि सन्तों को छोड़कर—पण्डितों या काव्यरसिकों को भी अपना उद्दिष्ट श्रोता मानते थे। परिणामतः भक्तिकालीन साहित्य पर तत्कालीन सामान्य हिन्दू जनता और काव्यरसिकों की रुचि का स्पष्ट प्रभाव है।[1]

समासतः प्राचीन हिन्दी साहित्य पर उसके पाठकों या श्रोताओं का प्रभाव निर्विवाद है। पाठकों की रुचि या युग-भावना की दृष्टि से विचार करने पर प्राचीन साहित्य और आधुनिक साहित्य में एक महान् अन्तर दिखाई पड़ता है! प्राचीन काव्य की समाजशास्त्रीय भूमि अधिकांशतः आसानी से पहचानी जा सकती है। कारण यह है कि उन दिनों काव्य के पाठक या श्रोता अपेक्षाकृत कम थे तथा मुद्रण यन्त्र के अभाव में साहित्योत्पादन की मात्रा और प्रकार भी सीमित थे। लेखक और उसके पाठक के सम्बन्ध स्पष्ट और सरल थे। कवि या तो अपने श्रोता का प्रत्यक्षतः आश्रित था या निष्काम जीवन व्यतीत करनेवाला महात्मा। आज की तरह लेखक और उसके पाठक का सम्बन्ध अप्रत्यक्ष और जटिल नहीं हो पाया था। फलतः प्राचीन संस्कृत और हिन्दी साहित्य में, सन्त साहित्य को छोड़कर, सामाजिक प्रतिष्ठा-प्राप्त विशेष लोगों की भावना और रुचि का प्रभाव स्पष्टतः दृष्टिगोचर होता है। यदि वानस्पतिक जगत् से रूपक लेकर हम अपनी बात स्पष्ट करें, तो कहा जा सकता है कि प्राचीन हिन्दी साहित्य अधिकांशतः राजाओं और अभिजात समाज रूपी वृक्ष की मुख्य डाल पर विकसित होने वाला एक प्रकार का प्यारा परजीवी पादप, दूसरे शब्दों में, राजाओं और अभिजात वर्ग की रुचि का इतिहास है। पर आधुनिक काल में यह स्थिति बिलकुल ही नहीं रह गयी है। जैसे-जैसे समय व्यतीत होता गया है, पाठकों तथा पुस्तकों की संख्या में वैसे-वैसे वृद्धि होती गयी है और तदनुसार पाठकों तथा लेखकों के सम्बन्ध भी जटिल होते गये हैं। प्राचीन काल में केवल कुछ ही केन्द्र थे, जहाँ से साहित्य का पोषण होता था, पर आज साहित्य के पोषण के अनेक केन्द्र हैं, जैसे प्रकाशन गृह, साहित्यिक और शिक्षण संस्थाएँ, सरकार, विभिन्न रुचियों वाला जनसमूह तथा रेडियो आदि। आधुनिक काल में प्रकाशन गृह, साहित्यिक पक्ष के मन्दिर के द्वारपण्डित बन गये हैं, जिनकी कुछ निश्चित शर्तों को माने बिना इसमें प्रवेश करना किसी भी साहित्यिकार के लिए सम्भव नहीं।

ऐतिहासिक दृष्टि से विचार किया जाए तो प्रकाशक तब सामने आता दीख

१. इस प्रभाव का सविस्तार विश्लेषण-विवेचन प्रस्तुत पंक्तियों के लेखक ने अपने शोध-प्रबन्ध "हिन्दी कथा साहित्य और उसके विकास पर पाठकों की रुचि का प्रभाव" में किया है। स्थानाभाव के कारण उसमें से कुछ यहाँ देना सम्भव नहीं है।

पड़ता है—हिन्दी में प्रमुख रूप से उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में—जब आश्रयदाता अन्तर्धान हो जाता है। बिलकुल आरम्भ में लेखक ही अपनी पुस्तकों के प्रकाशक भी थे, या प्रकाशकों को भी लेखक बनना पड़ता था, पर धीरे-धीरे प्रकाशन एक व्यवसाय के रूप में विकसित होता गया और आज तो प्रकाशन संस्थाएँ साहित्यिक रुचि को प्रभावित करने वाला एक महत्त्वपूर्ण हेतु हो गयी हैं। अनेक आधुनिक प्रकाशन संस्थाएँ आज व्यावसायिक ढंग पर काम करती हैं और उनके स्वामी की व्यक्तिगत रुचि नामहीन पाठकों की, जिनमें स्त्री-पुरुष सभी सम्मिलित हैं, माँग पर बनती है। आज के इस प्रकाशन युग में लेखक प्रकाशकों और पाठकों के दुहरे शासन में जीवन निर्वाह करता है, पर प्रकाशक भी, सफलता के लिए, पाठकों का ही मुखापेक्षी होता है, और इस प्रकार, पाठक समूह ही अन्तिम रूप से लेखक के जीविका-निर्वाह का स्रोत होता है। प्रकाशक एक प्रकार के मध्यस्थ का काम करता है। प्रश्न है, आधुनिक लेखक अपने इस नये आश्रयदाता की, जो एक व्यक्ति या छोटा-सा समूह न होकर अनेक प्रकार के बौद्धिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, राजनैतिक तथा धार्मिक स्तरों और विभिन्न अवस्थाओं वाले पाठकों का समुदाय है, रुचि का ध्यान किस सीमा तक रखे। प्राचीन काल के लेखकों के सामने यह समस्या नहीं थी। साक्षरों के समूहोत्पादन के परिणामस्वरूप आज अपरिष्कृत पाठकों की संख्या में प्राचीन काल की अपेक्षा कई गुनी वृद्धि हो गयी है। जो लेखक इन अपरिष्कृत रुचि के साक्षर-मात्र पाठकों की रुचि का ध्यान रखकर काव्य-प्रणयन करता है, उसे आर्थिक सफलता प्राप्त होती है; पर जो लेखक इन पाठकों की रुचि की उपेक्षा कर परिष्कृत रुचि के अल्पसंख्यक पाठकों को ही लक्ष्य करके लिखता है, उसे आर्थिक सफलता नहीं मिलती।

इन प्रमाणों के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि काव्य-रचना की प्रक्रिया में पाठकों और आश्रयदाताओं की—समाजशास्त्रीय भूमि की— उपेक्षा नहीं की जा सकती। निस्संदेह पाठकों और आश्रयदाताओं की रुचि कला का निर्माण नहीं कर सकती। गोबर से गुलाब का फूल नहीं उगाया जा सकता, पर इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि गुलाब के विकास और उसमें सुन्दर फूल लगने के लिए गोबर की खाद आवश्यक है। अरस्तू का कहना था कि कीचड़ सर्पमीन की सृष्टि नहीं करता, पर यह कहने में कोई बाधा नहीं है कि यदि कीचड़ नहीं रहे तो सर्पमीन भी नहीं रह सकता। साहित्य निर्माण के क्षेत्र में जो परिवर्तनशीलता दिखाई पड़ती है, वह निश्चित दिशा में होती है, और पाठकों तथा आश्रयदाताओं की रुचि एवं अन्य समाजशास्त्रीय हेतु उनके मूल में होते हैं।

साहित्य-निर्माण पर पाठकों की रुचि या युग-भावना का प्रभाव किस सीमा तक पड़ता है, यह एक विचारणीय प्रश्न है। किसी काल की काव्य-शैली कहाँ तक उसकी निजी आवश्यकता है, और कहाँ तक कलाकार द्वारा प्रदत्त, इस प्रश्न का उत्तर देना बड़ा कठिन है, यद्यपि इस प्रश्न का उत्तर जितने सामान्य रूप से अक्सर दिया जाता है, उतने सामान्य ढंग से शायद ही किसी अन्य प्रश्न का उत्तर दिया जाता हो।

कोई कहता है, काव्य समसामयिक अनुभूति की सुन्दरतम अभिव्यक्ति है; कोई उत्तर देता है, साहित्य समाज का दर्पण है; कोई बताता है, साहित्य में युग के विचारों, स्वप्नों और भावों को वाणी मिलती है। पर श्रेष्ठ साहित्य तद्युगीन भावनाओं और रुचियों से इतने सीधे रूप में निर्देशित नहीं होता, जितना उपर्युक्त वाक्यों से ध्वनित होता हैं। निम्न-कोटि का, या अधिक-से-अधिक मध्यम कोटि का साहित्य पाठकों की रुचि या युग-भावना से प्रत्यक्षतः प्रभावित होता है, पर श्रेष्ठ साहित्य पर पाठकों की रुचि का प्रभाव अप्रत्यक्ष और बड़प्पन दुरभिज्ञेय होता है। किसी वस्तु या वस्तुओं के प्रति पाठकों का दृष्टिकोण, उनके नैतिक और सामाजिक मूल्य तथा उनकी भावनाएँ और रुचियाँ कलाकार की तीव्र संवेदना-सम्पन्न इन्द्रियों द्वारा गृहीत होकर ही कलाकृति की प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति में प्रविष्ट होती हैं।

इस प्रसंग में एक बात विशेष रूप से उल्लेखनीय है। वह यह कि सामान्य युग-भावना या जनरुचि जैसी किसी वस्तु का अस्तित्व नहीं होता। इसके स्थान पर यह कहना अधिक युक्तिसंगत है कि किसी काल में युग-भावनाओं और रुचियों की अनेक मालाएँ विद्यमान होती है। इतना अवश्य होता है कि किसी काल विशेष में कोई एक भावना या रुचि प्रमुख होती हैं। सामान्य लेखक इसी प्रमुख रुचि-धारा का अनुगमन करते हैं, पर प्रतिभाशाली लेखक प्रायः युग की प्रमुख रुचि या भावना की परवाह न कर जन-मानस में अन्तर्धाराओं के रूप में प्रवाहित भावनाओं और रुचियों को नवीन भाषा और नवीन अर्थ देने का प्रयास करते हैं। अतः युग-भावना और रुचि के दृष्टिकोण से साहित्य की परीक्षा करते समय यह सर्वथा आवश्यक है कि हम जीवन और समाज के सम्बन्ध में विभिन्न आदर्श रखने वाले विभिन्न वर्गों को ध्यान में रखें। इन वर्गों में से किस वर्ग की भावना और रुचि से किसी काल की प्रमुख धारा अत्यन्त घनिष्ठ रूप से क्यों संबद्ध है, इस प्रश्न का उत्तर अनेक परिस्थितियों पर निर्भर करता है, और आलोचक के लिए इन परिस्थितियों को ध्यान में रखना अत्यावश्यक है।

तात्त्विक प्रश्न यह है कि क्या कोई कलाकार अपने पाठक या आश्रयदाता की रुचि का अनुगमन करने में अपनी वैयक्तिकता का बलिदान कर देता है? यदि कोई कलाकार ऐसा करता है, तो वह धन चाहे जितना अर्जित कर ले, महान् कलाकार नहीं हो सकता। रीतिकालीन दरबारी कवियों ने अपने आश्रयदाताओं की रुचि का अन्ध अनुकरण किया है, इस कारण प्रतिभा का अभाव न होने पर भी वे महान कवि नहीं हो पाये।

साहित्येतिहास के सूक्ष्म अवलोकन से ज्ञात होता है कि जहाँ अधिकांश लेखक अपने समय की भावधारा और रुचि का अनुगमन करते हैं, वहाँ प्रत्येक युग में कुछ ऐसे भी लेखक होते हैं जो सम-सामयिक युग-भावना का थोड़ा-बहुत ही ध्यान रखकर, और कभी-कभी उसकी बिलकुल उपेक्षा करके भी, साहित्य-सृजन में प्रवृत्त होते हैं; और अपने युग की कटु उपेक्षा सहकर भी वे अन्ततः एक नवीन रुचि के निर्माण में सफल होते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि इस प्रकार के प्रतिभाशाली लेखकों की, जो अपने

युग की प्रमुख रुचि की परवाह नहीं करते, स्थिति सुविधाजनक नहीं होती। साहित्य का इतिहास ऐसे अनेक उदाहरणों से भरा हुआ है, जिनमें कलाकार को अपने समय की विद्यमान रुचि से घोर संघर्ष करना पड़ा है। अंगरेजी के प्रसिद्ध रूमानी कवि वर्ड्सवर्थ की कविताएँ जब पहले-पहल प्रकाशित हुईं तो जनरुचि उनके नितान्त प्रतिकूल थी। सन् १७९८ ई० में विलियम वर्ड्सवर्थ और सैमुअल टेलर कॉलरिज लिखित 'लिरिकल बैलेड्स' प्रकाशित हुआ। जोसेफ कोटले (Joseph Kottle) नामक प्रकाशक ने, लेखकों को तीन गिनी देकर, यह पुस्तक प्रकाशित की थी। पुस्तक की ५०० प्रतियाँ छपीं, पर बहुत कम बिक पाईं। सम-सामयिक पत्र-पत्रिकाओं ने इन कविताओं का तिरस्कारपूर्ण उपहास किया। कुछ दिनों बाद कोटले ने प्रकाशन व्यवसाय छोड़ दिया और उक्त पुस्तक का कॉपीराइट् लौंगमैन कम्पनी को बेच दिया। 'लिरिकल बैलेड' के कॉपीराट का मूल्य आँका गया 'शून्य'। कोटले ने सुझाव दिया कि कॉपीराइट वर्ड्सवर्थ को लौटा दी जाय और श्री लौंगमैन राज़ी हो गए। जिस कविता को इन युवक कवियों ने इतने मनोयोग से लिखा था, उसे कोई भी पढ़ना नहीं चाहता था।[1] पर वर्ड्सवर्थ को अपने ऊपर दृढ़ विश्वास था उसने उक्त पुस्तक का दूसरा संस्करण तैयार किया जो १८०० ई० में प्रकाशित हुआ। तत्कालीन आलोचकों ने इस संस्करण की भी घोर निन्दा की। समीक्षकों ने गालियों की बौछार की। साहित्यिक संस्थाओं ने इन कविताओं की असंगतियाँ दिखाने में आकाश-पाताल एक कर दिया। उस समय के बैठकखानों का यह एक प्रिय मनोविनोद था कि कौन इन कविताओं के सम्बन्ध में सबसे ज़्यादा विनोदपूर्ण चुटकी लेता है।[2] वर्ड्सवर्थ के, अपनी समसामयिक रुचि से, इस संघर्ष की कहानी बड़ी लम्बी है। लगभग ३० वर्षों तक अनेक निराशाओं के बावजूद वर्ड्सवर्थ शनैः शनैः, धैर्यपूर्वक, अपने लिए पाठक तैयार करता रहा, एक नवीन काव्य-रुचि का निर्णाण करता रहा, १८३० से १८३७ के बीच वर्ड्सवर्थ के पाठकों में, साथ-ही-साथ उसकी कविता की लोकप्रियता में, अमित वृद्धि हुई। १८३९ ई० में वर्ड्सवर्थ की लोकप्रियता की चरमसीमा भी पहुँच गई, जब ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय ने अन्य व्यक्तियों के साथ उसे डॉक्टरेट की उपाधि प्रदान की। इस प्रकार वर्ड्सवर्थ अन्ततः एक नवीन रुचि के निर्माण में सफल रहा।[3]

वर्ड्सवर्थ की मान्यता है कि प्रत्येक कवि रुचि विशेष का निर्माण करता है, जिसके द्वारा भविष्य में उसका मूल्यांकन होगा। इस वाक्य की सार्थकता इस बात से मालूम पड़ती है कि वर्ड्सवर्थ की कविताओं ने अँगरेजी कविता की धारा ही बदल दी। १८वीं शताब्दी में इंगलैंड के कवि भद्र-समाज मनुष्य का—मैन इन सोसाइटी का अधिक चित्रण करते थे। पर वर्ड्सवर्थ, शैली, कीट्स टेनीसन आदि कवियों ने प्रकृति को अपनी भावनाओं का चित्रागार बनाया। वर्ड्सवर्थ ने 'कुक्कू' और 'डैफो-

१. दि इंगलिश मैन एण्ड हिज बुक्स (४) पृष्ठ ३८।
२. उपरिवत् (४); पृ० ४४।
३. दि इंगलिश मैन एण्ड हिज बुक्स (४) पृ० ५६-५७।

डिल्स' जैसी, शैली ने 'स्काइलार्क' जैसी और कीट्स ने 'ओड टू नाइटिंगेल' जैसी कविताएँ लिखीं। फिर तो प्रकृति-विषयक कविताओं की धारा ही बह चली। टेनीसन और उसके समानधर्मा अन्य कवियों ने अन्वीक्षण-यन्त्र लेकर फूल की एक-एक पंखड़ी को देखा। फिर तो फूल की चर्चा कविता की प्रधान वस्तु हो गई। वर्ड्सवर्थ ने प्रकृति में लोगों की रुचि उत्पन्न की। उसने प्राकृतिक सौन्दर्य को देखा और उसका लोगों पर इतना प्रभाव पड़ा कि लोगों में प्रकृति-निरीक्षण की रुचि पैदा हो गई।

वर्ड्सवर्थ ने पाठकों में कविता की जो नई रुचि उत्पन्न की उसे जार्जियन कवियों ने —रूपर्ट ब्रूक, वाल्टर डी ला मेयर, डब्ल्यू० एच० डेविस आदि ने—भी अपनी चाँद, इन्द्रधनुष आदि मनोहर प्राकृतिक वस्तुओं पर लिखित कविताओं द्वारा पल्लवित-पुष्पित किया। वर्ड्सवर्थ के ढंग की कविताएँ लगभग १५० वर्षों तक लिखी जाती रहीं। अन्तिम पचास वर्षों से परिवर्तन की चाह थी, जिसे टी० एस० इलियट ने सम्भव बनाया। इलियट ने उन वस्तुओं की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट किया जिन्हें अकाव्यात्मक कहा जाता था। उसने साधारण, काव्यरहित या गन्दी वस्तुओं के प्रति भी लोगों में रुचि पैदा की। टी० एस० इलियट की नई कविता का समकालीन कवियों पर ऐसा असर पड़ा कि उन्होंने वर्ड्सवर्थ के ढंग पर लिखी कविताओं को जला दिया और इलियट के ढंग पर कविताएँ लिखना प्रारम्भ किया।

इस प्रकार वर्ड्सवर्थ के द्वारा उत्पन्न रुचि को इलियट एक शताब्दी के बाद बदल देने में समर्थ हुआ। इससे सिद्ध होता है कि प्रतिभाशाली लेखक नवीन रुचि के निर्माण में समर्थ होता है। हिन्दी के छायावादी कवियों का जनरुचि के साथ संघर्ष भी उक्त सिद्धान्त की पुष्टि करता है। छायावादियों ने अपने युग की प्रमुख काव्य-रुचि को चुनौती दी थी और समसामयिक श्रेण्य आलोचकों की कुटिल दृष्टि के बावजूद वे अपने लिए एक नवीन रुचि का निर्माण करने में सफल हुए थे।

प्राचीन काल में, जबकि साहित्य के पाठक और साहित्य पोषण के केन्द्र आधुनिक काल की तुलना में कम थे, तथा प्रेस का आविर्भाव नहीं हुआ था, वैसे साहित्य की कल्पना नहीं की जा सकती थी जो अपने पाठकों या पोषण-केन्द्रों की उपेक्षा कर आगे बढ़े। हिन्दी के सन्त और भक्त कवियों ने, राजाओं का आश्रय न स्वीकार कर, अपनी वैयक्तिकता की रक्षा तो कर ली, पर सन्तों को छोड़कर अन्य भक्त कवि अभिजात-वर्गीय भावनाओं और रुचियों की उपेक्षा न कर सके। कबीर आदि सन्त कवि भी अपनी समसामयिक काव्य-रुचि की उपेक्षा, इसलिए कर पाए कि कविता करना उनका उद्देश्य नहीं था। सन्त-काव्य में यदि कवित्व है तो वह स्वयमागत है, अयत्नज है। फिर कबीर आदि ने भी निम्नवर्गीय समाज की भावनाओं और रुचियों का ध्यान तो रखा ही है।

मुद्रण और प्रकाशन-व्यवसाय के साथ साहित्यकार की परिस्थितियों में आश्चर्यजनक परिवर्तन हो गया है और कलाकार अत्यन्त तीव्र गति से पूर्ण स्वायत्तता के लक्ष्य की ओर बढ़ता जा रहा है, यद्यपि इसमें सन्देह है कि उसे कभी भी सफलता मिल सकेगी। शेली ने उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में ही घोषित किया था कि

"जब तक सत्य के प्रति तुम्हारी निष्ठा और विश्वास तुम्हें लिखने के लिए बाध्य न करे तब तक कुछ न लिखो। अच्छी सलाह दो और ग्रहण करो; पर साधारण मस्तिष्क वालों से कोई सलाह न लो। समय मूर्ख भीड़ के निर्णय को उलट देता है। सम-सामयिक अलोचना मूर्खता के योगफल से अधिक महत्त्व की नहीं होती; जिसके साथ प्रतिभा को संघर्ष करना पड़ता है।"

इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि कवि या लेखक विशुद्ध रूप में स्वान्तः सुखाय लिखे। कोई भी लेखक केवल स्वान्तः सुखाय नहीं लिखता या नहीं लिख सकता। कलाकार में भी उसका अहं प्रमुख होता है, उसके लिए भी आत्माभिव्यक्ति का मूल्य होता है, पर आत्माभिव्यक्ति तब तक अपूर्ण है, जब तक उसका पाठक या श्रोता न हो। पाठक और लेखक स्पष्टतः अन्योन्याश्रयी हैं और परस्पर एक-दूसरे को प्रभावित या परिवर्तित करते हैं। इसलिए शेलीने जब उपर्युक्त घोषणा की तो उसका उद्देश्य केवल समसामयिक प्रमुख रुचि का विरोध करना था, सभी प्रकार के पाठकों का बहिष्कार करना उसका लक्ष्य नहीं था। यह सम्भव भी नहीं है। पाठकों के बिना साहित्य का अस्तित्व उसी प्रकार निरर्थक है, जैसे, मानव प्राणियों के बिना इस धरती का अस्तित्व।

डॉ० परमानन्द श्रीवास्तव

नये साहित्य में दुरूहता की समस्या : कुछ विचार

दुरूहता का प्रश्न रचनात्मक सन्दर्भ में कोई नया प्रश्न नहीं है। अभिधेयार्थ या मुख्यार्थ से आगे जाने वाले कृतिकार ने जब ध्वनि[1] और व्यंजना[2] का आश्रय लिया था, तब भी यह समस्या किसी-न-किसी रूप में उत्पन्न हुई थी; इसके बावजूद प्राचीन साहित्य-शास्त्र में ध्वनि और व्यंजना को प्रतिष्ठा मिली क्योंकि उनके पीछे केवल चमत्कार का आग्रह नहीं था, उनके प्रयोग में गहरे अर्थ तक पहुँचने की आकांक्षा भी थी। आज भी सुलझे हुए विचारकों के लिए "दुरूहता अपने आप में कोई दोष नहीं है, न अपने आप में इष्ट है।"[3] कुछ पहले 'टाइम्स लिट्रेरी सप्लिमेंट' की सम्पादकीय टिप्पणी में 'सरलता' को निरपेक्ष गुण माना गया था[4] और अभी 'टाइम्स' की ऐसी ही टिप्पणी

१. यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनी कृतस्वार्थौ।
व्यक्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः ॥१३॥ ध्वन्यालोक, प्र० उ०॥

२. वक्तृबोद्धव्यकाकनां वाक्य वाच्यन्य सन्निधेः
प्रस्ताव देशकालादेर्वै शिष्यात् प्रतिभाजुषाम्।
योऽर्थस्यान्यार्थ धी हेतुर्व्यापारो व्यतिरेव सा ॥का० ३७॥ काव्य प्रकाश, तृ० उ०॥

३. भूमिका, अज्ञेय, तीसरा सप्तक, पृष्ठ १७।

४. "Literary excellence can not be defined in terms of words that are in themselves neutral. Simplicity is only a factor in art in

'दुरूहता' को ध्यान में रखते हुए कहा गया है कि सरल रचना को हेय, महत्त्वहीन या साधारण और दुर्बोध रचना को साहित्यिक श्रेष्ठता से युक्त समझना एक प्रकार का साहित्यिक छल है।[१] अब शायद बात पूरी हुई है।

दुरूहता रचना में कई कारणों से आती है—सांकेतिकता से, नयी दृष्टि के सन्निवेश से, भाषा के नयेपन से, प्रतीकों एवं बिम्बों के प्रयोग से। पद्धति या शैली से भी दुरूहता का सम्बन्ध है पर कोई अनिवार्य सम्बन्ध नहीं—क्योंकि सीधी संलाप-शैली में लिखी गयी कविताएँ तक दुरूह या दुर्बोध होती देखी गयी हैं। प्रकारान्तर से, यह समस्या प्रेषण की कठिनाई की समस्या है। इसीलिए रिचर्ड्स ने महत्त्व देकर प्रतिपादित किया था कि किसी भी आलोचना-सिद्धान्त के दो मुख्य आधार-स्तम्भ हैं—मूल्यबोध और सम्प्रेषण।[२] और रिचर्ड्स ने ही अन्यत्र अर्थ के विभिन्न प्रकारों में अभिप्राय (Intention) को भी एक महत्त्वपूर्ण अंग स्वीकार किया था।

रचना में जिस अर्थ की सम्भावना कृतिकार देखता है, उसे पाठक तक सम्प्रेषित भी होना ही चाहिए। फिर भी कभी-कभी प्रेषण की कठिनाई कृतिकार की किसी आंतरिक विवशता से समुद्गत (genuine) होती है। और उस स्थिति में इस कठिनाई की मीमांसा भी अपेक्षित होती है क्योंकि उससे उसकी अर्थच्छाएँ खुलती हैं। यहाँ समीक्षक को भी नये सिरे से रचना की आन्तरिक प्रक्रिया को आत्मसात् करना पड़ता है। इसी भूमि पर आलोचना रचनात्मक (creative) कहलाती है। तो, दुरूहता समस्या तो हो सकती है, पर अनिवार्य रूप से साहित्यिक अ-श्रेष्ठता का कोई प्रमाण नहीं है, (वैसे ही, जैसे श्रेष्ठता का भी अतिरिक्त प्रमाण नहीं है)। दुरूह होकर भी रचना मूल्यवान् हो सकती है, यदि वह कृतिकार की किन्हीं आन्तरिक विवशताओं का सार्थक परिणाम हो। दुरूह अस्पष्टता को यदि कृतिकार बहाने के लिए इस्तेमाल करता है और बनाए रखता है—यथार्थ के निषेध के लिए, यथार्थ से पलायन के लिए तो वह क्षम्य नहीं है। किसी अतिरिक्त या अन्यथा प्रलोभन (advantage) के लिए कृति में स्थापित दुरूहता (Obscurity) साहित्यिक के योग्य नहीं कही जा सकती।

(२)

नए साहित्य में सम्प्रेषण की कठिनाई मुख्यतः इसलिए है कि जैसा तीखा और गहन असामंजस्य आधुनिक रचनाकार एवं उसकी समकालीन परिस्थितियों में है, पहले सम्भवतः कभी नहीं था। आज की कविता के सन्दर्भ में इस स्थिति की व्याख्या करते हुए अज्ञेय लिखते हैं : "इस विरोध के दबाव की कवि के मन पर गहरी छाप है।

virtue." Times Lit. Supplement, June 8, 1962.

१. "It is one of the small snobberies of literary criticism to assume that any popular writing must be beneath contempt while authors who are difficult to understand have something very profound to say."

Times Literary Supplement,
September 13, 1963

२. Priniciples of Literary Criticism : I. A. Richards, P. 25.

इतनी गहरी कि वह उसे सीधे-सीधे व्यक्त भी नहीं कर पाता है, केवल ध्वनित करता है, केवल एक संकेत देता है जिससे हम आगे बढ़कर देख सकें।[1] अर्थात् सांकेतिकता का प्रयोग साभिप्राय होना ही है; वह (सांकेतिकता) अर्थहीन हो, कहीं किसी संदर्भ या अर्थ की ओर ले न जाती हो तो व्यर्थ है और कोई अतिरिक्त कौशल या चमत्कार उसकी व्यर्थता को छिपा नहीं सकता। दूसरे शब्दों में कहा जाय, कि कृतिकार को शब्द और सत्य (वे कितने भी एक-दूसरे से तने रहते हों) की एकता का प्रमाण अपनी रचना में देना ही है—

कवि जो होंगे हों, जो कुछ करते हैं करें
प्रयोजन मेरा बस इतना है—
ये दोनों जो
सदा एक-दूसरे से तनकर रहते हैं
कब, कैसे, किस आलोक-स्फुरण में
इन्हें मिला दूँ—
दोनों जो हैं बन्धु, सखा, चिर सहचर मेरे।[2]

आज की साहित्यिक समस्याओं के अध्ययन-क्रम में हम सबसे पहले उस तनाव से परिचित होते हैं जो अधिकांश कृतिकारों की चेतना पर हर समय बना रहता है कि अनुभव की व्यंजना के पुराने साधन पर्याप्त नहीं हैं। इस रचनात्मक असन्तोष से प्रेरित होकर आज का कृतिकार अभिव्यक्ति के नए-से-नए माध्यम आविष्कृत करता है। नयी उपमाओं, बिम्बों-प्रतीकों को साधारण पाठक प्रायः ही चौंककर देखता है और जब-तब अनुभव करता है कि कृतिकार के अभिप्रेत अर्थ की प्राप्ति कठिन है और यह, कि अब रचना का साधारणीकरण सम्भव नहीं रहा। जो साधारणीकरण को रचना की सफलता का आधार मानता है वह कृतिकार की अनुभूति को कृति के पहले पाठ में ही आयत्त कर लेना चाहता है और तब, ऐसा न होने पर निराश होता है। जब शमशेर 'शाम' कविता में लिखते हैं :

नीबू का नमकीन-सा शरबत, शाम
(गहरा, नमकीन)···
प्राचीन ईसाई चीजों-सी कुछ
राजपूताने की-सी बहुत कुछ
गहरी सोन-चम्पई
सोन-गोरिया शाम।
··· शान्त।
तुम्हारी साड़ी की-सी
शाम। बहुत परिचित।
ओ, ओ

१. आत्मनेपद, अज्ञेय, पृष्ठ २८।
२. अरी ओ करुणा प्रभामय : अज्ञेय : पृष्ठ १९।

मेरे दिल के अजीब फैलाव की
लातीनी पीतल-काँसे के घण्टों की-सी
क्लासिक
शाम।······
···कविता के शब्दों, स्वरों, लयों से परे की
मेरी शाम।[1]

तो साधारण पाठक के लिए नई कठिनाई उपस्थित करते हैं। एक तो वह अपरिचित, दूसरे ऊपर से देखने पर, एक-दूसरे से नितान्त असम्बद्ध कल्पनाओं का सहज एवं पुनः रूपान्तर उसके मन में सम्भव नहीं हो पाता। पर इस कठिनाई के बावजूद शमशेर और उनके बाद के कवि 'शाम' की ही कल्पना और भी नए और असम्बद्ध रूपों में करते हैं और धीरे-धीरे पाठक को रचना के गहरे अर्थों के प्रति पर्युत्सुक बनाते हैं और उसकी संवेदनक्षमता को तीव्र करते हे। और इस प्रकार रचना के विकास-क्रम में धीरे-धीरे यह कठिनाई हल होती है। साहित्य और कला में विकास की प्रक्रिया यही रही है। जिस पाठक के लिए कवि ने 'संध्या' का यह चित्र लिखा था—

दिवस का अवसान समीप था
गगन था कुछ लोहित हो चला···

उसे तभी कठिनाई हुई थी जब निराला ने लिखा—

अलसता की-सी लता
किन्तु कोमलता की वह कली
सखी नीरवता के कन्धे पर डाले बाँह
छांह-सी अम्बर-पथ से चली।
नहीं बजती उसके हाथों में कोई वीणा
नहीं होता कोई अनुराग—राग-आलाप,
नूपुरों में भी रुनझुन-रुनझुन नहीं,
सिर्फ एक अव्यक्त शब्द-सा "चुप, चुप, चुप,"
है गूँज रहा सब कहीं—

पर तब कुछ बातें चित्र में स्पष्ट थीं—जैसे सन्ध्या का सुन्दरी के रूप में मानवीकरण और वातावरण की शान्ति। इनसे आगे बढ़ने की कठिनाई, एक-एक शब्द के साथ के सम्बद्ध अर्थस्तरों की सूक्ष्म व्यंजना को ग्रहण न करने, या न कर सकने की कठिनाई थी। इससे स्पष्ट है कि जब कृतिकार अपने नये भावबोध के अनुसार "भाषा की क्रमशः संकुचित होती हुई सार्थकता की केंचुल फाड़कर उसमें नया, अधिक व्यापक और अधिक सारगर्भित अर्थ भरना चाहता है"[2] तो यह कठिनाई पाठक के समक्ष आती है। प्रसाद, पन्त, निराला, सबने यह कठिनाई पाठक के लिए उपस्थित की थी। आज के कृतिकारों ने यह कठिनाई बढ़ा दी है क्योंकि उनके सामने भाषा को ही बद-

१. कविताएँ : ५८। सं० चन्द्रदेवसिंह।
२. प्रयोग और प्रेषणीयता / आत्मनेपद, अज्ञेय, पृष्ठ ३६-३७।

लने और नया बनाने का प्रश्न नहीं रहा है—उन्हें तो अनुभव और अभिव्यक्ति अर्थात् वस्तु और भाषा के बीच की समस्त प्रक्रिया ही बदलनी पड़ी है। आज भी पन्तजी की नई कविताओं में जिस तरह की दुरूहता है, वह नये कृतिकारों के साहित्य की दुर्बोधता से भिन्न है। उदाहरण के लिए, बिम्ब-विधान का उपयोग पन्तजी करते हैं तो एक नये तरह के भावनात्मक रहस्यवाद (emotional mysticism) के आग्रह से—जैसे,

१. चाँदनी की मोहित खोहों में
ओसों के
दर्पण-से सरोवर हैं
द्वार पर
झीने कुहासों के परदे पड़े हैं।[१]

२. हंसों की पीठ पर
कमलों का कनक मरन्द
बिखरा है
सीप की हथेली में
सुनहला मोती हँस रहा···

और, केदारनाथसिंह बिम्बों का उपयोग करते हैं तो बौद्धिक धरातल पर समकालीन परिस्थितियों की जटिल वास्तविकता, उसके संक्रमण-संघर्ष को एक ठोस, स्पष्ट और बेलाग अर्थ देने के लिए। इसीलिए उनकी बिम्बधर्मी कविता इस आत्मपरिचय से शुरू होती है—

एक लकीर
पृथ्वी के सारे अक्षांशों से होती हुई
जहाँ
सौरमण्डल के पास
खो जाती है
वहाँ मैं खड़ा हूँ[३]
या
एक सपाट मैदान है :
जिसमें मैं हूँ
और सदियाँ हैं !
और दोनों के बीच में
एक उड़ती हुई गौरैया

---

१. कला और बूढ़ा चाँद : सुमित्रानन्दन पन्त : पृष्ठ २१।
२. वही, पृष्ठ ७३।
३. आत्मचित्र, अभी बिल्कुल अभी, केदारनाथसिंह।

जो उड़ती रहेगी
सदियों तक ।[1]

जब केदारनाथ सिंह लिखते हैं—

मछुए का
एक जाल
नदी से निकालकर
धरा हुआ
मेरे इन चिर आदिम कन्धों पर
यह मेरा नगर है[2]

तो इस सत्य की ओर इंगित करते हैं कि 'चिर आदिम कन्धों पर आश्रित नगर, नगर की वैज्ञानिक सभ्यता का विकास है जिसे ढोने वाले कन्धे 'चिर आदिम' हैं और प्रमाणित करते हैं कि बिम्ब का आग्रह उनके लिए या उनके समानधर्मा कवियों के लिए चित्र के आकर्षण से भिन्न है। जिनके लिए हर शब्द "किसी नए ग्रहलोक में एक जन्मान्तर" है उनके लिए प्रत्येक बिम्ब एक जीवित सन्दर्भ है। केदार के ही शब्दों में बिम्ब "अधिक-से-अधिक कवि के रागात्मक अनुबन्धों पर आधारित होने के कारण अपने साथ एक व्यापक सन्दर्भ लिए होता है। उसके तल तक पहुँचने के लिए उस सन्दर्भ का ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है।"[3] इसी को स्पष्ट करते हुए अज्ञेय ने संकेत किया है कि बिम्ब के पीछे सत्य का आत्यन्तिक मूल्य एक बात है, उसकी सम्बन्ध-कारकता, उसकी तदर्थप्रेषकता दूसरी बात।[4] और इस प्रकार रचना में अपेक्षित सन्दर्भ-ज्ञान (दूसरे शब्दों में समकालीन यथार्थ से परिचय) के बिना सम्प्रेषणीयता सम्भव नहीं रह गई है।

फूल जैसे अँधेरे में चीखता हो
इस तरह वह दरपनों में कौंध जाता है

अनागत का यह बिम्बबोध कृतिकार की ही तरह पाठक में भी सम्यक् दिक्-काल-ज्ञान की अपेक्षा रखता है। आज के कृतिकार की सृजनात्मक महत्त्वाकांक्षाएँ अधिक हैं। उसे कुँवरनारायण के अनुसार "वह एप्रोच पसन्द है जो किसी भी सत्य को स्वयं में अन्त न मानकर उसे अगले सत्य तक पहुँचने का साधन मानता है।"[5] प्रचलित और घिसे हुए रूप या ढाँचे (Form) को तोड़ना नई रचनात्मक प्रक्रिया (Creative process) की प्राथमिक स्थिति है; अगली स्थिति है—उस कठोर, तीखे, नामहीन, यथार्थ को पकड़ने का प्रयत्न—जो पकड़ से बाहर है। आज की कविता दुरूह है क्योंकि वह कवि के ही शब्दों में—

१. पिकनिक से लौटते हुए—केदारनाथसिंह, कल्पना मार्च ६१, पृष्ठ ६४।
२. आत्मचित्र, अभी बिल्कुल अभी, केदारनाथसिंह।
३. वक्तव्य : केदारनाथसिंह : तीसरा सप्तक : पृष्ठ १६८।
४. आत्मनेपद, पृष्ठ २३०।
५. वक्तव्य : कुंवरनारायण : तीसरा सप्तक : पृष्ठ २४८-२४६।

एक छोटा-सा मौन है
जिसमें पशु, वनस्पतियाँ और सड़कों के लैम्पपोस्ट
सब शामिल हैं ।[1]

और आज के कवि की भाषा—

....

....नंगे आसमान-सी
खुली हुई एक भाषा है
जिसमें कोई शरीक नहीं ।[2]

(३)

रचना में दुरूहता की समस्या केवल कविता की समस्या नहीं है। 'गोदान' से 'नदी के द्वीप' और 'नदी के द्वीप' से 'अपने-अपने अजनबी' तक—और प्रेमचन्द की कहानियों से जैनेन्द्र, अज्ञेय और आगे राजेन्द्र यादव, रघुबीर सहाय और निर्मल वर्मा की कहानियों तक रचनात्मक साहित्य के विकास की प्रक्रिया है, उसके अध्ययन से यह बात साफ़ हो जाती है कि जब भी रचनाकार नई संवेदना की अभिव्यक्ति के लिए नया माध्यम चुनता है, नई पद्धति आविष्कृत करता है, रचना में दुरूहता आती है। एक लेखक के ही विकास को लिया जाए, तो प्रेमचन्द की 'बड़े घर की बेटी' कहानी की तुलना में उन्हीं की कहानी 'पूस की रात' दुरूह कहानी है (क्योंकि, जो सुबोध प्रभाव इस कहानी के अतिसरलीकरण से प्राय: ग्रहण किया जाता है वह कहानी का मुख्य प्रतिपाद्य नहीं है)। इसी प्रकार 'आकाशदीप' कहानी के अभिप्रेत अर्थ तक सामान्य पाठक की पहुँच आज भी सन्दिग्ध है।

अज्ञेय का उपन्यास 'अपने-अपने अजनबी' एक दुरूह कृति है और निर्मल की 'तीसरा गवाह', 'कुत्ते की मौत', 'खोज' आदि कहानियाँ दुरूह कहानियाँ हैं क्योंकि इनमें घटनात्मक यथार्थ से आगे आकर किन्हीं दूरगामी सन्दर्भों को पकड़ने और चित्रित करने की कोशिश की गई है और ज़रूरी ही हो, तो कहना पड़ेगा कि आज के साहित्य में 'दूरगामी सन्दर्भ' को पकड़ने की कोशिश सिर्फ़ 'दूर की कौड़ी' लाने की कोशिश नहीं है, वह तो बिल्कुल नहीं है। यथार्थ को सतह पर न देखकर उसके भीतर, उसकी जटिलता के भीतर प्रवेश करने की रचनात्मक आकांक्षा और प्रतिबद्धता का मूल्य सतही मनोरंजन का प्रलोभन छोड़कर ही चुकाया जा सकता है, यह बात आज कथा-साहित्य के भीतर भी बहुत हद तक सच मान ली गई है। यही कारण है कि आज का कथाकार भी अपने लिए संवेदनशील, विचारवान् और प्रौढ़ अनुभूति के पाठक की माँग करता है।[3]

---

१. एक छोटा-सा मौन : केदारनाथसिंह : सम्प्रति : मार्च-जून १९६३, पृष्ठ १४।
२. वही, पृष्ठ १४।
३. "साहित्य पाठक में कुछ तैयारी, अनुकूलता और परिपक्वता माँगता ही है। पुराने आचार्य तो इसे मानते ही आए, आजकल भी यह मत नितान्त अमान्य तो नहीं है।"
—नदी के द्वीप, क्यों और किसलिए—आत्मनेपद, अज्ञेय, पृष्ठ ७५

जिन कारणों से आज की कविता दुरूह है, उन्हीं कारणों से आज की कुछ कहानियाँ भी दुरूह हैं क्योंकि उनमें भी कविता की तरह हम अस्तित्व के गहरे प्रश्नों की मौलिक जिज्ञासा, चिन्ता, यथार्थ के प्रति बौद्धिक दृष्टिकोण, सांकेतिक बिम्बबहुल भाषा तथा प्रतीक कल्पना का उपयोग देखते हैं। अकारण और आकस्मिक नहीं है, कि आज की कहानियों में—नीले लिफाफे-सा आकाश, खरगोश की तरह का धूप का सांवला धब्बा, गुनगुनी-सी सफेद हवा, नींद की नीली झील पर तिरता-सा कुहरा, पिघलती चांदी-सी धूप, धूप में चमकता हुआ सफेद रिबन-सा नाला, गिलहरियों-से खेत, बुझती हुई आग के धुएँ-सी चाँदनी, एक बड़े भारी खुले दरवाज़े-सा इन्द्रधनुष—आदि असंख्य काव्यात्मक बिम्बों का प्रयोग मिलता है। ये प्रयोग उस गहरी संवेदना का प्रमाण देते हैं जिनसे प्रेरित होकर कृतिकार 'कहानी' और अन्य साहित्यरूपों को सार्थक 'रचना' के अर्थ में ग्रहण करता है और रचना के सभी प्राप्त उपकरणों का यथासम्भव प्रयोग करते हुए अपने सृजनात्मक लक्ष्य या उद्देश्य तक पहुँचना चाहता है। कभी इस लक्ष्य तक कृतिकार को ले आने वाला रास्ता ही इतना उलझा हुआ और जटिल होता है कि कृति पाठक को दुर्बोध जान पड़ती है और कभी पाठक एक आरोपित आतंक[1] के कारण रचना को दुरूह मान लेता है और अपनी ओर से कोई प्रयत्न रचना के तर्क को समझने के लिए नहीं करता। राजेन्द्र यादव के शब्दों में कहा जाए कि अर्थ या ध्वनि आज के साहित्य में केवल मौक़े की सूझ तो है नहीं[2] कि शास्त्रीय नुस्खे के सहारे पाठक उसे प्राप्त कर सके; वह तो सम्पूर्ण रचना में व्यक्त एक सार्थक सन्दर्भ है और उसकी प्राप्ति प्रयत्न से ही सम्भव है।

जब हम किन्हीं सार्थक कारणों या विवशताओं से रचना में उत्पन्न दुरूहता का समर्थन करते हैं और पाठक से उन कारणों या विवशताओं में प्रवेश करने की सिफ़ारिश करते हैं तब भी यह ख़तरा बना रहता है कि कहीं कृतिकार इस दुरूहता को, समकालीन सत्य की अभिव्यक्ति से बचने के लिए या अनुभूति की कमी को छिपाने के लिए एक साहित्यिक छल की तरह तो नहीं इस्तेमाल कर रहा है! क्योंकि, इस छल के पक्षधर हम नहीं हैं, न होना चाहते हैं।

---

1. "Or difficulty may be caused by the reader having been told, or having suggested to himself, that the poem is going to prove difficult. The ordinry reader, when warned against obscurity of a poem, is apt to be thrown into a state of consternation very unfavourable to poetic receptivity."

— Selected Prose : T. S. Eliot. p. 93

२. शह और मात : मेरा अपना दृष्टिकोण : राजेन्द्र यादव : कल्पना : ११६ : पृष्ठ ५४।

—मन्मथनाथ गुप्त

तीन उपन्यास

दीर्घतपा—इस उपन्यास में 'रेणु' ने नौकरी करनेवाली स्त्रियों की परिस्थिति का चित्रण किया है। एक वर्किंग-विमेन्स हॉस्टल है, जिसमें एक तरफ एक महिला प्रोफेसर और रेडियो में काम करनेवाली महिला रहती है और दूसरी तरफ उसमें गाँव में काम करने की ट्रेनिंग प्राप्त करने के लिए गाँव की अर्द्धशिक्षित तरुणियाँ आती हैं। इस हॉस्टल की अध्यक्षा श्रीमती आनन्द हैं, जो बाहर रहती हैं। पर बेला गुप्त हॉस्टल के अन्दर रहकर उसमें इन्तजाम करती है। बेला गुप्त बचपन में बड़ी ऐडवेंचरस टाइप की लड़की थी, दौड़-धूप, तैराकी, कुश्ती में तेज, पर एक बनावटी क्रान्तिकारी ने उसे घर छुड़ाया, हर मोके पर यह कहकर कि प्रश्न करना मना है। वह स्वयं उसके शरीर का भोग करता है और फिर उसे शायद बेच देता है। पर बेला गुप्त किसी तरह निकल भागती है अच्छी होने की प्रतिज्ञा लेकर। इसके विपरीत मिसेज आनन्द खेली-खाई हुई औरत हैं। पहले वह मिसेज महान्ती थी, फिर कुछ और हुई, अब मिसेज आनन्द है।

मिसेज आनन्द चाहती है कि हॉस्टल की लड़कियाँ विशेषकर अंजू-मंजू, जो लोकगीत गाने में बहुत प्रवीण हैं, उनके अतिथियों का मनोरंजन करें। इसी बात को लेकर बेला गुप्त और मिसेज आनन्द में संघर्ष चलता है। ट्रेनिंग पाने के लिए आई हुई देहाती लड़कियों पर भी मिसेज आनन्द के मित्रों की दृष्टि जाती है, उनकी जीभ शहरी माल से ऊबी हुई है, इसलिए वे देहाती लड़कियों का जायका चाहती हैं। पर बेला गुप्त आड़े आती हैं और नियमावली की दोहाई देकर टोकती हैं। एक मिस्टर घोष बेहाला बजाने का लती है, पता नहीं उसे कितना आता है। पर वह अपना 'शो' एक नाटक के रूप में करना चाहता है। इस बहाने मिसेज आनन्द हॉस्टल की सब लड़कियों को उस रात बाहर निकलने की छुट्टी दिलवाती हैं, बेला गुप्त को अनुमति देनी पड़ती है। 'शो' का फायदा उठाकर जब लड़कियाँ आती हैं तो मिसेज आनन्द का प्रेमिक आदिवासी बाबू बागे लाइट ऑफ़ करवा के लड़कियों को उड़ा ले जाता है और ग्राहकों को पहुँचाता है। एक लड़की जो ट्रेनिंग के लिए आई थी, इससे इतनी दुःखी होती है कि वह आत्माहत्या कर लेती है।

इसके अलावा मिसेज आनन्द और बागे की प्रेम-लीला है। महिला प्रोफेसर टॉक के लोभ से किस प्रकार रेडियो के एक स्टाफ-आर्टिस्ट के द्वारा बलात्कृता होती है, आदि जाने कितनी घटनाएँ हैं।

लेखक—फणीश्वरनाथ 'रेणु'; प्रकाशक—बिहार ग्रन्थ कुटीर, खजान्ची रोड, पटना-४; पृष्ठ संख्या-१६३; मूल्य ४ रुपये।

यदि यह कहा जाए कि आधुनिक कथा साहित्य का एक प्रधान लक्षण यह है कि उसमें कथानक या तो होता ही नहीं या बहुत क्षीण होता है, जैसा कि कुछ आधुनिकता के दावेदार कहते हैं, तब तो कहना पड़ेगा कि यह उपन्यास आधुनिक नहीं है, क्योंकि इसमें घटनाएँ ही घटनाएँ हैं, ये घटनाओं से ठसाठस भरा हुआ है, इतना कि जो संक्षिप्त व्यौरा हमने प्रस्तुत किया, उसमें कुछ भी नहीं आया। यद्यपि 'रेणु' केवल कहानी कह रहे हैं, पर इसमें हमारे समाज के व्यापारी वर्ग तथा राजनीति का बहुत ही सजीव चित्र उभरता है, जिससे उनकी सारी गंदगी सामने आ जाती है। यह उपन्यास स्त्री प्रधान है, इसलिए इसके ज़रिए यह भी साफ हो जाता है कि स्वतन्त्रता के बाद किस प्रकार स्त्रियों में आगे बढ़ने की, घुटन वाली बावन तालों की जिन्दगी छोड़कर अण्डे के खोल से बाहर आने की तड़पन है, पर धन्यवाद है राजनीति और व्यापार में लगे हुए लोगों की कि जो स्त्रियाँ बाहर आई हैं वे केवल उनके मनोरंजन के लिए नया माल मात्र हैं। अजीब बात है कि ये सफल भी होते हैं। यह लोग विदेशों से परोपकार के उद्देश्य से आया हुआ माल दबा जाते हैं, शराब की नदियाँ बहाते हैं, व्यभिचार लीला फैलाते हैं, पर पकड़ में नहीं आते, क्योंकि अन्ततोगत्वा इस उपन्यास में मिसेज आनन्द तथा उनके साथी बच जाते हैं और बेला गुप्त को सज़ा होती है कि वह चकला चलाती है। बेला गुप्त अदालत में अपनी सफाई नहीं पेश करती। मेरे विचार से यदि 'रेणु' इस रोमांटिक और सिनेमा के उपयुक्त अन्त के फेर में न पड़ते तो उनकी रचना अधिक बलिष्ठ होती, पर यों यह जैसा भी है बहुत शक्तिशाली उपन्यास है। मानवीय स्पर्श जहाँ-तहाँ बहुत अधिक है, व्यंग्य भी है, और सबसे बड़ी बात है कि समाज के घाव को खोलकर रख देता है, पर घाव की हालत देखकर यह डर लगता है कि कहीं यह घाव केंसर तो नहीं है। 'रेणु' का यह उपन्यास विश्व-साहित्य के किसी भी अच्छे उपन्यासकार की कृति के साथ एक तराज़ू में रखा जा सकता है।

एक म्यान दो तलवारें—पंजाबी के प्रसिद्ध लेखक नानकसिंह ने इस उपन्यास को क्रान्तिकारी आन्दोलन की पृष्ठभूमि में लिखा। इसके लिए लेखक ने विशेष रूप से क्रान्तिकारी आन्दोलन का अध्ययन किया और उस सम्बन्ध में प्राप्त बहुत कुछ साहित्य पढ़ा। कुछ लोग हमेशा यह साबित करने पर तुले रहते हैं कि क्रान्तिकारी आन्दोलन कुछ थोड़े से नौजवानों का खेलमात्र था, ऐसा वे इस कारण मानते हैं कि देश को स्वतन्त्र करने का सारा श्रेय एक विशेष दल के सिर पर मढ़ दें। यह लड़ाई इतिहास को झुठलाने के साथ-साथ दर्शनशास्त्र को एक विशेष रूप में दिखाने की ज्यादती तक प्रसारित है। यह दावा है जैसे बुद्ध, महावीर, चैतन्य, गांधी की ही एकमात्र विचारधारागत परम्परा हो, कृष्ण, राम, परशुराम, राणाप्रताप, शिवाजी, तिलक, अशफाक उल्ला, भगतसिंह की परम्परा कोई परम्परा ही न हो जो कुछ भी हो नानकसिंह ने क्रान्तिकारी आन्दोलन को अपनी सर्वश्रेष्ठ कृति में

लेखक—नानकसिंह; अनुवादक का नाम दिया नहीं गया है; प्रकाशक—राजपाल एण्ड संस, दिल्ली; पृष्ठ संख्या-३०१; मूल्य—५ रुपये।

चित्रित किया, यह एक बड़ी न केवल साहित्यिक बल्कि सामाजिक घटना है। यूं तो जैनेन्द्र ने भी अपने कुछ उपन्यासकारों में क्रान्तिकारियों को घसीटा है पर उन्होंने उन्हें सेक्स से पीड़ित, कुण्ठित अजीब नौजवानों के रूप में चित्रित किया है, पर नानक सिंह ने ऐसे शहीदों का चित्र खींचा है जिनके सम्बन्ध में यह कहा गया है कि शहीदों की चिताओं पर लगेंगे हर बरस मेले, वतन पर मिटने वालों का यही बाकी निशां होगा। यदि गहराई से देखा जाय, तो दोनों उपन्यासकार सही हैं। जैनेन्द्र का साबका क्रान्तिकारी आन्दोलन से तब पड़ा जब चन्द्रशेखर 'आज़ाद' की शहादत के बाद क्रान्तिकारी आन्दोलन की सामाजिक जड़ें उखड़-पुखड़ गई थीं। एक तरफ जन-आन्दोलन तथा दूसरी तरफ मुख्यत: रूस से आए हुए समाजवादी आन्दोलन, पहले के क्रान्तिकारियों का स्थान लेता जा रहा था। इसीलिए जो पुरानी परिपाटी को निबाहते थे, वे महज लीक पीट रहे थे।

इसके विपरीत नानकसिंह ने सरदार करतारसिंह सराभा, भाई परमानन्द, हरदायल, रासबिहारी, शचीन्द्रनाथ सान्याल आदि से अनुप्रेरणा ली। करतारसिंह सराभा को अपने उपन्यास का नायक बनाया। उस समय क्रान्तिकारी आन्दोलन बिलकुल अपने यौवन में था, उसमें आदर्शवादी युवकों का ही स्थान था, दूसरी प्रकार के लोगों के लिए उसमें स्थान ही नहीं था। इस उपन्यास में दिखाया गया है कि किस प्रकार हज़ारों की संख्या में सांसारिक दृष्टि से सफल माने जा सकने वाले अमरीका के सिखों तथा पंजाबियों ने अपना सर्वस्व होम कर इसमें भाग लिया और क्रान्ति करने के लिए अमरीका से लौट आए। एकाध को नहीं सैकड़ों को फाँसियाँ हुईं।

नानकसिंह ने एक ऐसे परिवार को चुना है जिसमें बाप दिन-रात लड़ाई में भरती करा रहा है, तरह-तरह से, यहाँ तक कि क्रान्तिकारियों को गिरफ्तार करवाकर खैरख्वाहों में नाम उजागर कराने के लिए उत्सुक है, पर उसी के घर में क्रान्ति की लहर पहुँचती है, क्रान्तिकारी साहित्य छिपा-छिपाकर पढ़ा जाता है और उसका बेटा तथा बेटी दोनों क्रान्तिकारी लहर की ओर खिंच जाते हैं। बेटी की किसी तरह एक बार करतारसिंह से भेंट हो जाती है, तब से वह उसकी पूजा करती है और जब उसे फाँसी होने में कुछ ही दिन रहते हैं तो वह जाकर करतार से कह आती है कि मैं तुम्हारी पुजारिन हूँ और तुम मुझे इस रूप में स्वीकार करवाओ। बेटे को फांसी होती है और बेटी उस व्यक्ति पर गोली चलाकर पकड़ी जाती है, जिसने क्रान्तिकारियों को पकड़ाया था। निराश पिता को लगभग मृत अवस्था में छोड़कर उपन्यास का अन्त होता है।

क्रान्तिकारी आन्दोलन को उभारकर सामने लाने के अतिरिक्त इस उपन्यास में पहली बार सिक्खों में किस प्रकार गुरुडम की प्रथा चल पड़ी तथा किस प्रकार भक्तों के दाम पर छोटे-बड़े गुरु लोग गुलछर्रे उड़ाने लगे, इसका भी पर्दाफाश किया गया है। लड़ाई के समय किस प्रकार भरती होती थी और भरतीवालों की खबर पाते ही गाँव-के-गाँव खाली हो जाते थे, यह सब भी लेखक ने पहली बार प्रामाणिक रूप से सामने रखा है। तकनीक की दृष्टि से उपन्यास सफल ही माना जाएगा, पर

यदि शुरू के पृष्ठों में वर्णन कम होता तो पुस्तक अधिक रोचक होती, इसमें सन्देह नहीं है। कथानक बहुत सरल है, उसमें गुत्थियाँ कम दिखाई पड़ती हैं, इस दृष्टि से उपन्यास प्रथम श्रेणी में नहीं आ सकता। उपन्यास के प्रारम्भ में क्रान्तिकारी सरदार करतारसिंह सराभा का एक चित्र भी दिया गया है।

लोकलाज खोई—अधिक-से-अधिक देहाती शब्दों के प्रयोग के साथ देहाती वातावरण सम्बन्धी यह उपन्यास आंचलिक शैली में लिखा गया है। लेखक ने ताना-बाना बहुत फैलाया, पर उनके सामने कोई माडल (जैसे मैला आँचल) न होने के कारण या यों कह लीजिए कि माडल अच्छी तरह न समझ पाने के कारण लेखक मौजी और हवलदारिन आदि का कुछ सतही चित्र उभारकर ही रह जाता है, देहातों के जीवन के सोते की कल-कल ध्वनि इसमें सुनाई नहीं पड़ती। पर लेखक ने यदि अपनी सारी पूँजी इस उपन्यास में नहीं लगा दी है और उसके पास कुछ कहने को शेष है तो आगे हम उससे बहुत कुछ आशा कर सकते हैं। यह सही है कि कनाट प्लेस और मेरीन-ड्राइव की ज़िन्दगी को चित्रित करना ही कला की पराकाष्ठा नहीं है, पर साथ ही केवल कुछ देहाती पात्रों को बिना उन्हें गहराई तक समझे पेश कर देने से भी कोई महान् कृति नहीं बन जाती। जो आर्थिक तथा सामाजिक परिचालका शक्तियाँ पीछे रहकर समाज के रूप का निर्णय करती हैं, उनको भी समझना-समझाना, अवश्य अपनी कला के ज़रिए से ज़रूरी है। लेखक ने अधिक-से-अधिक लोकगीत उद्धृत करके स्थिति में गहराई लाने की कोशिश की है पर एक कमी के कारण पुस्तक सतही रह गई है।

लेखक—सुरेन्द्रपाल; प्रकाशक—नीलाभ प्रकाशन, ५-खुसरो बाग रोड, इलाहाबाद-१; पृष्ठ संख्या—२३५; मूल्य—५ रुपये।

डॉ० विजयेन्द्र स्नातक

ब्रजभाषा और ब्रजबुलि साहित्य

इधर विगत पच्चीस-तीस वर्षों में ब्रजभाषा-साहित्य का अनेक संदर्भों में तथा अनेक दृष्टि-बिन्दुओं से अध्ययन हुआ है। साहित्य के साथ भाषागत अध्ययन को भी समाविष्ट कर लिया जाय तो ब्रजभाषा के अध्ययन-अनुशीलन को हम मोटे तौर पर सात वर्गों में विभाजित कर सकते हैं: साहित्यिक अध्ययन, सामाजिक अध्ययन, साम्प्रदायिक (धार्मिक) अध्ययन, व्याकरणिक अध्ययन, काव्यशास्त्रीय अध्ययन, अभिव्यंजनात्मक अध्ययन, और भाषावैज्ञानिक अध्ययन। एक ही प्रकार के अध्ययन पर दो से अधिक ग्रन्थ भी लिखे गये हैं। और कहीं-कहीं एक ही प्रकार के निष्कर्षों द्वारा अनावश्यक पिष्ट-पेषण भी हुआ है इतिवृत्तात्मक आवृत्ति की भरमार तो इतनी अधिक है कि शैली-भेद के अतिरिक्त तथ्यमूलक कोई नूतन सूचना समूचे ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं होती। प्रस्तुत ग्रन्थ को पड़ते समय भी इसके ब्रजभाषा वाले अंश ने आद्योपान्त इस धारणा को पुष्ट किया कि लेखिका ने भी आवृत्ति को प्रश्रय देकर वृत्ति-संग्रह मात्र किया है; तथ्यानुशीलन तथा तत्वाभिनिवेश को स्वीकार नहीं किया।

विश्वविद्यालयों में ब्रजभाषा के विविध पक्षों पर अनुसन्धान-कार्य हुआ है और आज भी हो रहा है। लगभग सवा सौ शोध प्रबन्ध भाषा और साहित्य के बाह्य एवं आभ्यान्तर पक्षों को विवृत करने के लिए लिखे गये हैं। ब्रजभाषा की गौरव-गरिमा के लिए किये गये ये सब प्रयास स्तुत्य हैं किन्तु प्रयत्न के परिणामों से उपलब्धि की महत्ता का बोध नहीं होता। महत्व-बोध के लिए तो प्रयत्न की गुणवत्ता का ही मापदण्ड होगा। इसमें सन्देह नहीं कि ब्रजमण्डल की भाषा होते हुए भी सोलहवीं शती से १८वीं शती तक यह भाषा अपने अंचल की सीमाओं का अतिक्रमण कर सुदूरपूर्व और पश्चिम तक काव्यभाषा के रूप में गृहीत होने लगी थी। उत्तर-पूर्व के प्रदेशों में भक्ति एवं भक्ति-श्रृंगार की अभिव्यक्ति के लिए ब्रजभाषा को स्वीकार करने वालों में हम ब्रज से बाहर काशी, मगध, बिहार, बंगाल, असम और उड़ीसा तक के भक्त कवियों को पाते हैं। ब्रजबुलि का भक्ति साहित्य इस तथ्य का प्रमाण है कि ब्रजभाषा की माधुरी सुदूरवर्ती प्रदेशों में भी व्याप्त हो गई थी। अभी तक ब्रजबुलि साहित्य का हिन्दी में विधिवत् आकलन नहीं हुआ है। बंगला और अंग्रेजी में बंगाली विद्वानों द्वारा जो ग्रन्थ लिखे गये हैं उन्हीं के आधार पर थोड़ी-बहुत जानकारी हिन्दी भाषियों को मिली है। प्रस्तुत ग्रन्थ में ब्रजबुलि साहित्य का विस्तृत परिचय देने का

'ब्रजभाषा और ब्रजबुलि साहित्य'—लेखिका : डॉ० श्रीमती कणिका तोमर, प्रकाशक : काशी हिन्दी विश्वविद्यालय, वाराणसी-५।

लेखिका ने प्रयास किया है। ब्रजभाषा और ब्रजबुलि दोनों साहित्यों को एक ग्रन्थ में संग्रथित करने का यह पहला प्रयास नहीं है किन्तु ब्रजबुलि पर व्यापक दृष्टि से पहली बार इस ग्रन्थ में चर्चा हुई है।

दस अध्यायों में विभक्त यह ग्रन्थ मुख्यतः दो भागों में विभाजित है। लेखिका ने इसका दो खण्डों में विभाजन नहीं किया। किन्तु विषयवस्तु के आधार पर इसको दो खण्डों में विभाजित समझना चाहिए। प्रारम्भ में दो प्रकार की विषयसूची दी गई है जो १९ पृष्ठों में है जिसके शीर्षक तथा उपशीर्षकों की संख्या लगभग ५०० होगी। विस्तृत विषयसूची के शीर्षक-उपशीर्षकों को पढ़कर पाठक वर्ण्य विषय के सम्बन्ध में जो धारणा बनाता है वह पुस्तक के पढ़ते ही धूमिल होने लगती है और पुस्तक के अन्त तक पहुँचते-पहुँचते नष्ट हो जाती है। ग्रन्थ के शीर्षक-उपशीर्षकों का संधान किसी नूतन तथ्य या तत्व को उपस्थित करने वाला ही हो, यह आवश्यक नहीं है। ग्रन्थ के राजमार्ग में दस-दस कदम पर लगे ये लैम्प पोस्ट (शीर्षक) ठूंठ से खड़े दीखते हैं, इनमें प्रकाश विकीर्ण करने वाली ज्योति नहीं है।

हिन्दी में शोध-ग्रन्थों को लिखने की एक वैज्ञानिक, तथ्यानुशीलनपूर्ण दृष्टि का पिछले दस-पन्द्रह वर्षों में विकास हुआ है। अज्ञात या अल्पज्ञात तथ्यों को प्रामाणिक शैली से उद्‌घाटित या स्थापित करने की दिशा में अच्छी प्रगति हुई है। आजका शोधकर्ता केवल तथ्य-संकलन तक ही अपने को सीमित नहीं रखता वरन् तात्त्विक विवेचन से अपनी मान्यताओं को ग्राह्य एवं उपादेय बनाता है। मुझे यह देखकर आश्चर्य हुआ कि प्रस्तुत ग्रन्थ में ब्रजभाषा खण्ड की सामग्री न तो अज्ञात का उद्‌घाटन है और न अल्प या अर्धज्ञात की स्थापना ही। जिस सामग्री को लेखिका ने संकलित किया है उसमें पाँच प्रतिशत भी नयी नहीं है। खेद की बात यह है कि उन ग्रन्थों को लेखिका ने प्रमाण और आधार माना है जो आज से लगभग ४० वर्ष पूर्व ब्रजभाषा साहित्य के सन्दर्भ में प्रकाशित हुए थे। पाँच-सात ग्रन्थों को छोड़कर वही ग्रन्थ स्थान-स्थान पर उद्‌धृत हुए हैं और उनकी मान्यताओं को दुहरा दिया गया है। इधर पिछले दस वर्षों में ब्रजभाषा के सभी पक्षों पर शोध तथा समीक्षा दोनों दृष्टियों से विपुल साहित्य प्रकाश में आया है जिसकी कोई जानकारी लेखिका को नहीं है। ब्रजभाषा के साम्प्रदायिक भक्ति साहित्य पर शोध की दृष्टि से जो कुछ इधर लिखा गया है उसने बहुत सी रूढ़ धारणाओं को समाप्त कर नयी सूचनाएँ, पुष्ट प्रमाणों के आधार पर जुटाई हैं। निम्बार्क, हरिदासी, राधावल्लभीय, वल्लभ, और वंशीअलि आदि के सम्प्रदायों पर दुहरे-तिहरे ग्रन्थ लिखे गये हैं और पूरा क्रमबद्ध इतिहास, सर्वांगीण समीक्षा के साथ तैयार हो चुका है। लेखिका को ब्रजसाहित्य के साम्प्रदायिक पक्ष पर लिखते समय इस शोध साहित्य की जानकारी न होना विस्मयजनक नहीं तो क्या है !

ब्रजभाषा और ब्रजबुलि साहित्य शीर्षक से शोध प्रबन्ध लिखते समय लेखिका ने यह नहीं लिखा कि ब्रजभाषा के अन्तर्गत वह केवल भक्ति साहित्य को ही समाविष्ट कर रही है। उसके अन्तर्मन में कुछ भी क्यों न रहा हो। किन्तु प्रबन्ध के शीर्षक में पूरा ब्रजभाषा साहित्य समाया हुआ है। अतः रीतिकाल और परवर्ती ब्रज-

भाषा साहित्य को नितान्त उपेक्षित रखना प्रबन्ध की भारी भूल है। यदि शीर्षक में किसी भी तुलनात्मक दृष्टि का संकेत होता तो यह शीर्षक अतिव्याप्त न माना जाता। 'ब्रजभाषा का भक्ति साहित्य और ब्रजबुलि साहित्य' शीर्षक होता तो भी किसी सीमा तक सार्थकता स्वीकार की जा सकती थी। लेखिका ने सत्यनारायण कविरत्न और रत्नाकर के नाम 'ब्रजभाषा का उद्भव और विकास' शीर्षक अध्याय में दिये हैं और वहीं भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की भी चर्चा हुई है किन्तु भक्ति के सम्बन्ध में उन्होंने इन कवियों के काव्य का उल्लेख नहीं किया। कोष्ठक में तुलनात्मक अध्ययन लिखकर लेखिका ने भ्रममूलक संकेत ही दिया है, यथार्थ स्थिति का आवरण है यह कोष्ठक-बद्ध संकेत।

वैष्णव धर्म का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत करते हुए लेखिका ने न तो वैष्णव धर्म के मूल का संस्थान किया है और न विधायक तत्त्वों का ही परिचय वे दे सकी हैं। इस सम्बन्ध में जो ग्रन्थ अद्यावधि लिखे गये हैं उनके अध्ययन का कष्ट भी स्वीकार नहीं किया गया। फलतः पाठक को न तो वैधर्म धर्म के इतिवृत्त का बोध होता है और मौलिक उपदानों की जानकारी ही उपलब्ध होती है। इस अध्याय को यदि लेखिका इस रूप में न लिखती तो अपनी सीमाओं में रहने से अपने विषय के साथ अवश्य न्याय कर पातीं। इसी अध्याय में दो अन्य प्रसंग भी लिखे गये हैं, एक है साहित्य तथा शिल्प में राधा-कृष्ण का स्वरूप और दूसरा है वल्लभ तथा चैतन्य से पूर्व का वैष्णव काव्य-साहित्य। इनमें जो तथ्य संकलित हैं वे सुविचारित तथा सम्यक् प्रतिपादित न होने से प्रमाण की सीमा में नहीं आते। राधाकृष्ण सम्बन्धी तथ्य तो अनेक ग्रन्थों में बार-बार लिखे जा चुके हैं, उनकी आवृत्ति निरर्थक ही है।

दूसरे अध्याय में 'ब्रजभाषा का उद्भव और विकास' शीर्षक से २६ पृष्ठों में जो तथ्य संकलित किये गये हैं वे शृंखलाबद्ध किन्तु संक्षिप्त हैं। ब्रजभाषा के गद्य-साहित्य की चर्चा तो इस प्रसंग में हुई है किन्तु उसके स्वरूप का निरूपण नहीं हुआ। 'शृंगार मण्डन' ग्रन्थ की भाषा को अव्यवस्थित लिखा गया है। मैं जानना चाहता हूँ कि क्या लेखिका ने इस ग्रन्थ के दर्शन किये हैं? यह ग्रन्थ ब्रजभाषा का है या संस्कृत का? टीका ग्रन्थों के गद्य की चर्चा करते समय भी कुछ नाम यों ही गिना दिये गये हैं जिनके गद्य की कोई व्याख्या-विवेचना नहीं है। ब्रजभाषा के नाटकों में ध्रुवदास का बयालीस लीला का उल्लेख पाकर आश्चर्य हुआ। ऐसा लगता है कि लेखिका ने लीला शब्द देखकर ही नाटक समझ लिया, मूल ग्रन्थों के पन्ने उलटने का कष्ट नहीं उठाया।

तीसरे अध्याय में ब्रजभाषा साहित्य पर वैष्णवता का प्रभाव दिखाते हुए अप्रासंगिक एवं अनुपयुक्त उपशीर्षकों के भीतर जो कुछ संगृहीत है उसका विषय से कोई सम्बन्ध नहीं है। इस अध्याय में ब्रज के भक्ति सम्प्रदायों का भी वर्णन हुआ है जो प्रामाणिक तथ्यों पर आधृत न होकर प्रारम्भिक, अपूर्ण सूचनाओं पर निर्भर करता है। वल्लभ सम्प्रदाय का वर्णन तो विस्तार से किया गया है क्योंकि उस पर डॉ॰ दीनदयाल गुप्त का शोध प्रबन्ध सहज उपलब्ध था, किन्तु शेष सम्प्रदायों का साहित्य पढ़ने [illegible] श्रम नहीं किया गया। चौथा अध्याय ही वल्लभ सम्प्रदाय को समर्पित है

और उसमें कोई नवीनता नहीं है। चार पृष्ठों में सम्प्रदायों के संकेत मात्र हैं। पाँचवें अध्याय का आधा भाग भी बल्लभ सम्प्रदाय के कवियों का परिचायक है। इन पाँच अध्यायों को, जो प्रबन्ध का प्रथम खण्ड बनाते हैं, यदि संक्षेप में १००-१५०० पृष्ठों में लिखा जाता तो प्रबन्ध के गठन तथा मौलिकता की रक्षा होती। ३८० पृष्ठ लिखकर भी कोई मौलिक स्थापना लेखिका ने नहीं की है।

प्रबन्ध के छठे अध्याय से दसवें अध्याय तक ब्रजबुलि साहित्य का परिचय है। ये अध्याय हिन्दी जगत् के लिए नवीन सूचनाएँ देने वाले हैं। अंग्रेजी और बंगला में इस सम्बन्ध में पर्याप्त लिखा जा चुका है किन्तु हिन्दी भाषियों में बहुत कम व्यक्तियों ने उसे पढ़ा है। अतः लेखिका का यह श्रम निरर्थक नहीं सिद्ध होगा। 'ब्रजबुलि के उद्भव और विकास' को वैज्ञानिक शैली से प्रस्तुत कर लेखिका ने एक प्रशंसनीय एवं उपादेय कार्य किया है। ब्रजबुलि के व्याकरण का भी इस अध्याय में, संक्षेप में, विवरण है जो ब्रजभाषा के साथ तुलना करने पर उसके व्यावर्तन में सहायक होगा। ब्रजबुलि साहित्य के नेपाल, आसाम, उड़ीसा आदि प्रान्तों के प्रचार को भी शोध-दृष्टि से प्रतिपादित किया गया है। बंगाल के ब्रजबुलि साहित्य का विस्तार से परिचय देने के लिए नवम अध्याय को स्वतन्त्ररूप से लिखकर लेखिका ने उपादेय सामग्री जुटा दी है। यह अध्याय भी प्रबन्ध की बड़ी उपलब्धि समझी जानी चाहिए। सातवें और आठवें अध्यायों को विषय से सम्पृक्त करने की चेष्टा में लिखा गया है किन्तु उस लोभ का संवरण किया जाता तो अच्छा रहता। छठे और नौवें अध्यायों के प्रस्तुत करने में जो सफलता लेखिका को मिली है वह इन बीच के अध्यायों के जोड़ने से द्विगुणित नहीं होती।

दसवाँ अध्याय तुलनात्मक दृष्टि से लिखा गया है, जिसमें तुलना के लिए जितना अवकाश था उसका पूरी तरह उपयोग नहीं हुआ। अच्छा यह होता कि ब्रजभाषा और ब्रजबुलि के भावसादृश्य, अर्थसादृश्य, विषयसादृश्य, भाषासादृश्य एवं अभिव्यंजनासादृश्य के पद संकलित करके उनकी तुलना प्रस्तुत की जाती। यह कार्य आगे कार्य करने वालों के लिए प्रेरणाप्रद होता तथा दोनों भाषाओं के भावसाम्य तथा अभिव्यक्तिसाम्य को उद्घाटित करता। छन्द और अलंकारों के शीर्षक में साम्य की चर्चा जिस शैली से हुई है वह किसी भी प्रयोजन की पूर्ति नहीं करती। न तो उससे तुलनात्मक दृष्टि का उन्मेष होता है और न विषय-बोध ही।

संक्षेप में, इस शोध-प्रबन्ध की सबसे बड़ी उपलब्धि है ब्रजबुलि साहित्य का व्यापक धरातल पर परिचय। हिन्दी के वैष्णव भक्त कवियों ने जिस काल में अपनी भावनाओं को ब्रजभाषा के माध्यम से व्यक्त किया उसी काल में बंगाल, आसाम, उड़ीसा आदि सुदूरपूर्व के भक्त कवियों ने ब्रजबुलि के सरस माध्यम से किया था। लेखिका ने गम्भीर अध्यवसाय पूर्वक ब्रजबुलि साहित्य का मर्मोद्घाटन कर अच्छी जानकारी दी है। हिन्दी के भक्तिसाहित्य अध्येताओं को इस ग्रन्थ से लाभ उठाना चाहिए। लेखिका यदि ब्रजभाषा के साहित्य का परिचय न देकर केवल तुलनात्मक अंश पर बल देतीं तो निश्चय ही यह प्रबन्ध अत्यन्त उपयोगी और मौलिक बन जाता।

डॉ० शिवकुमार मिश्र

'साहित्य-सिद्धान्त'

'साहित्य-सिद्धान्त' डॉ० रामअवध द्विवेदी की नव्यतम समीक्षाकृति है जिसमें उन्होंने भारतीय तथा पश्चिमी साहित्य-चिन्तन की मूलभूत दिशाओं को हिन्दी के विचारशील पाठकों तथा विद्वानों के सम्मुख स्पष्ट करने का प्रयास किया है। डॉ० द्विवेदी पश्चिमी साहित्य-चिन्तन के माने हुए विद्वान हैं, प्रस्तुत कृति उन्हें भारतीय काव्य-शास्त्र के भी गम्भीर अध्येता तथा विचारक के रूप में सामने लाती है। यों उनकी 'साहित्य-रूप' पुस्तक में भी साहित्य-रूपों का विवेचन-विश्लेषण भारतीय तथा पश्चिमी साहित्य-चिन्तन के समानान्तर सूत्रों को ही उपस्थापित करते हुए हुआ है, परन्तु निर्विवाद रूप से इस कृति में डॉ० द्विवेदी पश्चिमी चिन्तन के साथ-साथ भारतीय काव्य-शास्त्र की गहराइयों में भी समान सफलता के साथ उतरे हैं, और तभी सिद्धान्तों की भूमि से एक बार पुनः अधिक सामर्थ्य के साथ भारतीय तथा पश्चिमी साहित्य-चिन्तन के समानान्तर सूत्रों को एकजूटता देने में सफल हुए हैं। यहाँ आरोपित समन्वय स्थापित करने अथवा साम्य प्रदर्शित करने की चेष्टा नहीं है, प्राचीन काल से लेकर अब तक के साहित्य-चिन्तन (भारतीय तथा पाश्चात्य दोनों) की वस्तुपरक, ऐतिहासिक विकास-क्रम पर आधारित व्याख्या के दौर में उनकी निसर्ग एकरूपता और इस प्रकार साहित्य-चिन्तन की एक सार्वभौम भूमिका का प्रत्याख्यान है। बल्कि कहना चाहिए कि भारतीय तथा पश्चिमी साहित्य-चिन्तन के दीर्घकालीन अध्ययन तथा मनन के क्रम में उद्घाटित होने वाले इस तथ्य ने ही उन्हें प्रस्तुत ग्रन्थ लिखने की मूल प्रेरणा प्रदान की है। ग्रन्थ की भूमिका के रूप में लिखी गई उनकी कतिपय पंक्तियों का उद्धरण यहाँ अप्रासंगिक न होगा—

"कुछ दिन पहले मेरा 'साहित्य-रूप' नामक ग्रन्थ प्रकाशित हुआ था। उसकी भूमिका में मैंने साहित्य की अखण्डता में अपने विश्वास की चर्चा की है। प्रस्तुत ग्रन्थ भी उसी विश्वास से प्रेरित है। सिद्धान्तों के तुलनात्मक अध्ययन से अनेक समानताएँ उद्घाटित होती हैं और सार्वभौम साहित्य-चिन्तन का एक ऐसा विशाल क्षेत्र दृष्टि-गोचर होता है, जिस पर सभी देशों और जातियों का अधिकार है। इसी सामान्य धरातल पर भारतीय साहित्य-शास्त्र का नव-निर्माण होगा।"

कहना न होगा कि तुलनात्मक तथा ऐतिहासिक विवेचन के दौर से गुज़रते हुए डॉ० द्विवेदी ने पुस्तक में निस्सन्देह अपनी उक्त स्थापना को सप्रमाण प्रस्तुत किया है और इस प्रकार साहित्य की भारतीय तथा पश्चिमी मनीषा की समानान्तर दिशाओं—प्रकारान्तर से साहित्य की सार्वभौमिकता को निर्विवाद घोषित किया है। उक्त सन्दर्भ में ही लेखक ने आज के जिज्ञासु पाठकों के लिए भारतीय तथा पश्चिमी साहित्य-सिद्धान्तों के समानरूपेण अध्ययन की आवश्यकता प्रतिपादित की है और

लेखक—डॉ० रामअवध द्विवेदी, प्रकाशक—बिहार, राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, मूल्य ५)।

प्रस्तुत पुस्तक के रूप में इस प्रकार के अध्ययन का मार्ग भी उनके लिए सुलभ कर दिया है। भारतीय तथा पश्चिमी साहित्य-चिन्तन की समानान्तर भूमिकाओं को लेते हुए अथवा उनकी मूलवर्ती दिशाओं को स्पष्ट करते हुए यों अब तक अनेक ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं, परन्तु जितने विस्तार, स्पष्टता तथा पारदर्शिता के साथ डॉ० द्विवेदी की प्रस्तुत कृति दोनों स्थानों के साहित्य-चिन्तन को उपस्थापित करती है, वैसी निर्भ्रान्त, स्पष्ट तथा पूर्वाग्रह रहित वस्तुपरक दृष्टि एकाध अपवादों को छोड़कर अन्य ग्रन्थों में प्रायः विरल ही है। यह सफलता विषय पर लेखक के अधिकार की घोषणा करती है। नामों का उल्लेख जान-बूझकर नहीं करना चाहता, परन्तु इस अधिकार से संपृक्त समीक्षात्मक प्रयास इधर हिन्दी में दिन-दिन छीजते ही चले जा रहे हैं। डॉ० द्विवेदी की शैली गहन-से-गहन विषय को भी अतीव सहजता तथा रोचकता के साथ प्रस्तुत करने की क्षमता रखती है। शैली का यह गुण—विशेषकर एक समीक्षक की शैली का यह गुण अपने में एक महत्वपूर्ण उपलब्धि है।

सम्पूर्ण ग्रन्थ में कुल चौदह प्रकरण हैं जिनमें क्रमशः काव्य-प्रेरणा, अनुकरण सिद्धान्त, रेचन सिद्धान्त, रस-सिद्धान्त, शब्द, अर्थ और शक्ति, औदात्य और आह्लाद, भ्रान्ति और अन्विति, नाट्य तत्व सम्बन्धी प्राचीन तथा नवीन मतों, सर्जनात्मक कल्पना, साहित्य और यथार्थ, काव्य-कला का स्वायत्व, पुरावृत, स्वप्न, बिम्ब, प्रतीक, पश्चिम के क्रोचे, इलियट तथा रिचर्ड्स के साहित्यिक विचारों तथा साहित्य के अध्ययन की विभिन्न पद्धतियों पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है। स्पष्ट है कि डॉ० द्विवेदी ने इन शीर्षकों के अन्तर्गत साहित्य अथवा काव्य-विवेचन को उसकी सम्पूर्णता में समेटने का प्रयास किया है। काव्य के समस्त महत्वपूर्ण पक्षों से सम्बद्ध विवेचन की यह परिपूर्णता मेरे विचार से ग्रन्थ का एक अतिशय आकर्षक पक्ष है। जैसा हम कह चुके हैं विषय-स्थापन की प्रणाली वस्तुपरक, ऐतिहासिक तथा तुलनात्मक है। इस पद्धति से अनेक लाभ हुए हैं। प्रथमतः प्रतिपाद्य विषय को उठाते हुए लेखक ने उसे पूरी पारदर्शिता से उपस्थित करने के उद्देश्य से एक-एक तत्व से मिलते-जुलते सभी सम्भव इतर तत्वों या वस्तुओं से उसका अन्तर स्पष्ट किया है और इस विधि से प्रतिपाद्य तत्व का सारा वैशिष्ट्य आप-से-आप उद्घाटित हो गया है,[1] द्वितीय सम्पूर्ण उपलब्ध विचार एक ऐतिहासिक क्रम में अपने समानान्तर भारतीय तथा पश्चिमी सूत्रों को लिए हुए सही सन्दर्भ में सामने आ गए हैं। उपलब्ध ज्ञान को समेटकर उसे व्यवस्थित तथा तर्क-संगत ढग से उपस्थापित करना मेरे विचार से इस

१. इस प्रसंग में डॉ० द्विवेदी के कल्पना-विषयक विवेचन को ही उदाहरण के रूप में लिया जा सकता है। उसके अन्तर्गत उन्होंने कल्पना तथा 'फैन्सी' का ऐतिहासिक क्रम से स्वरूप-विकास, उनके परिनिष्ठित रूप, प्रभेदों का तात्विक कार्य एवं अन्तर तो स्पष्ट किया ही है उनसे मिलती-जुलती अन्य क्रियाओं—बुद्धि, भावना (प्रतिभा आदि) से भी उनके साम्य-वैषम्य को कुशलता से स्पष्ट किया है। 'फैन्सी' का स्वरूप तथा स्थान निरूपित करते हुए उनकी यह मान्यता कि मौलिक कल्पना, उत्तरजात कल्पना, बुद्धि एवं विशुद्ध तर्क की कोटियों में 'फैन्सी' का स्थान उत्तरजात कल्पना के निकट है, उनकी पैनी दृष्टि के साथ उनकी साहित्य मर्मज्ञता की भी परिचायक है।

प्रकार के समीक्षा-ग्रन्थ की पहली अनिवार्यता है। इसके आगे फिर अपनी व्याख्याओं तथा निष्कर्षों का क्षेत्र आता है। डॉ० द्विवेदी की समीक्षा प्रथम स्थिति तक पहुँचकर ही शेष नहीं हो गई है, उपलब्ध विचारों को प्रस्तुत करने के क्रम में ही उनकी अपनी धारणाएँ भी सामने आती गई हैं, जो उनके चिन्तन को दूसरी स्थिति में भी सक्रिय बनाती हैं। उदाहरण के लिए रस-सम्बन्धी भारतीय चिन्तन तथा सौन्दर्य-सम्बन्धी पश्चिमी चिन्तन को उसकी समग्रता में प्रस्तुत करते हुए उन्होंने स्पष्टतः रसानुभूति को अधिक स्थायी स्वीकार किया है। सौन्दर्यानुभूति-सम्बन्धी पश्चिमी धारणा उनके मत से अपेक्षाकृत अधिक तात्कालिक, फलतः काव्य सत्ता के साथ सम्पूर्ण न्याय करने वाली नहीं है।[1] औदात्य तथा आह्लाद की चर्चा करते हुए उन्होंने सौन्दर्यजनित आह्लाद तथा औदात्यजनित आह्लाद में निश्चित अन्तर स्वीकार किया है। उनके मत से जिस प्रकार सुन्दर तथा उदात्त भिन्नार्थक हैं, उसी प्रकार उनसे प्रसूत आह्लाद भी। औदात्यजनित यह आह्लाद रसानुभूति से उत्पन्न आह्लाद से भी भिन्न है कारण "औदात्य से सम्बद्ध आह्लाद की तह में भय, आश्चर्य, पीड़ा आदि अन्य भावनाएँ भी विद्यमान रहती हैं," जब कि रस की परिधि के भीतर भयावह विषयों एवं पदार्थों के लिए किसी ऐसी अनिवार्यता अथवा सीमा का बन्धन नहीं है।[2] यह मत उन धारणाओं को भी खण्डित करता हुआ दिखाई पड़ता है जो औदात्य को ही महाकाव्य की रीढ़ स्वीकार करती हुई उसे ही काव्य की आत्मा का गौरव प्रदान करती हैं। रेचन-सिद्धान्त की चर्चा के क्रम में उन्होंने उसे मात्र ट्रेजेडी के ही अन्तर्गत सीमित कर देने वाली धारणाओं का विरोध किया है। वे उसे अभावात्मक भी स्वीकार नहीं करते, बल्कि भारतीय साधारणीकरण से उसका सम्बन्ध स्थापित करते हुए उसे अधिक सामान्य भूमि पर मान्यता देते हैं, जो काव्य की सही भूमि है। 'भ्रान्ति तथा अन्विति' सम्बन्धी विवेचन के अन्तर्गत अन्विति-सम्बन्धी उनकी धारणा प्राचीन विचारकों की अपेक्षा स्वच्छन्दतावादी चिन्तकों के अधिक समीप है। कार्यान्विति को एक सीमा तक स्वीकृति देते हुए उन्होंने देश और काल सम्बन्धी अन्विति को आज के युग के लिए अस्वीकार किया है। उनका मत है कि रंगमंच की बदली हुई स्थितियों के सन्दर्भ में आज वे कारण लगभग समाप्त हो गए हैं जिन्हें दृष्टि में रखकर किसी समय प्राचीन आचार्यों ने देश और काल सम्बन्धी अन्विति को मान्यता प्रदान की थी। जहाँ तक प्रभावान्वित—Totaleffect का प्रश्न है, उसकी सत्ता से इनकार करने का प्रश्न ही नहीं उठता। इस प्रकार संकलन-त्रय-सम्बन्धी पुरानी धारणा को एक सीमा के भीतर

१. "सौन्दर्य का मन पर सीधा प्रभाव पड़ता है, किन्तु ऐसा प्रभाव स्थायी नहीं होता और निरन्तर विलीन होता रहता है। रसानुभूति से प्राप्त आनन्द इतना क्षणिक नहीं होता। रसास्वाद की अवस्था अपेक्षाकृत स्थायी होती है।...रस किसी तत्काल प्रभाव से उत्पन्न नहीं होता, वरन् एक सुनिश्चित व्यवस्था का फल होता है। रस के विभिन्न विधायक तत्व जब सम्यक् रीति से नियोजित होते हैं, तभी रस का आविर्भाव होता है। अतः यह प्रक्रिया न तो तत्काल सम्पन्न होने वाली है, और न इतनी सरल है जितनी योरोपीय कलावादियों के प्रभाव ग्रहण की प्रक्रिया।" पृष्ठ १४०-१४१।

२. पृष्ठ ६८।

अंशतः ही स्वीकृति देकर उन्होंने अपने स्वतन्त्र दृष्टिकोण का परिचय दिया है। सम्पूर्ण पुस्तक में इस प्रकार डॉ० द्विवेदी की अपनी दृष्टि का योग है। पूर्वाग्रहों से परे, अपने दृष्टिकोण को सामने रखते हुए भी उन्होंने दूसरों की दृष्टि की उपेक्षा नहीं की है। ऐसे अनेक स्थल हैं जहाँ अपनी बात कहते हुए भी उन्होंने दूसरों को आमन्त्रित किया है कि वे भी अपने विचारों से विषय पर नया आलोक फेंकें। साहित्य-समीक्षा का यह एक स्वस्थ दृष्टिकोण है, जिसका स्वागत होना चाहिए।[1]

विवेचन के अन्तर्गत डा० द्विवेदी की अपनी दृष्टि विशुद्ध साहित्यिक है। उन्होंने काव्य को सर्वप्रथम काव्य के रूप में ही देखा है, और उनके मत से काव्य-चिन्तन की यही सच्ची भूमि है। दृष्टिकोण जन्य इस स्थिति पर कुछ विवाद उठ सकता था, परन्तु चूंकि डॉ० द्विवेदी ने काव्य की निर्व्याज सत्ता को स्वीकृति देते हुए भी उसके असमाजिक, जीवन से असंपृक्त रूप की भर्त्सना की है, अतः विवाद की भूमियाँ बहुत कुछ समाप्त हो गई है। 'काव्य कला का स्वायत्व' शीर्षक प्रकरण ही 'काव्य-काव्य के लिए' अथवा 'कला-कला के लिए' मानने वालों का विरोध करता है।

कतिपय समीक्षकों के मत से डॉ० द्विवेदी पाश्चात्य साहित्य-चिन्तन से विशेष रूप से प्रभावित हैं, परन्तु जब हम रसास्वाद-सम्बन्धी उनकी विवेचना तथा मान्यताओं पर दृष्टिपात करते हैं तो उक्त प्रकार के पूर्वाग्रही दृष्टिकोण की कोई गुँजाइश नहीं रह जाती। निस्सन्देह कतिपय क्षेत्रों में डॉ० द्विवेदी पश्चिमी काव्य-चिन्तन की गहराई से अभिभूत हुए हैं, परन्तु ऐसा वहीं है जहाँ इसके लिए अवकाश है। सर्जनात्मक कल्पना-सम्बन्धी विवेचन का ही उदाहरण लें। कहना न होगा कि इस विषय पर जितना तलस्पर्शी विवेचन हमें पश्चिमी साहित्य-चिन्तन में उपलब्ध होता है, उतना भारतीय काव्य-चिन्तन में नहीं। पश्चिमी साहित्य-चिन्तन की उपलब्धियों की हार्दिक स्वीकृति एक बात है, अपने दृष्टिकोण में सम्पूर्णतः उन्हीं से अनुशासित होना बिलकुल दूसरी बात। पश्चिमी साहित्य-चिन्तन से उनके घनिष्ठ सम्पर्क ने यदि उनके विवेचन में अपने संस्कार छोड़े हैं तो इसे स्वाभाविक ही कहा जायगा, परन्तु भारतीय चिन्तन की रेखाएं उनकी समीक्षा में विरल हों—ऐसी बात नहीं। फिर जो समीक्षक साहित्य-चिन्तन की सार्वभौम भूमिका का हिमायती हो और उसी दिशा में कार्यरत हो, उसके लिए तो पश्चिम और पूर्व का यह भेद और भी मिथ्या हो जाता है।

पुस्तक के कतिपय विवेच्य स्थलों को लेकर विवाद की सम्भावना भी हो सकती है। उदाहरणार्थ हम केवल काव्य-प्रेरणा वाला प्रकरण ही लेंगे। अधिकांश भारतीय तथा पश्चिमी विचारकों की भाँति वे सबसे उत्तम साहित्य उसे ही स्वीकार करते हैं जो प्रेरणामूलक हो। ठीक भी है, प्रेरणा से रहित साहित्य अपेक्षित उत्कर्ष

१. "रस सिद्धान्त में जिन भावनाओं की चर्चा आती है और जिनका अपूर्व महत्त्व है उनके अन्तराल तथा परिपार्श्व में विद्यमान रहकर अपना अद्भुत कार्य करने वाली वह विधायिनी शक्ति कदाचित कल्पना ही है। हम इस प्रश्न पर यहाँ अधिक नहीं लिखेंगे, केवल थोड़ी सी बातें कहकर इस दिशा में विचार करने के लिए हम विद्वानों को आमन्त्रित करते हैं।" पृष्ठ १०८।

नहीं प्राप्त कर पाता, परन्तु प्रश्न यह है कि उस प्रेरणा का स्वरूप क्या है ? अधिकांश विचारक उसे दैवी मानते हैं और डॉ० द्विवेदी ने भी उनके मत से सहमति प्रकट की है। प्रेरणा के स्वरूप की यही दैवी भूमिका काव्य तथा साहित्य में रहस्यवाद, अनिर्वचनीय तथा अलौकिक आनन्दवाद आदि-आदि को जन्म देती है। और इस रहस्यवाद ने काव्य के भीतर प्रविष्ट होकर उसे जितनी अस्पष्ट, असम्भव, अलौकिक, असामाजिक भूमियों पर पहुँचाया है, वह किसी से छिपा नहीं है। इस प्रकार के रहस्यवाद के हिन्दी में सबसे बड़े विरोधी थे आचार्य रामचन्द्र शुक्ल। उन्होंने काव्य या साहित्य के समस्त दैवी आच्छदों को एक ओर हटाते हुए उसके लौकिक स्वरूप पर ही बल दिया। प्रेरणा को उन्होंने नकारा नहीं, उसकी सत्ता इसी नाना रूपमय जगत के भीतर मानी। मार्क्सवादी चिन्तकों का मत भी बहुत कुछ यही है। डॉ० द्विवेदी ने काव्य-प्रेरणा का विवेचन करते हुए जहाँ अन्य मतों का सविस्तार उल्लेख किया है, वहाँ पता नहीं क्यों मार्क्सवादी धारणा की चर्चा नहीं की। आशा है पुस्तक के नये संस्करण में वे इस प्रश्न पर प्रकाश डालेंगे।

जिस प्रकार बुद्धि या विचारधारा की कोई सीमा नहीं, उसी प्रकार विवेचन तथा विश्लेषण की दिशाएँ भी असीम हैं। काव्य-चिन्तन के प्रायः सभी महत्वपूर्ण पक्षों को अपने चिन्तन की परिधि में समेटते हुए भी यदि डॉ० द्विवेदी से कुछ अपेक्षाकृत कम महत्वपूर्ण विषय छूट गए हों, तो उक्त कथन के सन्दर्भ में इसे स्वाभाविक ही कहा जाएगा। देखना यह है कि जिन विषयों पर पुस्तक में प्रकाश डाला गया है वे कहाँ तक व्यवस्थित एवं निभ्रान्त रूप में सामने आ सके हैं ? इस प्रश्न का उत्तर हम प्रारम्भ में ही दे चुके हैं, अतः उसे दुहराने की आवश्यकता नहीं। पुस्तक के कतिपय प्रकरण जहाँ अपने विषय से सम्बद्ध अब तक की उपलब्ध सम्पूर्ण ज्ञान-राशि को वस्तुपरक भूमिका पर सविस्तार प्रस्तुत करते हैं वहाँ अनेक प्रकरण ऐसे भी हैं जो लेखक की अपनी मनेभूमि को भी स्पष्ट करते हुए विचारशील पाठक को नये सिरे से सोचने के लिए प्रेरित करते हैं। भारतीय तथा पश्चिमी साहित्य-चिन्तन की जिन समान दिशाओं का उल्लेख पुस्तक में है भारतीय काव्य-शास्त्र के नव-निर्माण में संलग्न विद्वान उनका समुचित उपयोग करेंगे—ऐसी आशा सहज ही की जानी चाहिए। डॉ० द्विवेदी की यह पुस्तक उनकी काव्य-मर्मज्ञता, विद्वत्ता तथा चिन्तन-क्षमता को तो असंदिग्ध रूप से प्रमाणित ही करती है, भारतीय तथा पाश्चात्य काव्य-चिन्तन के अध्येताओं के सम्मुख आगे के चिन्तन के लिए नए द्वार भी उन्मुक्त करती है।

डॉ० आनन्दप्रकाश दीक्षित

दिनकर : सृष्टि और दृष्टि

ओजस्वी कवि के रूप में दिनकर ने जो सम्मान अर्जित किया है, उससे कम सम्मान उन्हें 'उर्वशी' जैसी ललित कलाकृति के कृती लेखक के रूप में नहीं मिला है। संस्कृति और इतिहास के चिन्तक, स्वस्थ आलोचक और स्वच्छ गद्य लेखक के रूप में भी 'दिनकर' की उतनी ही प्रतिष्ठा है। स्वाभाविक है कि तीस वर्ष की अथक साहित्य-सेवा आलोचकों का ध्यान आर्कषित करे और पत्रिकाओं में की जानेवाली चर्चाओं से आगे बढ़कर 'दिनकर' के सम्पूर्ण कृतित्व और उनके व्यक्तित्व का एक या अनेक व्यक्तियों द्वारा पुस्तकों के रूप में अनुशीलन-परिशीलन हो। पिछले कुछ वर्षों में उनके कवि-रूप का व्याख्यान करनेवाली कई पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं। प्रस्तुत पुस्तक उनके सम्पूर्ण व्यक्तित्व और कृतित्व दोनों की चर्चा करती है और इस चर्चा में योग देने वाले ३४ लेखों के ३२ लेखकों में सर्वश्री डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, डॉ० नगेन्द्र, आचार्य शिवपूजन सहाय, बनारसीप्रसाद चतुर्वेदी, मन्मनाथ गुप्त भी हैं और श्रीमती कमलारत्नम्, श्री पी० रामेश्वरम्, बालस्वरूप राही, आदि भी हैं। ऐसे संग्रहों में प्रायः होता यह है कि पूर्व-प्रकाशित लेखों के लेखकों से स्वीकृति लेकर संग्रह तैयार कर लिया जाता है, उसके पीछे कोई निश्चित दृष्टि नहीं रहती। सौभाग्य से इस संग्रह के सम्पादक अपने उत्तरदायित्व के प्रति सचेत हैं, अतः 'दिनकर' के व्यक्ति और कृती दोनों रूपों के अन्तर्गत विकास पानेवाली भावधारा और बौद्धिक चेतना से प्रसंगतः संबद्ध महत्वपूर्ण प्रश्नों पर सुचिन्तित लेखों का संग्रह तैयार करना ही उनका लक्ष्य रहा है। एक ही पुस्तक के सम्बन्ध में प्रचलित विभिन्न मतों का स्वतन्त्र लेखों के रूप में संग्रह इसीलिए किया गया है। उर्वशी काव्य पर इसीलिए चार और कुरुक्षेत्र पर दो लेख संगृहीत हैं। लेखों का संग्रह-क्रम कवि के कृतित्व को एक ऐतिहासिक-क्रम में स्पष्ट करने में साधक सिद्ध होगा। रेणका से सामधेनी तक की कृतियों का मूल्यांकन प्रायः विवरणात्मक होते हुए भी सम्पूर्ण पुस्तक का स्वर विवेचनात्मक ही अधिक है। मूल विषय से सम्बद्ध अनेक प्रश्नों को उपस्थित करते हुए आलोच्य लेखक की विचारधारा और उसके कवि-कौशल का प्रकाशन जितनी सुचारुता से इन लेखों में हुआ है, उतनी ही सामर्थ्य के साथ प्रत्येक आलोचक की स्वतन्त्र दृष्टि का उन्मीलन भी हुआ है। सम्पादकों के द्वारा किसी एक ही दृष्टि के पोषक लेखों अथवा लेखकों का संग्रह न किया जाना, एक शुभ लक्षण है। विभिन्न लेखों में उठाए गए प्रश्नों को आधार बनाकर लिखी गई सुस्पष्ट सम्पादकीय पाठक के लिए दिशा निर्देशक का काम करती है।

'दिनकर' के कृतित्व ने विचारकों का ध्यान जिन दिशाओं की ओर आकृष्ट किया है वे हैं, उनकी ओजस्विता, गतिशीलता, गीतोन्मुखता, विद्रोही स्वर, सांस्कृ-

दिनकर : सृष्टि और दृष्टि। सं०—गोपलकृष्ण कौल और हरप्रसाद शास्त्री। प्रकाशक—वातायन प्रकाशन; गाजियाबाद। मूल्य—दस रुपये। पृष्ठ सं०—डिमाई ३२०।

तिक और राष्ट्रीय चेतना, मंगल-कामना और विवेक की संयुक्ति तथा जनतान्त्रिक विचार। संगृहीत लेखों को पढ़ने पर ये सर्वस्वीकृत-सी लगती हैं। उनके सम्बन्ध में जो प्रश्न विशेष चिन्त्य से लगते हैं, वे हैं—१. क्या दिनकर को आचार्य शुक्ल के अनुकूल स्वच्छन्द-धारा का कवि कहा जा सकता है? २. क्या दिनकर 'अज्ञेय' के कथन के अनुरूप 'रोमाण्टिक नैशनलिस्ट' हैं अथवा डॉ० नगेन्द्र के कथनानुसार उन्हें 'सांस्कृतिक-राष्ट्रवादी' लेबिल देकर पहचाना जा सकता है? ३. एक ही काल और परिस्थिति में जीवित रहकर भी दिनकर का काव्य पंत, प्रसाद, निराला और मैथिलीशरण के काव्य से किस माने में भिन्न है और वह किसी वाद के घेरे में कब और क्यों नहीं आता? ४. दिनकर का चिन्तन केवल चिन्तन ही है या कोई समाधान भी प्रस्तुत करता है? तथा ५. खड़ी बोली के साहित्यिक विकास में दिनकर का योगदान क्या है?

उक्त सारी दिशाओं और प्रश्नों का समाधान इस पुस्तक में प्राप्त है। इस सम्बन्ध में प्रकाशित जो वक्तव्य विशेष ध्यान आकर्षित करते हैं वे कुछ इस प्रकार हैं :—डॉ० जयचन्द राय की सम्मति में 'दिनकर' की स्वछन्दता और उनका विद्रोह इस माने में उल्लेख्य नहीं है कि वे स्वच्छन्दतावादी कहे जाने वाले छायावादियों और विदेशी सत्ता के विरुद्ध आवाज उठाने वाले राष्ट्रवादियों के साथ रहे हैं और उनकी कृतियाँ उन धाराओं के अनुकूल हैं, बल्कि वे स्वच्छन्द इसलिए हैं कि, 'कामायनी' या 'तुलसीदास' जैसी गरिमामयी कृतियों की विषय-वस्तु और उनकी शिल्पविधि का आतंक चौथे दशक पर और स्वभावतः 'दिनकर' पर भी था, किन्तु उसके आगे वे नतशिर नहीं हुए। "वह प्रकृति-प्रेमी के रूप में नहीं, बल्कि जीवनद्रष्टा के रूप में 'बनफूल' को 'साधारण' का प्रतीक मानकर, श्रद्धापूर्वक ग्रहण करता है। वर्ण्य-विषय का यह विपर्यय मूलतः स्वच्छन्दतावाद से परिचालित होते हुए भी, छायावादी काव्य रूढ़ियों के विपरीत पड़ा है। 'दिनकर' की प्रारम्भिक रचनाओं में यह विपर्यय विद्रोह के रूप में अंकित है।" शिल्प में बिम्ब-विधायक तत्वों का अभाव और पच्चीकार होने की धीरता के प्रति उनका असम्मोह, दोनों उनके शिल्प-सम्बन्धी विद्रोह या उनकी स्वच्छन्दता के द्योतक हैं। 'नीलकुसुम' एक प्रयोगवादी रचना मानी जाती है, किन्तु श्री बालस्वरूप राही की दृष्टि में" 'ये कविताएँ वे हैं जिनसे होकर 'दिनकर' जी 'उर्वशी' की रसभूमि तक पहुँच सके हैं।" ये प्रयोगवादी रचनाएँ नहीं हैं, इसलिए कि १. 'दिनकर' जी यह नहीं मानते कि जिस नई संवेदना के वे वाहक हैं, वह हिन्दी के सामान्य पाठक को छू तक नहीं गई है। २. इसमें संकलित कविताओं के विषय 'अपरिचित, अप्रत्याशित और अनपेक्षित' नहीं हैं। ३. प्रयोगवादी कविता मूलतः प्रश्न-चिह्नों की कविता है, संदेह और आशंका की कविता है, नीलकुसुम वैसी कृति नहीं है। "उसमें परम्परा की सुरभि का अभाव नहीं है।" द्विवेदी जी की स्थापना है कि प्रौढ़ किन्तु सुकुमार रचना 'उर्वशी' का 'विस्तीर्ण वपु प्रबन्धकाव्य जैसा है पर इसका मूल प्रतिपादन गीति-काव्यात्मक है, बहुत कुछ ताजमहल की भाँति।" इसका रूपकीय आवरण विचार करने पर हट जाता है। "दिनकर गति

के कवि हैं, यति में उन्हें आयास करना पड़ता है। वे प्रश्न उठाने में जितने सफल हैं उतना उत्तर जुटाने में नहीं।" तृतीय अंक को समाविस्थ चित्त की देन बताते हुए द्विवेदीजी जिस तरंगायित हृदय से 'उर्वशी' की प्रशंसा करते हैं, शायद उससे अधिक अभिनन्दनात्मक स्वर किसी का नहीं हो पाया या नहीं हो सकता। डॉ० राय ने 'दिनकर' के काव्य में बिम्ब-विधायक-तत्त्व का अभाव बताया है, किन्तु द्विवेदीजी तथा डॉ० नगेन्द्र, दोनों ही 'उर्वशी' की बिम्ब योजना और सम्मूर्तन-कला की प्रशंसा करते नहीं थकते। लेकिन, इन दृष्टियों में विरोध के लिये अवकाश इसलिए नहीं है कि डॉ० राय छायावाद के सन्दर्भ में तात्कालिक कृतियों के आधार पर अपना निष्कर्ष प्रस्तुत करते हैं, जबकि द्विवेदीजी तथा डॉ० नगेन्द्र 'उर्वशी' को लेकर अपने निष्कर्ष उपस्थित करते हैं। डॉ० द्विवेदी तथा डॉ० नगेन्द्र दोनों का एक ही निष्कर्ष है—"दिनकर द्वन्द्व का कवि है, समाहिति का कवि नहीं है, समस्या के सम्पूर्ण उद्वेलन का अनुभव कर प्राणों के पूरे आवेग के साथ अत्यन्त प्रभावमय अभिव्यंजन करना उसके लिए जितना स्वाभाविक है, समाधान प्रस्तुत करना उतना नहीं।" डॉ० नगेन्द्र छायावादोत्तर काल की अद्वितीय प्रबल कृति मानते हुए भी 'उर्वशी' को 'कामायनी' की समता में कुछ नीचा ही मानते हैं, निष्काम काम की धारणा उन्हें अटपटी लगती है और विचार का अन्वय-भंग कला रूप की अन्विति को भी भंग करता जान पड़ता है।

विभिन्न मतों के बीच भी इस पुस्तक में संगृहीत लेखों के निष्कर्षों में एकता है और पाठक के दिग्भ्रम के लिए यहाँ अवकाश नहीं है। आलोचनाओं के बीच 'उर्वशी' के अभिनय के लिए विशिष्ट निर्देश की दृष्टि से श्री वीरेन्द्र नारायण का लेख 'रंगमंच की दृष्टि में उर्वशी' उसके रूपकीय आवरण का भी निर्वाह कर देता है। भाषा और छन्द के सम्बन्ध में भी यद्यपि एक लेख संग्रह में है, तथापि सम्पादकीय में " 'रेणुका' से 'उर्वशी' तक इन काव्यों के भावस्वरों की आन्तरिक दृष्टि से भावानुकूल भाषा-शिल्प का प्रयोग अलग-अलग स्तरों पर दिखाई देता है," कहकर भी इस संग्रह में उस दृष्टि से लिखे गए किसी लेख का अभाव अवश्य खटकता है। दिनकर के व्यक्तित्व और कृतित्व को इतने विस्तृत और सुस्पष्ट रूप में प्रस्तुत करने के कारण इस पुस्तक का महत्त्व अशंकनीय है। पुस्तक संग्राह्य और सम्पादन अभिनन्दनीय है।

मधुरेश

हिन्दी उपन्यास साहित्य का अध्ययन

'हिन्दी उपन्यास साहित्य का अध्ययन' हिन्दी शोध और समीक्षा के क्षेत्र में अप्रत्याशित दिशा से आया एक महत्वपूर्ण स्वर है। डॉ० गणेशन हिन्दी भाषी नहीं हैं परन्तु हिन्दी भाषा और साहित्य पर उनका अधिकार और अपने विषय के लिए विशाल पृष्ठभूमि के तौर पर यूरोपीय साहित्य और साहित्येतर विषयों का उनका अध्ययन सचमुच ही ईर्ष्या की चीज़ है। आज जब कि राजनैतिक और भौगोलिक दृष्टियों से विश्व की सीमाएँ सिमट रही हैं, साहित्य के तुलनात्मक अध्ययन की आवश्यकता स्वतः स्पष्ट होती जा रही है। हिन्दी के उपन्यास साहित्य पर जो दो-तीन महत्वपूर्ण शोध-ग्रन्थ आये हैं, डॉ० गणेशन की पुस्तक उसी दिशा में एक और भी महत्वपूर्ण प्रयास है।

जहाँ तक तुलनात्मक अध्ययन के प्रति दृष्टिकोण का सवाल है डॉ० गणेशन न तो अतिशय संकुचित राष्ट्रीय भावना से बँधते हैं जिसका अनिवार्य रूप ऐसे आलोचकों में मिलता है जिनके लिये अपने देश का समस्त नया-पुराना साहित्य आदर्श और अपने में पूर्ण साहित्य है और जो नारा लगाते फिरते हैं कि इस गये-गुज़रे ज़माने में भी भारत यूरोप को बहुत-कुछ सिखा सकता है—भले ही वह सिखाना फिर नये साहित्य की नई विधाओं और आन्दोलनों से ही सम्बन्धित क्यों न हो जो एकदम अभारतीय न होने पर भी अंशतः ही भारतीय हैं। दूसरी ओर डॉ० गणेशन ने उस प्रवृत्ति से भी बचने की पूरी कोशिश की है जो हीनताग्रन्थि से पीड़ित आलोचकों में बहुधा पाई जाती है और जिनके लिये विदेशी साहित्य की हर चीज़ श्रेष्ठ फलतः अनुकरणीय है। डॉ० गणेशन का दृष्टिकोण पूर्णतः वैज्ञानिक और निर्वैयक्तिक है। वह मानते हैं कि हिन्दी उपन्यास का मूल्यांकन करते समय बाह्य परिस्थितियों से अधिक उसकी अपनी ही उपलब्धियों और सीमाओं एवं अभावों का आकलन अधिक उचित है। उनके तुलनात्मक अध्ययन का उद्देश्य विषय के लिए अधिक विशाल पटभूमि पर देखना और उसके परिणामस्वरूप मूल्यांकन के लिए अधिक परीक्षित और प्रामाणिक दृष्टिकोण की सम्भावना है।

'हिन्दी उपन्यास साहित्य का अध्ययन' आठ महत्वपूर्ण अध्यायों में विभाजित हैं। पहला अध्याय (उपन्यास और उसका महत्त्व) अपने शीर्षक के अनुरूप ही उपन्यास के महत्त्व और क्षेत्र से सम्बन्धित है। लेखक की स्थापना है कि साहित्य की यह विधा जीवन के समानान्तर चलती है और उसके मूल्य अधिकांश में जीवन के ही मूल्य हैं। दूसरा अध्याय (उपन्यास के विकास की रूपरेखा : हिन्दी एवं पश्चिमी)

हिन्दी उपन्यास साहित्य का अध्ययन : डॉ० एस० एन० गणेशन। प्रकाशक : राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली। पृष्ठ संख्या ४६१, डिमाई आकार : मूल्य १२) रु०।

हिन्दी और यूरोपीय उपन्यास साहित्य का संक्षिप्त ऐतिहासिक विकास प्रस्तुत करता है। हिन्दी उपन्यास का जन्म लेखक उन्नीसवीं सदी के अन्तिम पाद से मानता है जो अधिक उपयुक्त और तर्कसंगत है। वेद-उपनिषदों आदि ने, और यूरोपीय देशों में वहाँ की धार्मिक पौराणिक कथाओं ने उपन्यास को कुछ तत्व अवश्य दिये परन्तु प्राचीन कथा-साहित्य को उपन्यास का आधार नहीं माना जा सकता, क्योंकि उसके लिये एक अखण्ड और क्रमश: विकसित श्रृंखलाबद्ध परम्परा का होना अनिवार्य है। लेकिन ऐसी कोई परम्परा हमें किसी भी देश और साहित्य में उपलब्ध नहीं है। तीसरे अध्याय (वस्तुविधान) में उपन्यास की विभिन्न शैलियों और शिल्प की चर्चा है। उपन्यास के भाव-वेग (Tempo) और लेखक की मनोदशा (mood) का भी विवेचन है और अन्त में प्रेमचन्द और रेणु आदि के औपन्यासिक मूड पर अलग से एक टिप्पणी शामिल है। चौथा अध्याय (उपन्यास और समाज) उपन्यास में विभिन्न सामाजिक समस्याओं के विविध रूपों के विश्लेषण का प्रयास है। पाँचवाँ अध्याय (चरित्रचित्रण) उपन्यास में पात्रों के महत्त्व और चरित्रचित्रण के विभिन्न प्रकारों से सम्बन्धित है। अन्त में लेखक और पात्र के आपसी सम्बन्ध की विवेचना भी है। छठा अध्याय। (उपन्यास और मनोविज्ञान) मनोवैज्ञानिक उपन्यासों का विश्लेषण-विवेचन और हिन्दी में तथाकथित मनोवैज्ञानिक उपन्यासों का मूल्कांकन प्रस्तुत करता है। हिन्दी के मनोवैज्ञानिक उपन्यासों की अनिवार्य सीमाओं का आकलन भी इस अध्याय में हुआ है। सातवाँ अध्याय (यथार्थ, आदर्श और उनसे सम्बन्धित वाद) विभिन्न साहित्यिक वादों की प्रवृत्तियों और विशेषताओं से सम्बन्धित है। यथार्थवाद, आदर्शवाद, प्रकृतिवाद आदि के विभिन्न उपलब्ध रूपों का विश्लेषण और विवेचन यहाँ प्रस्तुत है। लेखक की मान्यता है कि हिन्दी में प्रकृतिवाद जैसी कोई चीज़ नहीं है। यूरोप में प्रकृतिवाद को कलात्मक और वैज्ञानिक आधार मिला है और इसी कारण अपनी सारी सीमाओं के बावजूद वहाँ उसके पीछे एक स्वस्थ जीवन-दर्शन मिलता है। हिन्दी में चतुरसेन, उग्र और मन्मथनाथ गुप्त आदि ने केवल उसके दुर्गुणों को ही आत्मसात किया है। वे प्रकृतिवादी से अधिक नग्नतावादी हैं। अपने मत के समर्थन के लिए लेखक ने हिन्दी के कतिपय गणमान्य समीक्षकों, नन्ददुलारे वाजपेयी, डॉ० श्रीकृष्णलाल, शिवदानसिंह चौहान आदि के मतों का खण्डन और विरोध किया है। आठवाँ अध्याय (उपसंहार : मूल्यांकन) उपन्यास में स्थायी मूल्य के तत्वों, हिन्दी उपन्यास की उपलब्धियों और सीमाओं एवं विश्व-उपन्यास की कुण्ठित दशा आदि के विवेचन से सम्बन्धित है। लेखक का मत है कि हिन्दी उपन्यास में विस्तार अधिक है, अगाधता कम। परन्तु पिछले कुछ वर्षों में ही हिन्दी उपन्यास खूब विकसित हुआ है और इस विधा के अधिकांश उपलब्ध रूप किसी-न-किसी रूप में यहाँ प्राप्त हैं। हिन्दी उपन्यास के आश्वस्त और आस्थापूर्ण भविष्य के प्रति मंगलकामना करते हुए लेखक ने अपना प्रबन्ध समाप्त किया है।

इतने बड़े और बहुविध प्रयास में मतभेद की बेहिसाब गुंजायंश मौजूद है। परन्तु जो चीज महत्त्वपूर्ण है वह है लेखक के दृष्टिकोण को सहानुभूति से समझना

और उसके निकाले गए निष्कर्षों को देखना-परखना। वैसे मतभेद के दो-एक उदाहरण देकर अपनी बात को स्पष्ट किया जा सकता है। प्रेमचंद के विषय में लेखक का कथन है "उनके (प्रेमचंद) पूर्ववर्ती उपन्यास साहित्य से उनकी तुलना करें तो स्पष्ट होगा कि उस समय तक परम्परा की जो शृंखला चलती आई उसकी एक कड़ी के रूप में वह नहीं आये।"

यह ठीक है कि प्रेमचन्द का आगमन हिन्दी उपन्यास के क्षेत्र में एक क्रान्तिकारी घटना थी और शायद इससे भी अधिक उचित यह कहना है कि वह अपने समय से बहुत आगे थे। परन्तु यह भी ठीक है कि भारतेन्दुकाल में हिन्दी के सामाजिक उपन्यासकारों—जिनके उपन्यासों से डॉ० रामविलास शर्मा हिन्दी के यथार्थवादी उपन्यासों का प्रारम्भ मानते हैं, जो तिलस्मी और ऐयारी उपन्यास के समानान्तर ही विकसित हो रही थी, वही अपने श्रेष्ठतम और विकसित रूप में प्रेमचंद में प्राप्त होती है। और इस प्रकार प्रेमचंद इसी परम्परा की एक विकसित कड़ी के रूप में ही समझे जाने चाहिए।

फ्रेंच के 'रोमन फ्लूव' उपन्यासों का वर्णन-विवेचन करते समय लेखक ने हिन्दी का एकमात्र ऐसा उपन्यास 'शेखर : एक जीवनी' को माना है जब कि उसने ऐसे उपन्यासों की जो विशेषताएँ बताई हैं उनपर अश्क के 'गिरती दीवारें' और उसके आगे की कड़ियों को भी परखा जा सकता है और नलिन विलोचन शर्मा ने उसे एक रोमन फ्लूव उपन्यास का ही उदाहरण माना है।

जहाँ कुछ उपन्यासकारों पर लेखक ने एकदम मौलिक (कहीं कहीं तो चौंका देने की हद तक) दृष्टि से विचार किया है वहाँ यशपाल पर लेखक ने कोई मौलिक और नई दृष्टि नहीं दी है। यशपाल हिन्दी के समर्थ और अतिशय महत्वपूर्ण उपन्यासकार हैं, उनपर लेखक ने न सिर्फ चलते-फिरते ढंग से कुछ कहा-सुना है, कहीं-कहीं तो डॉ० रामविलास शर्मा के मतों और विचारों को ही अपनी भाषा में दोहरा दिया है।

प्रबन्ध की भूमिका में लेखक ने यह स्पष्ट कर दिया है कि यह किसी पुस्तक या लेखक का अध्ययन नहीं है और चूंकि उसका ध्यान प्रवृत्तियों की ओर ही अधिक रहा है बहुत से महत्वपूर्ण लेखक और कृतियाँ छूट भी गई हैं। परन्तु लेखक के इस स्पष्टीकरण से भी पूर्ण सन्तोष नहीं होता है। इतने बड़े प्रबन्ध में अमृतलाल नागर, भैरवप्रसाद गुप्त और राजेन्द्र यादव का कोई उल्लेख तक नहीं है! क्या यह कहना अधिक संगत है कि ये लेखक किसी प्रवृत्ति विशेष के अन्तर्गत नहीं आते हैं? भाषा और शैली के विवेचन की दृष्टि से भी अमृतलाल नागर का 'बूंद और समुद्र' कुछ खोके ही छोड़ा जा सकता है—यहाँ भी वह इसी कीमत पर छोड़ा जा सका है। जहाँ तक राजेन्द्र यादव का सवाल है किन्हीं अर्थों में वह हिन्दी में अपनी मिसाल आप हैं। वस्तु और शिल्प का सम्यक् सामंजस्य और मध्यवर्गीय वस्तुतत्व की दृष्टि से वह न केवल अत्यन्त महत्त्वपूर्ण लेखक हैं—मध्यवर्गीय चिन्तन और समस्याओं को रेखांकित करने में वह अपने ढंग के अकेले भी हैं। जैसा कि डॉ० हज़ारीप्रसाद द्विवेदी ने अपनी

संक्षिप्त भूमिका में कहा है कि अहिन्दी भाषी होने के नाते लेखक बहुत से पूर्वाग्रहों से बच सका है जिनमें हिन्दी का आलोचक सहज ही फँस जाता है। लेकिन एक ओर उसके अहिन्दी भाषी होने का जो यह लाभ रहा है वहीं दूसरी ओर यह हानि भी रही है कि साहित्यिक वातावरण और समस्याओं की इस स्वाभाविक दूरी के कारण बहुत सी बातों को सहज रूप में ग्रहण कर सकने की स्थिति में भी वह नहीं रहा है इसलिये जहाँ एक ओर उसने यज्ञदत्त, मन्मथनाथगुप्त आदि उपन्यासकारों के नाम लिये हैं, उनकी रचनाओं के हवाले दिये हैं वहीं उपरोक्त तीन लेखकों को एकदम अनदेखा कर दिया गया है। यह ठीक है कि यह हिन्दी उपन्यास साहित्य का सामान्य अध्ययन है, किसी काल विशेष का नहीं, लेकिन कालान्तर के निर्देश से हमारे अध्ययन में निश्चय ही सुभीता हो सकता था। जैसे डॉ० सुषमा धवन ने अपने शोध में १९५५ तक के उपन्यासों को लिया है और इसका स्पष्ट निर्देश कर दिया है, यहाँ ऐसा कुछ नहीं है। इसीलिये देश के विभाजन की समस्या से सम्बन्धित उपन्यासों में जहाँ 'इंसान', 'धर्मपुत्र' और 'कठपुतली' आदि उपन्यासों का नाम लिया गया है, 'झूठासच' को एकदम भुला दिया गया है। लगभग यही स्थिति राष्ट्रीय आन्दोलन से सम्बन्धित उपन्यासों के विवेचन के समय 'भूले बिसरे चित्र' के साथ है। आपत्ति यह नहीं है कि इन उपन्यासों को क्यों छोड़ दिया गया है, आपत्ति यह है कि हम अँधेरे और कन्फ्यूज़न में रहते हैं।

जहाँ उपन्यास और मनोविज्ञान से सम्बन्धित एक पूरा अध्याय है वहीं यदि उपन्यास और राजनीति से सम्बन्धित भी एक अध्याय होता तो अच्छा था। हिन्दी और रूसी दोनों ही साहित्यों में राजनीति ने उपन्यास में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है—साहित्य में राजनीति का अनुपात-निर्धारण अर्से से आलोचकों का सरदर्द रहा है। हिन्दी में आज भी ऐसे आलोचक हैं जो राहुल, यशपाल, भैरवप्रसाद गुप्त, अमृतराय आदि को उपन्यासकार मानने में आपत्ति करते हैं क्योंकि इन आलोचकों की तरह इन लेखकों को राजनीति चौकाहूत कर देने वाला हऊआ नहीं रही है।

एकाध इस तरह की भी साधारण भूलें मिलती हैं कि 'प्रत्यागत' को वृन्दावन लाल वर्मा के बदले इलाचन्द्र जोशी का उपन्यास माना गया है (पृष्ठ संख्या १५९) और इससे भी अधिक यह कि जोशीजी के अन्य अपन्यासों के साथ रखकर उस पर भी 'विषयाधिक्य' का आरोप लगाया गया है।

अन्त में यह और कि इन साधारण बातों को यदि छोड़ दिया जाये तो 'हिन्दी उपन्यास साहित्य का अध्ययन' एक अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रकाशन है। हमारे विश्वविद्यालयों में हिन्दी शोध को लेकर जैसी अनार्की चल रही है, हमारे तथाकथित आचार्य साहित्य को जिन पैमानों से आँकने-परखने के आदी हैं, आधुनिक साहित्य (और वह भी उपन्यास !) के प्रति जैसी उदासीनता बरती जाती है उन सब अरुचिकर स्थितियों से उबरने में प्रस्तुत कृति से बहुत सहायता मिल सकती है।

डॉ० चन्द्रभूषण तिवारी

'नया हिन्दी काव्य'

'नया हिन्दी काव्य' डॉ० शिवकुमार मिश्र की नव प्रकाशित शोध-कृति है, जिसमें छायावादोत्तर हिन्दी-कविता और उसके वस्तु-सन्दर्भ को समग्रता में ग्रहण करने का प्रथम प्रयास व्यक्त हुआ है। इस ग्राह्यता की शक्ति है, रचयिता की यह स्वस्थ, सकारात्मक दृष्टि—"मैंने काव्य या साहित्य को—मात्र व्यक्तिगत इच्छा-पूर्ति के रूप में स्वीकार न कर, उसे एक सामाजिक पदार्थ—एक माध्यम के रूप में देखा है।" इसे पूर्वाभिनिवेश कहें और छायावादोत्तर हिन्दी-कविता की नूतन रूप-विधाओं और अभिव्यक्ति-माध्यमों तक ही परिसीमित रहें, यह हमारी सीमा हो सकती है, लेकिन '३६ के बाद की साहित्य-प्रवृत्तियों तथा उनकी विशेषताओं का आकलन सिर्फ़ नूतन रूप-विधाओं और अभिव्यक्ति-माध्यमों के आधार पर संभव नहीं है। तत्कालीन साहित्यकार की परिस्थितियाँ (जिन्हें शोधकर्त्ता ने 'युगीन अनिवार्यता' की संज्ञा दी है) एक व्यापक सामाजिक, सांस्कृतिक तथा मानवीय भूमि पर प्रसार पाती हैं, जिनकी असंगतियों को तथा उनके बीच से उभरे अन्विति-सूत्र को ग्रहण करने के लिए अभिव्यक्ति-माध्यमों से अधिक परिवर्तित परिस्थितियों के प्रति संवेदनाशील होना आवश्यक है। प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में रचयिता का सम्पूर्ण विवेचन संवेदनशीलता के इसी धरातल पर उभरा है। एक ओर उसमें उस निस्संग वस्तुमूलकता का अभाव है, जो यान्त्रिक विधि से प्रसार पाती है, दूसरी ओर उस आदर्श-रति का जो परिवर्तित स्थितियों को आरोपित धारणाओं के पाश में आबद्ध कर वैयक्तिक और विच्छिन्न बना देती हैं।

हिन्दी-साहित्य में परिवर्तन का यह काल-बिन्दु है—१९३६, जिसका परिचय देते हुए डॉ० मिश्र ने कहा है—"यही वह वर्ष है, जबकि साहित्य और राजनीति दोनों में ही आदर्शवादी भावुकता के स्थान पर यथार्थवादी बौद्धिकता और भौतिकता को प्रश्रय मिला।" नया हिन्दी काव्य परिवर्तन के इस काल-बिन्दु तथा इसकी पट-कथा को जिस समग्रता में प्रस्तुत करता है, आधुनिक काव्य-प्रवृत्तियों के आकलन की दृष्टि से हिन्दी शोध-क्षेत्र की यह एक स्वतन्त्र उपलब्धि है। इसका प्रारम्भिक अंश—विषय-प्रवेश से लेकर क्रमागत काव्य-धाराओं के विवेचन के पूर्व तक, प्रायः इसी से सम्बद्ध है, जिसके अन्तर्गत १९३६ से '५५ तक की काव्य-प्रवृत्तियों की आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक-सांस्कृतिक पृष्ठभूमि तथा उसकी अन्तर्राष्ट्रीय पीठिका का विस्तृत वस्तुमूलक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। "इन बीस वर्षों के दौरान," जैसा कि डॉ० मिश्र का निष्कर्ष है, "जितनी ही जटिल, वैविध्यपूर्ण, गतिमान एवं जागरूक हमारे देश की परिस्थितियाँ—और उनसे सम्बद्ध काव्य-चेतना रही है, लगभग उतनी ही जटिलता, विविधता, गतिशीलता और जागरूकता हिन्दी की साहित्यिक चेतना ने भी प्रस्तुत की है।" ऐसी स्थिति में उसके ऐतिहासिक सम्बद्ध-

सूत्रों का अन्वेषन और आकलन जितना ही आवश्यक है, उतना ही दुस्तर भी। इसके लिए शोधकर्ता की दृष्टि का समसामयिक चेतना से युक्त रहना तो आवश्यक है ही, विकासमान साहित्य के मूलभूत तत्त्वों से यथेष्ट परिचित होना भी अपेक्षित है। प्रबन्ध का दूसरा आधारभूत दृष्टिकोण इसी से सम्बद्ध है। इस दृष्टि से प्रस्तुत दूसरे तथा तीसरे अध्याय की भूमिका युगीन सामाजिक तथा सांस्कृतिक मनोभूमि से जुड़कर इस दिशा में किये जाने वाले कार्य के लिए एक आवश्यक सन्दर्भ-स्रोत बन गई है।

विवेचन की सुविधा तथा सहजता की दृष्टि से शोधकर्त्ता ने छायावादोत्तर हिन्दी-कविता की जो कोटियाँ निर्धारित की हैं (उत्तर छायावादी व्यक्ति-परक काव्य, प्रगतिवादी काव्य-धारा, प्रयोगवादी काव्य-धारा, मध्यवर्ती काव्य-धारा, नव्यत्तर गीति-कविता आदि), ये सभी परिचित हैं। अपने विवेचन-क्रम में जिस सफलता के साथ उसने उनकी विभेदक रेखाओं तथा वर्णों को ग्रहण किया है, उसी सहज सूक्ष्मता के साथ उसने उनके बीच से उभरने वाले सामंजस्य के स्तर की भी कल्पना की है—वस्तुतः, वह कौन-सा ऐसा तत्त्व है, जो इन सभी प्रवृत्तियों के बीच से उभरकर एक अन्विति में इन्हें पूर्ववर्त्ती काव्य से भिन्न कर रहा है—मात्र अभिव्यंजना का धरातल, मुक्त असंगतियों, बिम्बों तथा प्रतीकों की नूतनता या वस्तु-चेतना की नूतन भूमि, मूल्यों के नये स्तर और इन्हें अपनी समस्त असंगतियों के साथ ग्रहण करता नया मनुष्य ? नया हिन्दी-काव्य का यही अन्विति-सूत्र है—प्रतिक्रिया सर्वत्र है, एक-दूसरे के विरुद्ध जितना नहीं, उससे अधिक पूर्ववर्त्ती धरातल के विरुद्ध और यह विरोध मूलक (Antithetic) सामंजस्य ही इस अन्विति-सूत्र का विधान करता है। इसीलिए भिन्न-भिन्न रुचियों के साथ 'तार सप्तक' के कवियों में एकत्र होने की आकांक्षा है। दूसरे 'सप्तक' तक शमशेर, भवानी प्रसाद मिश्र, और गिरिजाकुमार माथुर की रचनाएँ भी इसी अन्विति-सूत्र से जुड़ी हुई हैं। शोधकर्त्ता ने इस तथ्य को बड़ी ही सूक्ष्मता के साथ ग्रहण किया है, और इसी कारण उसे 'मध्यवर्ती काव्य' के रूप में नई कोटि के निर्धारण की आवश्यकता महसूस हुई है, जिसके अन्तर्गत प्रायः ऐसे ही कवियों का समाहार हुआ है, जिन्हें आश्वस्त होकर प्रगतिवाद या प्रयोगवाद की काव्य-सरणियों में से किसी एक से सम्बद्ध करके सीमित नहीं किया जा सकता। 'स्वस्थ सामाजिक विषय-वस्तु' और 'नये शिल्प' का समन्वय ही इनकी विशेषता है।

सामंजस्य का दूसरा धरातल 'नव्यतर-गीति-कविता' का है—जो सहज काव्य-विधा के अतिरिक्त जीवन के प्रति एक आस्थामूलक दृष्टि का भी परिणाम है। इस तथ्य की ओर संकेत करते हुए डॉ॰ मिश्र ने कहा भी है—"ये न केवल जीवन के प्रति आस्थावान हैं, वरन् उसके निर्बाध विकास के लिए हर प्रकार की स्वीकृतियाँ प्रदान करते हैं।" सामंजस्य के इन उभय स्तरों का प्रकाशन और इनका विस्तृत विवेचन प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध के निजी प्रदेय हैं—यद्यपि इस प्रयत्न में डॉ॰ मिश्र ने युग के विरोधी स्वरों को तिरस्कृत नहीं होने दिया है, न सामंजस्य के प्रसंग पर अतिरिक्त बल दिया है। यह उनका अभीष्ट भी नहीं है।

वस्तुतः, १९३६ के बाद परस्पर भिन्न दृष्टियों की सजगता के सहसा न लक्षित होने की बात को एक खास सीमा तक ही स्वीकार किया जा सकता है। विरोध-मूलक सामंजस्य इस युग का औपचारिक सत्य है, संक्रमण-काल में साहित्य अथवा कला में असंगतियों की प्रच्छन्न अभिव्यक्ति अन्यत्र भी हुई है, लेकिन इसका अर्थ प्रवृत्ति-विरोध का न होना अथवा उसका पिछले दशक की वस्तु होना (जैसा कि कतिपय नये समीक्षक मानने लगे हैं) नहीं है। प्रारम्भ के कुछ वर्षों में, सृजनशील चेतना तथा युगीन मनोभूमि के बीच एक प्रकार की रिक्तता अवश्य है और यही कारण है कि इस समय का सम्पूर्ण संस्कृति-प्रवाह खण्डित आदर्शों के दलदल में फँसा हुआ दीखता है, लेकिन यह पूरे युग का सत्य नहीं है।

नया हिन्दी-काव्य' के वैशिष्ट्य का आधार इसलिए सिर्फ़ यह नहीं है कि उसने 'मध्यवर्ती काव्य' अथवा 'नव्यतर गीति-कविता' के रूप में युगीन अन्तर्विरोध के बीच से सामंजस्य का स्तर प्रकाशित किया है, बल्कि यह है कि उसने साहित्येतिहास के अतिशय सूक्ष्म प्रसंगों को तथा युग चेतना के सम्पूर्ण स्वर को ग्रहण करने का प्रयत्न किया है। उत्तर छायावादी व्यक्तिपरक काव्य से लेकर प्रगतिवादी तथा प्रयोगवादी काव्य का विवेचन करते हुए शोधकर्ता की दृष्टि असंगतियों के मुख्य प्रवाह अथवा प्रवृत्ति-विरोध पर ही निरन्तर टिकी है और इस प्रयत्न में उसने तथाकथित तटस्थता का दावा नहीं किया है। स्पष्ट ही उसकी सहानुभूति प्रगतिकामी स्वरों के साथ है, लेकिन इसका आधार कविता या कला की वह समाज-सापेक्षता है, जो कविता या कला के स्तर पर प्रसार पाकर ही स्वीकृत होती है और जिसके अभाव की ओर लक्ष्य करते हुए प्रगतिवादी कवियों के सम्बन्ध में डॉ० मिश्र का यह कथन द्रष्टव्य है—"ये कदाचित इस तथ्य के प्रति उदासीन रहे कि काव्य अथवा साहित्य अपनी साहित्यिकता—को स्थिर रखते हुए भी सामाजिकता व मानवीय मूल्यों में खरे उतर सकते हैं।" व्यवहारिक विवेचन के क्रम में हिन्दी का प्रयोगवादी काव्य और उसकी वे समस्त कलागत प्रवृत्तियाँ (जिनके समानधर्मी स्वरों को पश्चिम में 'फ्यूनेम्बूलिज़्म' कहा गया है), रचना के स्तर पर व्यक्ति-मानस की नव-प्रकाशित रेखाओं तक, उनके सामने रही हैं और हमें यह कहने में प्रसन्नता है कि डॉ० मिश्र ने बड़ी सूक्ष्मता के साथ उनके तात्विक आधारों को ग्रहण किया है।

अन्ततः, इस निष्कर्ष के साथ कि इस कृति के माध्यम से हिन्दी-कविता के दो दशकों की मनोभूमि अपने सम्पूर्ण सामाजिक और साहित्यिक सन्दर्भ को लेकर पहली बार सामने आई है, आधुनिक हिन्दी समीक्षा की एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि के रूप में इसे हम स्वीकार करते हैं।

डॉ० महेन्द्र भटनागर

काव्य का देवता : निराला[1]

श्री सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' जी की मृत्यु (सन् १९६१) के बाद उनके काव्य पर प्रकाशित होने वाली प्रथम समीक्षा-पुस्तक (सन् १९६३) 'काव्य का देवता : निराला' है। इसके लेखक प्रसिद्ध आलोचक श्री विश्वम्भर 'मानव' हैं। 'मानव'जी की आलोचनाएं पूर्वाग्रहों पर आधारित नहीं होतीं तथा उनकी दृष्टि वाद-ग्रस्त भी नहीं है। उनकी समीक्षा-पुस्तकों का स्तर एकेडमिक रहता है। तटस्थता व निष्पक्षता उनमें पाई जाती है। आलोच्य रचना का वे सभी पहलुओं से अध्ययन करते हैं। जहां तक 'निराला' जी के काव्य के अध्ययन का प्रश्न है, उन्हें इस विषय का अधिकारी माना जा सकता है। जैसा कि स्वयं लेखक ने प्राक्कथन में कहा है, "जहाँ तक मेरा सम्बन्ध है, मैं अपने को छायावाद के प्रारम्भिक व्याख्याकारों में से समझता हूँ।" जागरूक पाठकों को यह बताने की आवश्यकता नहीं थी; फिर भी इसे गर्वोक्ति न मानकर तथ्य-सूचक वक्तव्य ही मानना होगा। 'मानव'जी ने महादेवी (सन् १९४८), सुमित्रानंदन पंत (सन् १९५१), और प्रसाद (सन् १९६२) पर स्वतन्त्र समीक्षा-पुस्तकें लिखी हैं तथा प्रसादजी की 'कामायनी' पर लिखी उनकी व्याख्या-पुस्तक के ऐतिहासिक महत्त्व से भी हम अनभिज्ञ नहीं हैं। इसमें सन्देह नहीं, प्रस्तुत पुस्तक 'काव्य का देवता : निराला' अपनी मौलिक विवेचना व अनेक अभिनव स्थापनाओं के कारण हिन्दी-आलोचना की उल्लेखनीय उपलब्धि है।

'काव्य का देवता : निराला' में समधीत समीक्षक ने गहन अध्ययन एवं तीव्र ग्रहण-शक्ति का ही परिचय नहीं दिया है, प्रत्युत इस तथ्य को भी सदा सामने रखा है कि किस प्रकार निरालाजी का जीवन उनकी साहित्य-साधना को प्रभावित व नियन्त्रित करता रहा है। इस पद्धति के कारण उनके निष्कर्ष विश्वसनीय हो उठे हैं। प्रारम्भ के दो अध्याय निरालाजी के जीवन और व्यक्तित्व पर ही हैं। उनके काव्य से सम्बन्धित अध्यायों के शीर्षक हैं—प्रकृति, प्रेम, अध्यात्म-चिन्तन, प्रार्थना-गीत, सौन्दर्य के चित्र, ओज की अभिव्यक्ति, करुणा के प्रसंग, हास्य-व्यंग्य, स्वतन्त्र विषय, प्रशस्तियाँ, व्यक्तिपरक रचनाएँ, संस्कृति का प्रश्न, कल्पना की दिशाएँ, कला: उपलब्धि और सीमाएँ, आदि। काव्य-समीक्षा के प्रमुख तत्त्व, अथवा छायावादी कविता के प्रमुख अंग अथवा निराला-काव्य की विशेषताओं से सम्बद्ध सभी बहुचर्चित प्रसंग उपर्युक्त सूची में समाहित हैं। निरालाजी के काव्य पर संक्षेप में, बड़े सार्थक ढंग से तथा अत्यधिक स्पष्ट बातें प्रस्तुत पुस्तक में मिलती हैं।

प्रस्तुत समीक्षा-पुस्तक की एक और विशेषता यह है कि आलोचक ने सम्पूर्ण हिन्दी-साहित्य के परिप्रेक्ष्य में निराला-काव्य का अध्ययन किया है। इससे साहित्य-धारा का अविच्छिन्न-क्रम ही स्पष्ट नहीं होता, प्रत्युत निरालाजी की देन का भी सही

१. लेखक—श्री विश्वम्भर मानव, प्रकाशक—लोक-भारती प्रकाशन, इलाहाबाद-१, मूल्य ४.५० पैसे।

मूल्यांकन होता जाता है। स्पष्ट है, एक छोटी पुस्तक में अधिक विस्तार में नहीं जाया जा सकता था, फिर भी पूर्व-पीठिका के रूप में यथास्थान सम्बद्ध सामग्री दी गई है। निरालाजी पर यद्यपि पर्याप्त लिखा गया है, फिर भी 'मानव'जी ने अपनी समीक्षा में किसी अन्य समीक्षक के उद्धरण नहीं दिए हैं। न अपनी बात की पुष्टि में और न किसी विवाद को उठाते समय ही। यद्यपि इसका सम्बन्ध उनके स्वतन्त्र व्यक्तित्व से जोड़ा जा सकता है, तथापि समीक्षा में इस सबकी अपेक्षा तो रहती ही है। अन्य समीक्षकों की स्थापनाओं का यदि कहीं उल्लेख है भी तो वह सामान्य ढंग से, विशिष्ट नहीं। प्रत्येक पाठक उन संकेतों को कहीं-कहीं तो समझ ही नहीं सकता। 'व्यक्तित्व' वाले अध्याय में "निरालाजी के सम्बन्ध में जो संस्मरण पाये जाते हैं, उनमें से अधिकतर तो ऐसे हैं जो पढ़ने योग्य ही नहीं हैं।···कुछ थोड़े से दिलचस्प हैं— दिलचस्प इस अर्थ में कि उनमें कैमरे का रुख अपनी ओर अधिक है, निरालाजी की ओर कम।···इनमें से किसी को उनकी याद सहसा उस समय आई जब वह अमरीका में एज़रा पाउण्ड से मिलने जा रहा था, किसी से जब वे मिले तो उस समय वह कम-से-कम सात भाषाएँ जानता था, किसी से ठीक ऐसे समय भेंट हुई जब उसकी किसी विशेष कहानी की चर्चा चारों ओर फैली हुई थी।" 'प्रशस्तियाँ' शीर्षक अध्याय में 'अणिमा' की किसी कविता-विशेष के बारे में, "लेकिन दूसरी रचना तो एकदम आश्चर्य में डाल देती है।···जो प्रसंग उठाया गया है वह ऐसा है कि उस पर कुछ कहने में संकोच लगता है, अतः निराला के ही शब्दों में सुनिये—।" पर, निराला के शब्द उद्धृत कर देने के बाद भी बात स्पष्ट नहीं होती।

निरालाजी की सर्वाधिक सशक्त रचना 'राम की शक्ति पूजा' है। 'मानव'-जी ने इसके कथानक के सम्बन्ध में लिखा है, "रामकथा पर आधारित होते हुए भी वाल्मीक की रामायण और तुलसीदास के रामचरित मानस में यह प्रसंग इस रूप में नहीं पाया जाता, अतः लोग इसे निराला की मौलिक उद्भावना समझते रहे हैं।··· लेकिन मुझे प्रारम्भ से ही ऐसा सन्देह था कि इस रचना का मूल बंगला-काव्य में कहीं होना चाहिए।···संयोग की बात है कि इस सन्देह के निवारण के लिए कहीं दूर नहीं जाना पड़ा। कृतिवास की बँगला रामायण को उलट-पलटकर देखा तो पूरे विस्तार के साथ वहाँ यह प्रसंग मिल गया।" पर, कृतिवास की बँगला रामायण और 'राम की शक्ति पूजा' के सम्बन्ध में अन्यत्र भी लिखा गया है (देखिए 'तुलसीदल' के अंक), यह एक अद्भुत संयोग की बात है कि यह तथ्य निरालाजी के निधन के बाद विदित हो सका। इसमें सन्देह नहीं, यदि यह बात पहले मालूम पड़ गई होती तो अवश्य प्रकाश में आती।

'काव्य का देवता : निराला' में निराला के परवर्ती काव्य पर अपेक्षाकृत संक्षेप में ही विचार किया गया है। 'तुलसीदास' के बाद लिखी उनकी कृतियों को काव्य-कला की दृष्टि से हीन भी माना गया है। इसके अतिरिक्त निराला-काव्य के कला-पक्ष पर सामान्य बातें ही लिखकर काम चला लिया गया है। शैली के प्रयोग, मुक्त छन्द, भाषा के दोष आदि उप-शीर्षकों में लिखित सामग्री अत्यल्प है।

(पृष्ठ ४ का शेष)

कता' ही 'नयी कहानी' के नयेपन का आधार है, उन्होंने दावा किया कि नयी कहानी देश के अस्सी फ़ीसदी ग्रामीण जनों के अन्तर्बाह्य जीवन के यथार्थ-चित्रण की कहानी है। शहर के वातावरण में पले कथाकारों ने प्रतिवाद किया कि युग का बदलता परिवेश नगरवासी मध्यवर्ग के जीवन और चेतना पर दबाव डालकर उसे संश्लिष्ट बना रहा है—इस जीवन की द्रुतगामिता, घुटन और संकुलता को नये परिवेश के सन्दर्भ में रखकर पेश करना ही नयी कहानी का कार्य है। इसमें सन्देह नहीं कि ग्राम और नगर के आधार पर किसी युग की कहानी का विभाजन कृत्रिम है और जीवन के किसी एक क्षेत्र तक ही कहानी के कथ्य को सीमित कर देने की कोशिश तो और भी ग़लत है। यह तो कथाकारों के एक वर्ग की अक्षमताओं को सैद्धान्तिक मान्यता दिलवाने के प्रयत्न जैसी चीज़ है। आज की कहानी अगर शहर के मध्यवर्ग के जीवन की ही कहानी हो सकती है तो 'रेणु' की 'तीसरी कसम' और 'लाल पान की बेगम' तथाकथित 'नई कहानी' के वृत्त में नहीं आतीं। और अगर आंचलिक जीवन का चित्रण ही 'नई कहानी' की विशेषता है तो 'मलवे का मालिक', 'मिस पॉल' और 'एक ज़िन्दगी और' को उसके वृत्त से बाहर रखना होगा। संतोष की बात है कि इस बहस की निरर्थकता शीघ्र ही समझ ली गई और यह परिच्छेद बंद हो गया। लेकिन फिर भी अन्दर-ही-अन्दर एक ऐसा तिलिस्म घटित हुआ कि 'नई कहानी' के मंच पर सिर्फ़ मध्यवर्ग के 'आकुल जन की संकुलता' का चित्रण करने वाले ही रह

गये। यह क्यों और कैसे हुआ, यह महत्व की बात नहीं है। इस प्रसंग में याद रखने लायक महत्व की बात सिर्फ़ यह है कि इससे मंच छोटा हो गया और प्रचार की ख़ातिर Mass circulation वाली सेठाश्रयी पत्र-पत्रिकाओं की मदद पाने के लिए, जो समस्त जनवादी और राष्ट्रीय उद्देश्यों और लक्ष्यों का खुले आम विरोध करती हैं, इस मंच को और भी संकीर्ण बनाते जाना पड़ा। यानी 'नई कहानी' की परिभाषाओं को अधिक-से-अधिक अस्पष्ट, दुर्बोध, अमूर्त और नकारात्मक बनाने की विवशता के आगे झुकना पड़ा—शायद जानबूझ कर नहीं, बल्कि अनजाने ही उस विकृत और रुग्ण मानसिकता के दबाव में पड़कर, जिसे सामाजिक और राजनीतिक प्रतिक्रियावाद की शक्तियाँ अपने सूचना और प्रसार के यंत्र-साधनों द्वारा पैदा कर रही हैं। इस 'बहाव' में अपने को बहने देने का परिणाम यह हुआ कि परिस्थिति के तर्क ने उन्हें इस बात के लिए मजबूर कर दिया कि वे कुछ मित्र-कथाकारों की साहित्यिक प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिए 'तू मरा हाजी बिगोयम, मैं तुरा हाजी बिगो', की कहावत के अनुसार एक-दूसरे की प्रशंसा और आत्म-प्रशंसा के लिए 'नई कहानी' के मंच का इस्तेमाल करें और अपने वक्तव्यों में कुछ ऐसी उद्धत भंगिमा अपनायें कि पाठक को लगे कि आज हिन्दी कहानी में केवल ये चार-छः रचनात्मक प्रतिभाएँ ही हैं, बाकी सब पुराने या नये लेखकों में या तो प्रेमचन्द-यशपाल की तरह आधुनिक भाव-बोध का अभाव है या वे जैनेन्द्र-अज्ञेय की तरह 'कुंठा, पराजय और घुटन' को 'स्वयं-सिद्ध सत्य' मानकर चलते हैं, उस व्यापक परिप्रेक्ष्य

में, अधिक तटस्थ और निर्वैयक्तिक दृष्टि के साथ चित्रित' करने में असमर्थ हैं।

साहित्य-रचना का मुख्य उद्देश्य जब हर संभव तरीके से साहित्य में शीर्ष स्थान पाने के लिए आत्म-विज्ञापन करना हो जाय तो दृष्टि स्व-केन्द्रित हो जाती है, इतिहास का परिप्रेक्ष्य आँख से ओझल हो जाता है और विचार और भावना का संतुलन खो जाता है। 'नई कहानी' के आन्दोलनकर्त्ताओं ने भी यही ग़लती दुहराई। नामवरसिंह ने तथाकथित 'नई कहानी' को मूल्यांकन से मुक्त रखने के लिए आरंभ में ही फतवा दिया कि आलोचना की रूढ़ पद्धति के अनुसार नई कहानी पर 'अच्छी और बुरी' या 'श्रेष्ठ और घटिया' के मानदंड लागू नहीं किए जा सकते। विश्लेषण इस बात का होना चाहिए कि कहानी 'नई' है या 'पुरानी'! फिर सिद्ध किया गया कि 'नई कहानी' न परंपरा का तिरस्कार है न विस्तार, क्योंकि नई कहानी से पहले कहानी की 'कोई तात्कालिक परम्परा' ही नहीं थी (राजेन्द्र यादव)। यानी सन् ४० से ५० के दशक (प्रगतिवाद) ने आज की कहानी को कुछ नहीं दिया (यशपाल, अश्क, चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, भगवतीचरण वर्मा, रांगेय-राघव, चन्द्रकिरण, अमृतलाल नागर, विष्णु प्रभाकर, मंटो, कृशनचन्दर, राजेन्द्र-सिंह बेदी, अस्मत चुग़ताई, अब्बास और एक दर्जन दूसरे कहानीकारों की श्रेष्ठतम कहानियां युद्ध-काल या उसके कुछ पहले और बाद की उथल-पुथल और संक्रान्ति के बीच ही रची गई थीं और वे सारी-की-सारी न 'रिपोर्टाज' हैं, न उन सब में 'नारे और भाषण' हैं, न 'आवेश, उत्साह और आग की लपटों के साथ-साथ अन्धाधुन्ध शब्दों का लावा फूटता' है और न उन कहानियों के 'हर दूसरे वाक्य में नया सूरज निकाल दिया जाता' है।) अपने अग्रजों के ही नहीं, अपने इतिहास की प्रगतिशील परम्परा के प्रति इस तरह का हिक़ारत भरा दृष्टिकोण 'दृष्टि' की स्वस्थता के दावों के बावजूद रुग्ण और आत्म-केन्द्रित बौद्धिकता का सूचक है। परम्परा को नकारने के लिए शब्दों की विचित्र जादूगरी से काम लिया गया। कहा गया कि पुरानी कहानी ने 'समूहगत सामाजिकता' को अभिव्यक्ति दी थी, किन्तु नई कहानी 'व्यक्तिगत सामाजिकता' को अभिव्यक्ति देने का अभूतपूर्व कार्य कर रही है। परिभाषा के और भी अनेक सूत्र गढ़े गये। एक स्वयं-सिद्ध तथ्य के रूप में यह मान लिया गया (या अवान्तर से 'पुरानी' कहानी पर यह आरोप लगाया गया—जिसमें प्रेमचन्द और यशपाल की ही नहीं, मोपासां, ओ'हेनरी, तॉलस्तॉय, चेखव, गोर्की, रवीन्द्र और शरत् आदि सभी पूर्ववर्ती कथाकारों की कृतियाँ शामिल समझी जानी चाहिए) कि 'पुरानी' कहानी फार्मूला-बद्ध कहानी थी, चरित्र-चित्रण, कथोपकथन, 'नाटकीय प्रारंभ, क्लाइमैक्स और अप्रत्याशित अंत' जैसे रूढ़ सांचों में ढली, साफ़-सुथरी, कटी-छंटी, वगैरह। (कितनी बुरी बात है!) और पुराने कथाकार? वे सबके सब एक 'आरोपित आदर्शवाद' को स्वीकार करके चलते थे, जिसके कारण वे पहले 'केन्द्रीय आइडिया' चुनते थे, बाद में उसको 'उद्घाटित' करने के लिए चरित्र-चित्रण, कथोपकथन आदि को 'आलम्बन-उद्दीपन' की तरह इस्तेमाल करते थे, या उस आइडिया के कंकाल पर हाड़-मांस थोपते थे। (कितने घटिया और

कला की रचना-प्रक्रिया से अनभिज्ञ थे वे सब !) और हर पुराने कथाकार का सबसे बड़ा क़सूर यह था कि वह 'अपने को समाज का नियामक, पथ-प्रदर्शक और भविष्य-द्रष्टा मानकर चलता था।' (कमलेश्वर) वह भोक्ता नहीं था, स्वयं 'अस्तित्व के संकट' को न झेलता था, न भोगता था, न उसकी 'रचना का बलाघात' (!) 'मनुष्य और उसकी परिस्थितियों' पर था, न 'उसकी रचना-दृष्टि का सीधा सम्बन्ध आसपास जीये जा रहे जीवन के साथ तथा जीवन की विडम्बनाओं और विभ्रमों को झेलते हुए व्यक्ति के साथ' था। (राकेश) इन सभी संकीर्णताओं से कहानी को मुक्ति दिलाने वाला 'नया कहानीकार', इसके विपरीत, 'व्यक्ति और उसके परिवेश के अन्दर से ही संवेदना और व्यंग्य के सूत्र उठाकर इन्हें कथा-खण्डों में बुन देता है।'

इस प्रकार आज की कहानी को व्यक्ति की कुण्ठाओं के यथातथ्यवादी (नेचुरलिस्टिक) चित्रण के मार्ग पर डाल कर, जिससे नई कहानी 'अंधेरे में एक चीख' मात्र बन गई और नया कहानीकार अस्तित्ववादी-दर्शन का विज्ञापक, 'नई कहानी' के मंच से एक 'विद्रोही' और 'बुतशिकन' के अन्दाज़ में कुछ कथाकारों ने अपनी और अपने मित्र वर्ग की दुन्दुभी कुछ ऐसे बेसुरे और फ़ूहड़ ढंग से बजाई कि उसकी तीव्र प्रतिक्रिया स्वाभाविक हो गई। 'आधुनिकता' और 'नयेपन' के ये दावे, और कथ्य और विचार-स्तर पर परम्परा और 'आरोपित आदर्शवाद' से 'नई कहानी' को मुक्त कर उसे एक नई विधा का रूप देने की ये गर्वोक्तियाँ असल उनके कृतित्व से पूरी तरह मेल नहीं खाती थीं, क्योंकि राकेश, कमलेश्वर या राजेन्द्र यादव अभी तक अपने पुराने, एक सीमा तक सामन्ती और पेटी-बुर्ज्वा संस्कारों से पूरी तरह मुक्ति नहीं पा सके हैं जो उनकी कहानियों में मानव-सम्बन्धों के चित्रण में अनिवार्यतः झलक आते हैं। दर असल उनमें 'आदर्शवाद' (या गहरे मानवतावादी दृष्टिकोण) से अधिक 'नई कविता' वालों जैसी 'आधुनिकता' का नकली भाव-बोध ही अधिक 'आरोपित' है, और उन्होंने जो 'अच्छी' कहानियाँ लिखी हैं वे 'नई' से अधिक शुद्ध 'फार्मूलाबद्ध' कहानियाँ ही हैं और जो नये मसनूई परिभाषा-सूत्रों (यानी नये फार्मूलों) के अनुसार लिखी गई कहानियाँ हैं, जैसे 'ग्लास टैंक' (राकेश) या 'टूटना' (राजेन्द्र यादव) वे या तो अधिकतर अस्वस्थ और घटिया क़िस्म की हैं या निहायत बोर, क्योंकि 'नेचुरलिज़्म' की पद्धति से फ्लाबेयर, ज़ोला या जेम्स ज्वायस और कामू की प्रतिभा का लेखक ही किसी कलात्मक कृति का निर्माण कर सकता है। यह कला-निर्माण का विपरीत-मार्ग है। इन सब बातों को ध्यान में रखकर ही शायद निर्मल वर्मा ने स्वीकार किया कि सही अर्थों में 'नई कहानी' तो अभी तक हिन्दी में लिखी ही नहीं गई—जो इस नाम पर लिखी जा रही हैं वे न 'नई' हैं न 'कहानी' हैं। उन्होंने यह भी दावा किया कि चूंकि कहानी की सभी सम्भावनाएँ चेखव एक्सप्लॉट कर चुके हैं, इसलिए अब कोई 'कहानी' वास्तव में 'नई' नहीं हो सकती। इस विवशता से मुक्ति पाने का एक ही मार्ग है कि कहानी की जगह 'अ-कहानी' (एण्टी कहानी) का विकास किया जाय। 'नई

कविता' की भी परिणति 'अ-कविता' में हुई थी और पाश्चात्य देशों में (विशेषकर फ्रान्स में) नाटक की परिणति भी 'अ-नाटक' (एण्टी थियेटर) में हो चुकी है और ये आन्दोलन कलात्मक चेतना के विघटन की लकीर छोड़ते हुए तीन-चार सालों में ही दम तोड़ चुके हैं। निर्मल वर्मा ने चाहे 'नई कहानी' के दावेदारों की विचारगत असंगतियों को सही क्यों न पकड़ा हो, लेकिन 'अ-कहानी' हमारे कथा-साहित्य की अगली विकास-दिशा निश्चय ही नहीं है।

अन्त में, हमें राकेश के मन की इस वेदना से हार्दिक सहानुभूति है कि अविश्वास के वातावरण में "व्यक्ति-व्यक्ति के स्तर पर साहित्यिक अभिसन्धियाँ जन्म लेने लगती हैं। प्रश्न, प्रश्न नहीं रह जाते, केवल अभिसन्धियों के आग्रह बन जाते हैं।" लेकिन इस स्थिति के लिए ज़िम्मेदार कौन है? कल के बुतकिशन मन्दिर में अपने बुत खड़े करके यह उम्मीद नहीं कर सकते कि उनके द्वारा तिरस्कृत उनसे अगली पीढ़ी के नौजवान लेखक अपने बुतों को स्थापित करने के लिए उनके बुतों को तोड़ना शुरू नहीं करेंगे। आज के प्रचार-युग में सभी शब्द के धनी हैं, डिमॉगॉजी और वाग्जाल का सभी इस्तेमाल कर सकते हैं। शब्दों का सतर्कता, गम्भीरता, सूक्ष्मता और ज़िम्मेदारी से प्रयोग करने का चलन नहीं रहा। तर्क और चिन्तन की वैज्ञानिक पद्धतियाँ (साहित्य और कला के क्षेत्र में, जहाँ आज आत्म-विज्ञापन अशोभन और अनैतिक नहीं समझा जाता) त्याग दी गई हैं। 'नई कहानी' के मंच को 'व्यक्ति-स्तर की अभिसन्धि' के रूप में परिणत करने वाले अन्य विचित्र नामों से जन्म लेने वाली 'व्यक्ति-व्यक्ति स्तर की अभिसन्धियों' पर क्षोभ तो प्रकट कर सकते हैं, लेकिन इस क्षोभ के लिए वे औचित्य कहाँ से जुटायेंगे? 'नई कहानी' अगर 'अन्धेरे में चीख़' थी, तो कोई दूसरी कहानी 'अन्धेरे में से निकलने की चीख़' होने का दावा कर सकती है। देखिए कितनी आसानी से 'बलाघात'(!) बदल गया? खैर जहाँ तक हिन्दी के प्रबुद्ध पाठकों और आधुनिक दृष्टि-सम्पन्न आलोचकों का सम्बन्ध है, उनकी नज़र में आज की कहानी, 'आज की कहानी' है, उसकी उपलब्धियाँ इन संकीर्ण आन्दोलनों और प्रत्यान्दोलनों से परे की वस्तु हैं। वे श्रेष्ठ कहानी को ही पसन्द करते हैं, चाहे वह यशपाल, अश्क, विष्णु, बेदी, कृशनचन्दर की लिखी हो या नई कहानी और सचेतन कहानी के मंचधारियों की या उन तरुण कथाकारों की, जो किसी भी गुट में शामिल नहीं हैं।

शिवदानसिंह चौहान



राजकमल प्रकाशन की नई पुस्तकें

- ***साहित्यिक निबन्ध*** **: डॉ० लक्ष्मीनारायण सुधांशु**

बहुत अरसे के बाद सुधांशुजी के साहित्य और समीक्षा से सम्बन्धित निबन्धों का नया संकलन प्रकाशित हो रहा है।

अक्तूबर '६४ में प्रकाश्य।

- ***रेखा*** **: श्री भगवतीचरण वर्मा**

मानव-मन के रहस्यों का उद्घाटन करने वाला, वर्माजी का नवीनतम उपन्यास जो पाठक को बरबस अपने सम्मोहन में बाँध लेगा।

अक्तूबर '६४ में प्रकाश्य।

- ***अंग्रेज़ी-हिन्दी कोश*** **: रेवरेण्ड फ़ादर सी० बुल्के**

अब तक के प्रकाशित सब अंग्रेज़ी-हिन्दी कोशों से अधिक उपयोगी और प्रामाणिक। वर्षों के श्रम और अध्यवसाय का परिणाम।

प्रेस में।

- ***मानविकी पारिभाषिक कोश*** **: प्रधान सम्पादक डॉ० नगेन्द्र**

तीन खण्ड दिसम्बर '६४ तक प्रकाश्य।

साहित्य खण्ड : डॉ० नगेन्द्र
दर्शन खण्ड : डॉ० वी० एस० नर्वणे
मनोविज्ञान खण्ड : डॉ० पद्मा अग्रवाल



राजकमल प्रकाशन

दिल्ली-६ • पटना-६

श्री ओंप्रकाश, मैनेजिंग डाइरेक्टर, राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लि०, ८ फ़ैज़ बाज़ार, दिल्ली के लिए श्री सत्यप्रकाश गुप्ता द्वारा नवीन प्रेस, दिल्ली में मुद्रित ।